स्थापित – 1992

श्री उत्कर्ष

I.A.S

हिन्दी माध्यम का अप्रतिम संस्थान

हिन्दी साहित्य

(प्रथम प्रश्न–पत्र)

(खण्ड " ख ")

आधुनिक काल

1425, औट्रम लाइन, बी. बी. एम डिपो के सामने

किंग्जवे कैम्प, दिल्ली – 110009

Ph : 27659400, 9868448606

" श्री उत्कर्ष I.A.S "

हिन्दी साहित्य (प्रथम प्रश्न-पत्र)

(खण्ड " ख ")

आधुनिक काल

1.	आधुनिकता, नवजागरण	1 - 15
2.	भारतेन्दु युग	15 - 20
3.	द्विवेदी युग	20 - 25
4.	छायावाद	25 - 56
5.	प्रगतिवाद	56 - 59
6.	प्रयोगवाद	60 - 69
7.	नयी कविता की विशेषताएँ	69 - 75
8.	नयी कविता	75 - 77
9.	अकविता एवं जनवादी कविता	77 - 88
10.	हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास एवं प्रमुख नाटककार	89 - 116
11.	हिन्दी रंगमंच	117 - 121
12.	हिन्दी आलोचना का विकास	122 - 124
13.	शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना	124 - 133
14.	मार्क्सवादी आलोचना	134 - 137
15.	नयी समीक्षा	138 - 145
16.	आलोचक डॉ० राम विलास शर्मा	145 - 149
17.	आधुनिक उपन्यास और यथार्थवाद का आविर्भाव	150 - 162
18.	हिन्दी कहानी का विकास	162 - 172
19.	नवगीत : स्वरूप तथा प्रवृत्तियाँ	172 - 188
20.	अद्यतन नाटक	189 - 194
21	अद्यतन कहानी	195 - 200
22.	अद्यतन उपन्यास	200 - 203
23.	अद्यतन निबन्ध	204 - 210
24.	अद्यतन आलोचना	210 - 217

में एक विशेष प्रकार का अमूर्तन मध्यकाल में दिखाई देता है। आधुनिक काल में सत्य के स्थान पर यथार्थ शब्द के प्रयोग का प्रचलन शुरू होता है। सत्य में अमूर्तन का भाव ज्यादा है। यथार्थ मनुष्य के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संबंधों का समुच्चय है। इसलिए रचनाकार की चिंता सत्य की नहीं, बल्कि यथार्थ की है। मनुष्य के जीवन के यथार्थ को आधुनिक काल चिंतन के अमूर्तन में नहीं बल्कि उसके राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रसंगों के माध्यम से समझता है। एक प्रसंग विशेष है। 1882 में अंग्रेजी ढंग का पहला उपन्यास प्रकाशित हुआ 'परीक्षा गुरू'। यह श्रीनिवास दास का उपन्यास है। इस उपन्यास में एक पात्र के द्वारा एक सवाल है – **प्रमाणिक मनुष्य किसे कहते हैं ?** इसके दो उत्तर दिए गए हैं। प्रमाणिक मनुष्य वह है जो देशी और विदेशी का फर्क जानता है और जिसे अपनी आमदनी और खर्च के अनुपात का ज्ञान है। यहां देशी और विदेशी का जो संदर्भ है वह राजनीतिक है। धर्म में कोई देशी विदेशी नहीं होता और आमदनी और खर्च का जो संदर्भ है उसका अर्थ है अब प्रमाणिक मनुष्य की व्याख्या आर्थिक और राजनीतिक संदर्भ में ही संभव हो सकती है। समाज का कोई यथार्थ व्यक्ति का कोई भी यथार्थ राजनीति और अर्थ के माध्यम से व्याख्यायित होगा।

मध्यकाल में मनुष्य की प्रामाणिकता की व्याख्या धर्म और दर्शन के आधार पर होती थी। सत्य क्या है, जीवन की सार्थकता क्या है, मनुष्य होने का अर्थ क्या है; इन तमाम प्रश्नों के उत्तर या तो दर्शन में थे या धर्म में थे। धर्म और दर्शन जीवन को संचालित करने वाले अनुशासन थे। आधुनिक काल मानता है कि जीवन का संचालन अर्थ और राजनीति से होगा। इसलिए मार्क्स ने एक स्थान पर कहा है कि 'राजनीति मनुष्य की नियति है।' इसलिए मनुष्य की मुक्ति और उसकी पराधीनता या दोनों स्थितियां राजनीतिक हैं। पराधीनता से मुक्ति की प्रक्रिया राजनीतिक प्रक्रिया होगी।

राजनीति सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और समूची राजनीतिक प्रणाली समूचे विश्व की अर्थ संरचना पर आधारित होती है। इसलिए मार्क्सवाद में इसकी विशद व्याख्या है और इस स्थापना को बहुत गौर से देखने की जरूरत है, जिसमें मार्क्स ने कहा कि बेस स्ट्रक्चर पर ही सुपर स्ट्रक्चर आधारित होता है। बेस स्ट्रक्चर का अर्थ बताया अधि–संरचना। मार्क्स ने कहा कि आर्थिक संरचना का अर्थ है उत्पादन संबंध। किसी भी व्यवस्था के उत्पन्न संबंधों से उसकी अर्थ संरचना के अनुसार समाज की सभी प्रणालियां और विश्वास निर्धारित होते हैं।

आधुनिक काल

आधुनिकता, नवजागरण, भारतेन्दु युग एवं द्विवेदी युग

किसी भी समाज के आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध जब बदलते हैं तब मनुष्य की चेतना में परिवर्तन घटित होता है। चेतना में परिवर्तन के प्रामाणिक आधार मनुष्य के सामाजिक आर्थिक संबंध हैं। जब ये संबंध परिवर्तित होते हैं तो उस परिवर्तन की छाया कविता की प्रकृति पर, उसकी भाषा पर, उसके स्वरूप पर पड़ती है।

मध्यकाल ईश्वर केन्द्रित जीवन दर्शन से संचालित है। आधुनिक काल ईश्वर की केन्द्रीयता का विकल्प खोजता है और ईश्वर के स्थान पर मनुष्य को प्रतिष्ठित करता है। इसलिए ईश्वर को अपदस्थ करके उसके स्थान पर मनुष्य की केन्द्रीयता आधुनिकता का पहला अभिलक्षण है। भक्ति काव्य की जितनी भी धाराएं हैं : सगुण, निर्गुण, ज्ञानाश्रयी, प्रेमाश्रयी, कृष्ण काव्यधारा, राम काव्य धारा, इन सभी काव्यधाराओं के केन्द्र में ईश्वर है। उसकी प्रकृति में भिन्नता हो सकती है, लेकिन ईश्वर केन्द्र में है और मानवीय जीवन की सार्थकता को ईश्वर के संदर्भ में ही परिभाषित किया जा सकता है। आधुनिक युग ईश्वरोन्मुख सार्थकता की अवधारणा को अस्वीकार कर देता है। इसलिए मध्यकाल में जीवन का एक सूत्र अदृश्य से बंधा हुआ है। इस अदृश्य सूत्र को आधुनिकता समेट देती है और वह मानवीय अस्तित्व को सामाजिक, राजनीतिक संदर्भों में ही व्याख्यायित करती है। इस प्रकार ईश्वर की केन्द्रीयता के अपदस्थ हो जाने के परिणामस्वरूप आधुनिकता या आधुनिक युग, अवतारवाद और लीलावाद के विश्वास को भी अस्वीकार कर देता है। मनुष्य केन्द्रित जीवन दृष्टि पर आधारित होने के कारण आधुनिकता समूचे लीलावाद और अवतारवाद को निरस्त करती है। मैथिलीशरण गुप्त की एक पंक्ति है : "संदेश यहां पर नहीं स्वर्ग का लाया, धरती को ही स्वर्ग बनाने आया।" स्वर्ग कहीं अलग नहीं होता। मनुष्य के जीवन की वैयक्तिक अथवा सामाजिक सार्थकता इस बात में है कि वे धरती को स्वर्ग बना दें। इसलिए मोक्ष और मुक्ति की अवधारणा आधुनिक भावबोध में निरर्थक हो जाती है।

मध्यकाल या मध्यकालीन चिंतन में एक तीसरी प्रवृति या चेतना सत्य की अवधारणा से जुड़ी हुई है। यह सत्य अज्ञात ही नहीं बल्कि अज्ञेय भी है। अज्ञेय का अर्थ होता है जिसे जाना न जा सके। वह अस्तित्व में है और अस्तित्व से परे भी है। इसलिए सत्य की अवधारणा

इसलिए उत्पादन संबंध मानवीय श्रम निर्धारित कर रहा है तो एक तरह की समाज व्यवस्था होगी, एक तरह की राजनीतिक प्रणाली होगी, एक तरह के धर्म और विश्वास होंगे और कल्पना कीजिए कि अगर उत्पादन संबंध को मानवीय श्रम के स्थान पर मशीन नियंत्रित करती है तो दूसरी तरह का समाज बनेगा जिसे उसने कैप्टेलिज्म कहा है। सामंतवाद और पूंजीवाद का बुनियादी फर्क है – सामंतवाद में श्रम पर मशीन का नहीं बल्कि श्रम पर मनुष्य का नियंत्रण है। मानवीय श्रम निर्णायक है। पूंजीवाद में मानवीय श्रम के स्थान पर मशीन की भूमिका निर्णायक हो जाती है। शायद मार्क्स ने यह कल्पना नहीं की होगी कि एक दिन कम्प्यूटर भी आएगा, जिसमें मशीन भी पीछे छूटेगी और तब तीसरे तरह का आर्थिक संबंध बनेगा। यह मार्क्स से थोड़ा आगे की स्थिति है।

दुनिया में पूंजी उनके पास सबसे ज्यादा है जो किसी भी स्तर पर उत्पादन कार्य से जुड़े हुए नहीं हैं, जिनके पास कोई मील नहीं है, जिनके पास कोई कारखाना नहीं है। बिल गैट्स के पास कोई कारखाना नहीं है लेकिन वह सबसे ज्यादा पैसे वाला है। यह एक तीसरी स्थिति है जो उस समय सोची नहीं जा सकती थी। लेकिन जो बीच का कारपोरेट सैक्टर है वह इतना अधिक निर्णायक हो गया कि पूंजी उसके पास है जिनके पास कारखाना नहीं है, जो उत्पादन से भी जुड़े हुए नहीं हैं। इन स्थितियों की और इन पेचीदगियों की कल्पना हमने नहीं की होगी कि यहां पर टेक्नालॉजी इस स्तर पर आ सकती है। मानवीय श्रम और मशीनी श्रम से आगे भी एक तीसरी स्थिति पैदा हो जायेगी। इसलिए 'कौन बनेगा करोड़पति' में अगर आप एक करोड़ जीत लेते हैं तो उस तंत्र में आप किसी का शोषण नहीं करते। बाजार की एक अजीब स्थिति है जिसमें आप किन्हीं तीसरे कारण से बहुत समर्थ हो सकते हैं। लेकिन यह ऐसा भी नहीं है कि इसे मार्क्सवाद के द्वारा व्याख्यायित नहीं किया जा सका। इसके बहुत गहरे सूत्र हैं क्योंकि मार्क्सवाद ने कोई आप्त वाक्य नहीं कहा, उसके भीतर उसकी व्याख्या की बहुत संभावनाएं मौजूद हैं। तो आधुनिकता इस बात की स्थापना करती है या इस बात को स्वीकार करती है कि आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था ही समाज के यथार्थ और मनुष्य को व्याख्यायित करने के माध्यम होंगे। इसलिए चाहे वह वैश्विक संबंध हों या राष्ट्रीय संबंध हों, एक राज्य और दूसरे राज्यों के संबंध हो, यहां तक कि पारिवारिक संबंधों को भी इसी संदर्भ में समझा जा सकता है। इस तरह से धर्म और दर्शन को हटा कर यथार्थ की व्याख्या के नये उपकरणों का आविष्कार आधुनिकता शुरू करती है और ये नये उपकरण हैं राजनीति और अर्थ।

आधुनिक भाव बोध को संभव बनाने वाले तीन विचारकों की भूमिका निर्णायक मानी जाती है – डार्विन, मार्क्स और फ्रायड। इन तीनों के चिंतन ने ईश्वर, धर्म और दर्शन की भूमिका को निष्प्रभावी कर दिया। ..... 'द ओरीजन ऑफ एसपाइसिज' डार्विन की किताब है। उसमें बहुत सारी स्थापनाएं हैं, लेकिन उसकी मूल स्थापना यह है कि सृष्टि का निर्माण किसी एक घटना, एक व्यक्ति या एक सत्ता से जुड़ा हुआ नहीं है। समूची सृष्टि विकास का परिणाम है और अमीबा से भी पहले से शुरू करता है जहां धर्म का अस्तित्व नहीं है। धरती के अस्तित्व से लेकर और धरती पर प्राणियों के उत्पन्न होने की और फिर मनुष्य के उत्पन्न होने की एक पूरी प्राकृतिक प्रक्रिया का तथ्यपूर्ण विश्लेषण डार्विन प्रस्तुत करते हैं। उस विश्लेषण ने कुछ ऐसी स्थापनाएं कीं जिन स्थापनाओं ने मध्यकाल की समूची संरचनाओं को लगभग ध्वस्त कर दिया। उसमें दो चीजें बहुत निर्णायक रहीं। पहला तो उसने 'आनुवंशिकता का सिद्धान्त' दिया। यह एक जैविक अनुशासन है जो वंश परम्परा में जीवित रहती है। इसमें कहीं ईश्वर की कोई भूमिका नहीं है। इसलिए बच्चे का रंग, उसकी आवाज, उसकी बीमारी, उसका स्वभाव बहुत हद तक अपनी रक्त परम्परा से ग्रहण करता है। अब पता चलता है कि कई ऐसे रोग हैं जो जैनेटिक होते हैं।

दूसरा उसने 'सर्वाइवल ऑफ द फिटेस्ट' का सिद्धांत दिया। जो समर्थ है, परिवर्तन की प्रक्रिया में वही बचा रह सकता है। इसलिए पाप और पुण्य, ईश्वर, नैतिकता ये सभी शब्द खत्म हो गए और उसने कहा कि जीवित रहने के लिए जो शक्तिशाली है वह कमजोर को मार डालेगा। इसे 'मत्स्य न्याय' हमारे यहां कहा गया है। मत्स्य न्याय का एक ही अर्थ होता है कि अपने जीवन की सुरक्षा के लिए हम दूसरों पर आश्रित होते हैं, दूसरों को मार सकते हैं। इसलिए जो शक्तिशाली है वह दूसरों की कमजोरी पर जीवित रहता है। इसलिए मध्यकाल ने पूरी दुनिया में नैतिकता के और मूल्यों के जो ढांचे बनाए थे जिसमें ईश्वर और धर्म को शामिल किया गया था, डार्विन ने उसको तर्क से निरस्त कर दिया। मध्यकाल के विश्वासों को बड़ा झटका इस सिद्धांत से लगा। डार्विन ने कहा कि कहीं कोई ऐसी संचित ताकत नहीं होती बल्कि प्रकृति का नियम है और उसी नियम के आधार पर विकास हो रहा है और परिवर्तन हो रहा है।

मार्क्स को वस्तुवादी चिंतक कहा जाता है। डार्विन की कई प्रेरणाएं उसमें हैं लेकिन मार्क्स का ध्यान अलग है। मार्क्स ने कहा कि मनुष्य के जीवन को वैयक्तिक और सामाजिक

स्तर पर उसकी आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्थाओं से व्याख्यायित किया जा सकता है। इसलिए मनुष्य की परिस्थितियों की जवाबदेही आर्थिक सामाजिक व्यवस्था पर है तथा इसमें कोई और दूसरे तत्व शामिल नहीं हैं। उसने कहा कि इतिहास में दो ही तत्व हमेशा से मौजूद रहे हैं एक शोषक और एक शोषित।

इन दोनों में संघर्ष रहता है यह संघर्ष ही इतिहास की गति और दिशा को निर्धारित करता है। इसलिए कम्यूनिस्ट मैनिफैस्टो में जो बात लिखी वह काफी चर्चित हुई कि मानव सभ्यता का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। जो सभी तरह के विश्वास हैं, जीवन पद्धतियां हैं, वे वर्गीय होती हैं, कोई समष्टिगत और सार्वभौमिक चीज नहीं होती। इसलिए राजनीतिक और आर्थिक संदर्भों में मनुष्य के जीवन का समूचा इतिहास सुरक्षित है और मनुष्य की मुक्ति एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में है जिसमें संपत्ति पर कोई वैयक्तिक अधिकार नहीं होगा। अगर सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार का कोई भी प्रावधान शेष है तो मनुष्य की मुक्ति नहीं है। इसलिए आर्थिक समानता को उसने मनुष्य के मोक्ष के रूप में देखा और इस आर्थिक समानता वाली दशा को उसने साम्यवाद कहा क्योंकि सोशलिज्म, कम्यूनिज्म की पृष्ठभूमि है।

तीसरे फ्रायड हैं। मार्क्स ने मनुष्य को बाहरी संरचना में समझने की कोशिश की और फ्रायड ने उसे नितान्त आंतरिक संरचना में। पेशे से साइकैट्रिस्ट होने के नाते उसने अपने सभी प्रयोग मनोरोगियों पर किए और प्रयोगों के बाद उसने निष्कर्ष निकाले कि आदमी के मन की तीन परतें होती हैं। कौंसियस (चेतन), सब–कौंसियस (उपचेतन) और अनकौंसियस (अवचेतन)। यह सिद्ध किया कि आदमी का जो अवचेतन है वह कुंठाओं से भरा हुआ है। इसलिए अवचेतन ही मनुष्य के जीवन को संचालित करता है। इसलिए मनुष्य के जीवन को धर्म नहीं, अर्थ नहीं, राजनीति नहीं, बल्कि अवचेतन उसका संचालन करता है। वह अवचेतन अनेक प्रकार की कुंठाओं से भरा हुआ है और उसमें सबसे महत्वपूर्ण कुंठा है सैक्स। इसके कारण उसने बताए कि मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों में से सिर्फ सैक्स है जिस पर दुनिया के सभी समाजों ने प्रतिबंध लगाया है। बाकियों पर प्रतिबंध नहीं लगाया गया। इस प्रतिबंध के कारण सैक्स अन्तर्मुखी हो गया और मनुष्य के बाहरी व्यवहारों और आन्तरिक व्यवहारों में एक पर्दा पड़ गया। इसलिए मनुष्य की बाहरी व्यवस्था, जो बिल्कुल धार्मिक मनुष्य की तरह दिखाई पड़ रहा था, जिसे हम नैतिकता कहते हैं समाज के द्वारा दिया गया शब्द है।

आधुनिक काल में भी हम बहुत दिनों तक कहते थे कि 'उसका चरित्र खराब है' तो इसका अर्थ यह नहीं होता था कि वह बहुत घूस लेता है। चरित्र के अच्छा और खराब होने का सम्बन्ध उसके काम संबंधों से जुड़ा होता था। कोई आदमी अच्छा है या बुरा, उसका एक ही पैमाना था काम संबंधों को लेकर उसका व्यवहार किस तरह का है। फ्रायड ने कहा कि चूंकि बेहद बुनियादी प्रवृत्ति पर धर्म ने बिल्कुल शुरू से प्रतिबंध लगाया, इसलिए, प्रतिबंध से चूंकि प्रवृत्ति खत्म नहीं हो सकती, अन्तर्मुखी हो गई और इस अन्तमुर्खता ने मनुष्य के जीवन में द्वैत पैदा किया। इसलिए जो दिखाई पड़ता था वह कुछ और होता था और जो होता था वह कुछ और होता था। मनुष्य का व्यक्तित्व दो भागों में बंट गया। इसलिए मनुष्य का सच वह नहीं हो सकता जो दिखाई देता है। मनुष्य के सच को जानने के लिए हमें उसके अवचेतन में उतरना पड़ेगा।

इसलिए रचना कर्म के पीछे भी कोई न कोई काम की प्रेरणा है। फ्रायड की स्थापनाओं से सहमति, असहमति की एक लम्बी परम्परा मनोविज्ञान में है, लेकिन ये बातें तहलका मचा देने वाली स्थापनाएं थीं। उसने कहा कि रचना कामजनित अतृप्ति की पूर्ति का माध्यम है। एक तरफ से सृजनात्मकता काम चेतना को उदात्त बनाने की एक प्रविधि है। ऐसी स्थिति में कम से कम काम चेतना को लेकर जो मध्यकाल में निवृत्ति की अवधारणा थी उस अवधारणा को फ्रायड के चिंतन से बहुत गहरा झटका लगा क्योंकि उसने कहा कि कामचेतना किसी भी नैतिकता से बड़ी है।

हिन्दी में जब यह प्रभाव आया तो मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की एक धारा चल पड़ी। उस दौर में बहुत चर्चित भगवती चरण वर्मा का एक उपन्यास आया था और उस पर फिल्म भी बनी थी 'चित्रलेखा'। उसमें एक संन्यासी है जो स्त्री को देखना नहीं चाहता। स्त्री है जो विश्वास करती है कि कितना भी संन्यासी हो, लेकिन एक यह काम की प्रवृत्ति उसके भीतर मौजूद है। स्त्री और पुरुष की इस लड़ाई में अंततः वह सच बाहर आता है और वह अपने को समर्पित कर देता है।

हालांकि हमारी मीमांसा में ब्रह्मचर्य का जो मूल अर्थ है वह सैक्स से जुड़ा हुआ नहीं है। यह भी हैरान करने वाली बात है। ब्रह्मचर्य का अर्थ होता है, ऐसा आचरण जो ब्रह्म की तरफ जाता हो। यानी बहुत बड़े विराट लक्ष्य के लिए जब आप अपने आचरण को निर्धारित करते हैं तो उस जीवन पद्धति को हम ब्रह्मचर्य कहते हैं। इस तरह से पवित्रता और नैतिकता

की जिस अवधारणा को मध्यकाल ने निर्मित किया था फ्रायड के 'साइकोइनेलेसिस' (किताब का नाम) ने इसको पूरी तरह से ध्वस्त कर दिया।

अंतिम धक्का नित्से के इस कथन से लगा कि ईश्वर मर गया है। यह वह पृष्ठभूमि थी जिसने आधुनिक भाव बोध की चेतना और तर्क प्रणाली को एक ठोस आधार दिया है। इस आधुनिक भाव बोध का विश्वव्यापी प्रसार हुआ। धीरे धीरे और इस आधुनिक भाव बोध की शुरूआत सामाजिक चिंतन में और साहित्य में 19वीं शताब्दी में होती है। इसलिए हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल पर जब हम बातचीत करते हैं तो उसमें तिथि या एक समय निर्धारित कर देते हैं। क्योंकि इतिहास में समय का सगुण होना बहुत जरूरी है।

दरअसल जो इतिहास है वह स्वयं में सगुण की यात्रा में जीवित रहता है। इतिहासकारों ने कहा कि हिन्दी में आधुनिक काल का सूत्रपात 1857 से माना जाना चाहिए। हालांकि भारतेन्दु का जन्म 1850 में हुआ है और भारतेन्दु आधुनिक काल के सबसे प्रमुख रचनाकार, चिंतक और पत्रकार हैं। लेकिन कुछ कारणों से 1857 को माना गया। पहला कारण तो यह माना गया कि 1857 पूंजीवाद और साम्राज्यवाद बनाम सामंतवाद की मुठभेड़ का वर्ष है। सामंतवाद और पूंजीवाद के इस संघर्ष में सामंतवाद की पराजय होती है और पूंजीवाद साम्राज्यवाद के माध्यम से अपनी सत्ता को स्थापित करता है। इसलिए एक पूंजीवादी व्यवस्था का प्रस्थान के वर्ष होने के नाते 1857 आधुनिक काल का प्रस्थान बिन्दु मान लिया गया है। लेकिन आधुनिकता की यह प्रक्रिया 1857 से पहले से शुरू हो गई थी।

इसलिए आधुनिक भाव बोध की संगठित अभिव्यक्ति नवजागरण के माध्यम से हुई। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि विश्व चिंतन के माध्यम से जो आधुनिक स्थापनाएं अस्तित्व में आईं उनकी पहली अभिव्यक्ति 19वीं शताब्दी में नवजागरण के माध्यम से हुई। इसलिए भारतीय आधुनिकता को नवजागरण की चेतना अभिव्यक्ति देती है। जो पूरा आधुनिक भाव बोध है, आधुनिक विचार सरणियां हैं वे नवजागरण के माध्यम से व्यक्त हुई हैं। इसलिए नवजागरण भारतीय चिंतन के आधुनिक मोड़ की अभिव्यक्ति है। यहीं से भारतीय चिंतन में आधुनिक भाव बोध के दर्शन शुरू होते हैं।

नवजागरण परम्परा और संस्कृति को वैज्ञानिक तर्क विधान और सामाजिक राजनीतिक अभिप्रायों से जोड़ने वाली चेतना है। शायद यही कारण है कि नवजागरण में एक भी ऐसा चिंतक नहीं है जो अवतारवाद और मूर्ति पूजा का समर्थन करता हो। दयानन्द सरस्वती ने जब

वेदों की व्याख्या की तो उस पर वैज्ञानिक तर्कवाद का निर्णायक प्रभाव दिखाई देता है। आस्था के स्थान पर तार्किकता को अधिक विश्वसनीय मानते हुए उन्होंने वेदों की वैज्ञानिक व्याख्या की। नवजागरण का समूचा बल राजनीतिक अभिप्रायों पर है। दयानन्द सरस्वती का भी जो समूचा बल है वह हमारी परम्परा, सामाजिक संरचना के संशोधन पर उसके ढांचे के बदलावों पर एक नई प्रकार की प्रक्रिया के निर्माण पर है।

वरिष्ठतम चिंतक राजाराम मोहन राय माने जाते हैं। ब्रह्म समाज की स्थापना के द्वारा उन्होंने सामाजिक विश्वासों में भी एक प्रकार से हस्तक्षेप किया। सती प्रथा पर प्रतिबंध लगवाया। इसलिए नवजागरण की जो मूल चिंता है वह धार्मिक नहीं है। नवजागरण की मूल चिंता सामाजिक है और यह सामाजिकता अमूर्त नहीं है। इस सामाजिकता को परम्परा, स्त्री पुरुष संबधों, वर्ण व्यवस्था इत्यादि में देखा जा सकता है। यह नवजागरण की चेतना क्यों उत्पन्न हुई ? नवजागरण की चेतना के उत्पन्न होने का कारण भी ईश्वरीय नहीं है। हिन्दी के इतिहास में नवजागरण के उत्पन्न होने के कारणों की अलग अलग व्याख्या मिलती जरूर है, लेकिन ये सभी कारण लौकिक भाव बोध से जुड़े हुए हैं।

पश्चिमी चिंतकों की धारणा है कि नवजागरण की चेतना का सूत्रपात सीधे सीधे पश्चिम के प्रभाव का परिणाम है। क्योंकि पश्चिम का ज्ञान विज्ञान, उसके चिंतन उसकी तर्क प्रणाली से जब हिन्दुस्तान के लोग अवगत हुए तो उन्होंने अंधविश्वास, जड़ता और यथास्थितिवाद में डूबे हुए समाज को बाहर निकालने की कोशिश की, रोशनी देने की कोशिश की। लेकिन भारतीय चिंतकों की यह मान्यता है कि नवजागरण वस्तुतः पश्चिम और पूर्व की टकराहट का परिणाम था और ज्ञान और विवेक के नये आलोक में अपने सांस्कृतिक और जातीय अस्मिता की व्याख्या थी नवजागरण की चेतना। इसलिए नवजागरण वस्तुतः दो तरह की संस्कृतियों के टकराव का परिणाम था।

नवजागरण की प्रक्रिया के तीन क्षेत्र तो बहुत स्पष्ट हैं -- बंगाल का नवजागरण, महाराष्ट्र का नवजागरण और फिर हिन्दी क्षेत्र का। हिन्दी क्षेत्र का जो नवजागरण है उस नवजागरण में जातीय अस्मिता के साथ साथ इतिहास की पुनर्व्याख्या का प्रश्न भी बहुत महत्वपूर्ण है। इसलिए तीन बातें साफ तौर पर नवजागरण के संदर्भ में देखी जा सकती हैं। इसमें पहली है, इतिहास की पुनर्व्याख्या। इतिहास की पुनर्व्याख्या के दबाव के परिणामस्वरूप भारतेन्दुकाल में अनेक ऐसे नाटकों की रचना हुई जिनका विषय इतिहास है।

'नीलगिरि' इसमें सबसे महत्वपूर्ण नाटक माना जाता है। इस नवजागरण में इतिहास को कैसे ग्रहण किया गया है यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। इसमें इतिहास के प्रति एक भाववादी दृष्टि है। इतिहास भारतीय अस्मिता के गौरव का पर्याय, है। इसलिए इतिहास ऊर्जा का स्रोत है और अपनी श्रेष्ठता के बोध का भी। इसलिए इतिहास के माध्यम से ही एक पूरे समाज और जाति को हीनता की ग्रन्थि से मुक्त किया जा सकता है। ऐसा विश्वास नवजागरण के बोध में दिखाई देता है।

इतिहास को लेकर जो आधुनिक काल में आधुनिक सजगता दिखाई पड़ती है वह कारण नहीं है क्योंकि साम्राज्यवाद यह मान कर चल रहा था कि इतिहास की मनचाही व्याख्या के द्वारा ही एक उपनिवेश की स्मृति को और उसके आत्मविश्वास को ध्वस्त किया जा सकता है। दूसरी तरफ जो भारतीय चिंतन-परम्परा के लोग थे वे कह रहे थे कि इतिहास की सुरक्षा, स्मृति की सुरक्षा है, संस्कृति की सुरक्षा है। इतिहासबोध ही हमें स्वाधीनता या स्वतंत्रता की तरफ ले जा सकता है, हमें संघर्ष की शक्ति दे सकता है। इसलिए बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय ने एक स्थान पर लिखा है कि 'इतिहास का ज्ञान ही किसी जाति का आत्म ज्ञान है।' इसलिए इतिहास की सुरक्षा अनिवार्य है। जाति की स्मृति को और उसकी अस्मिता को बचाए रखना है।

इतिहास की पुनर्व्याख्या के प्रसंग में ही बहुत सारे ऐतिहासिक नाटकों का सूत्रपात भारतेन्दु युग में सम्भव हो पाता है और यह प्रक्रिया यहीं तक थमती नहीं है। यह सीधे प्रसाद युग तक आती है। प्रसाद के सभी नाटक ऐतिहासिक हैं और इन नाटकों के आधार पर ही प्रसाद यह कह सकते थे 'जीयें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष। निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।' और यह प्यारा भारतवर्ष कैसा है? 'चन्द्रगुप्त' में कारनेलिया एक गीत गाती है 'अरुण यह मधुमय देश हमारा जहां पहुंच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।' स्कन्दगुप्त में – 'हिमालय के आंगन में प्रथम किरणों का दे उपहार, उषा ने हंस अभिनंदन किया और पहनाया हिरक हार।' धूप की पहली किरण, ज्ञान की पहली किरण जिसके आंगन में उतरती है वह देश भारत है। 'जगे हम लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक।' पहले हम जगे और इस तरह से हमने दुनिया को जगाया। प्रकाश को बांध कर सीमित नहीं रखा, नींद में डूबी हुई समूची दुनिया को जगाने का हमने काम किया। अपने वर्तमान की बेहद त्रासद दुर्दशा से इतिहास के गौरव के माध्यम से ही लड़ा जा सकता

था। इसलिए प्रसाद के नाटक भारतीय इतिहास के स्वर्ण काल को अपनी रचना का विषय बनाते हैं।

तुलसीदास कई बार इतिहास का प्रयोग तो करते हैं लेकिन इतिहास से कोई ऐसी रचना बनाई हो यह प्रवृत्ति कहीं भी दिखाई नहीं देती। यह नवजागरण की चेतना या आधुनिक भाव बोध का प्रभाव है कि इतिहास इतना महत्वपूर्ण हो उठता है। इतिहास को ऊर्जा के स्रोत के रूप में नवजागरण और इस समय का साहित्य ग्रहण करते हैं। इसलिए ऐसे व्यक्तित्वों की परिकल्पना की गई जिस पर कोई भी समाज और जाति गर्व कर सकती है। उसमें बड़ा महत्वपूर्ण चरित्र है चाणक्य। इसलिए एक समग्र राष्ट्र की अवधारणा की परिकल्पना प्रसाद चन्द्रगुप्त में करते हैं। चन्द्रगुप्त की वास्तविक चिंता प्रांतों, जातियों और क्षेत्रों में बंटा हुआ जो देश है, उसको एक में जोड़ने की है। इसलिए इतिहास राष्ट्रीय चेतना का वाहक बना।

फिर इस इतिहास के साथ सामाजिक आत्मिक मंथन की चेतना भी, जो नवजागरण की विशेषता कही जा सकती है। यानी परम्परा के अंधकार पक्ष से मुठभेड़। कोई भी जाति अथवा कोई समाज अगर अपनी नकारात्मक स्थिति को देखने की शक्ति और क्षमता खो देता है तो वह जड़ और पतनशील हो जाता है।

कुछ विचारकों की यह मान्यता है कि आधुनिक भाव बोध के केन्द्र में वर्तमान है और वर्तमान है भारत दुर्दशा। आत्म मंथन, यानी अपनी सीमाओं, अपनी सामाजिक विसंगतियों और विडम्बनाओं की पहचान। यह नवजागरण की चेतना का दूसरा प्रभाव है जो हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के प्रस्थान बिन्दु पर दिखाई देता है। इसलिए भारतीय समाज व्यवस्था की जो विसंगतियां और कमियां हैं उन विसंगतियों और कमियों की तरफ रचनाकारों का ध्यान गया और यही कारण है कि अधिकतर सामाजिक साहित्य के केन्द्र में स्त्री है।

हिन्दू परम्परा और हिन्दी संस्कृति की अनेक विसंगतियां हैं। स्त्री को लेकर भारतीय समाज की जो सोच है और भारतीय समाज की जो स्थापनाएं हैं, मान्यताएं और संस्कार हैं, उन मान्यताओं, संस्कारों और विचारों पर पुनर्विचार की प्रक्रिया का आरम्भ नवजागरण में भी और साहित्य में भी होता है। इसलिए 'दुखनी बाला', 'विधवा विलाप' जैसी रचनाओं की सृष्टि सम्भव हुई। भारत की धार्मिक परम्परा में जो उपलब्ध विकृतियां हैं इन विकृतियों पर भारतेन्दु ने एक नाटक लिखा 'विषस्य विषमौषधम' और एक दूसरा नाटक उन्होंने लिखा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।' धर्म के नाम पर चलने वाले पाखंड या प्रभु वर्ग के साथ जो धर्म की अभिसंधि

है, धर्म को वह परिभाषित करता है जो शक्तिशाली है। जो शक्तिशाली है वह मांस खाकर भी पुण्यात्मा हो सकता है क्योंकि धर्म में इस तरह की व्यवस्था कर दी गई है।

अगर कोई कमजोर ऐसा कृत्य करेगा तो उस कृत्य को अधार्मिक कहा जा सकता है और अगर वही कृत्य शक्तिशाली करे तो धार्मिक कहा जा सकता है। इसकी चर्चा सामान्यतः इस युग के रचनाकारों ने की। इसलिए स्त्री और शूद्र को सामाजिक पुनर्विचार के पाठ्यक्रम में जैसे शामिल कर लिया गया। कोई भी समाज अपनी परिवर्तन की प्रक्रिया को स्त्री और शूद्र को शामिल किए बिना प्रामाणिकता के साथ संपन्न नहीं कर सकता। इसलिए वर्ण व्यवस्था और स्त्री के प्रति स्थापित परम्परागत दृष्टिकोण पर इस युग की रचनाओं में प्रश्नचिन्ह लग गया। इस तरह से आधुनिक हिन्दी के आधुनिक काल और हिन्दी में आधुनिक काल की चेतना के निर्माण का पहला कारक है नवजागरण।

लेकिन इसके साथ-साथ कुछ दूसरे कारण भी हैं जिनसे हिन्दी की आधुनिक चेतना का निर्माण होता है। उन दूसरे कारणों में है गद्य का उदय। निराला ने गद्य को जीवन संग्राम की भाषा कहा है। कविता मनुष्य की आकांक्षाओं और सपनों की भाषा है। कविता भावनाओं, सपनों, आकांक्षाओं, कल्पनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम है। गद्य में मनुष्य और समाज के विचार, उसके जीवन का यथार्थ, उसकी परिस्थितियां, उसके संघर्ष इत्यादि अभिव्यक्ति पाते हैं। आधुनिक विश्वासों के सूत्रपात के कारण, बुद्धि महत्वपूर्ण हो गई, तर्क महत्वपूर्ण हो गया। विश्वासों के स्थान पर विवेक ने जगह ली।

इसलिए आधुनिक परिस्थितियों के अवतरण के कारण कविता का अनुशासन जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त पड़ने लगा। यह अकारण नहीं है कि इस देश की परम्परा में हजारों वर्षों से जो कविता समाजऔर कवि के सपनों और रचनात्मकता का केन्द्रीय माध्यम थी वह एकाएक कम पड़ने लगी। क्योंकि जीवन अब वैसा नहीं रह गया था जैसा एक ठहरे हुए स्थितिशील समाज में था। जीवन में गतियां शुरू हुईं। संस्कृतियों का संघात 19वीं शताब्दी में विकसित हुई और जब एक बाहर की संस्कृति आई, जो वस्तुन्मुखी थी, तो उसके साथ साथ एक जीवन प्रणाली भी आई। इस जीवन प्रणाली को अध्यात्मवादी संस्कृति निरस्त नहीं कर सकी, उसे पराजित नहीं कर सकी। इसलिए वस्तुवादी संस्कृति के प्रभाव का अध्याय शुरू हुआ और पुरानी चीजों के टूटने का सिलसिला भी। पश्चिम की या इंगलैंड की पूंजीवादी

संस्कृति का प्रभाव भारतीय समाज में किस रूप में पड़ना शुरू हुआ और प्रभाव के परिणाम क्या हुए, इस संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृतियां हैं, जो देखी जानी चाहिए।

एक कृति ताराशंकर बंदोपाध्याय की है 'गणदेवता' और दूसरी रविन्द्रनाथ ठाकुर की 'गोरा'। जीवन झील की तरह ठहरा हुआ है। पश्चिम संस्कृति के प्रभाव से किसी तरह हलचलों से जुड़ता है। यह बहुत आश्चर्यजनक दिखाई देता है। 'गणदेवता' में गांव के लोगों की प्रक्रिया देखें, एक बढ़ई कहता है कि मैं अब हल दूंगा नहीं, बेचूंगा। और वह एक नुक्कड़ पर जाकर बैठ जाता है। नाई कहता है कि मैं पैसे लेकर हजामत बनाऊंगा और लुहार पैसे के बदले में कृषि के औजार देने की बात करता है। भारतीय समाज के लिए ये स्थितियां बहुत स्तंभित कर देने वाली स्थितियां हैं। चूंकि पूंजीवाद बाजार को लागू करता है। ये बाजार के बिल्कुल प्रारंभिक रूप होंगे। जो शताब्दियों से बनी हुई व्यवस्था धीरे धीरे टूटनी शुरू होती है।

यह जो टूटता हुआ जीवन है इस जीवन की हलचल को कविता के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता था। इसलिए कविता की अपर्याप्तता का संबंध उसकी विधा की सीमाओं से नहीं है। ऐसा नहीं है कि कविता की शक्ति छोटी पड़ गई है। सच यह था कि जीवन बदल रहा था और इस बदलते हुए जीवन को बुद्धि की भाषा से ही व्यक्त किया जा सकता था, भावना की भाषा से नहीं। इसलिए गद्य अपरिहार्य हो गया।

ऐसा नहीं है कि गद्य था नहीं। लोग कविता में बात नहीं करते थे, बात तो गद्य में ही होती थी। लेकिन गद्य रचना का माध्यम नहीं था। गद्य को रचना के माध्यम के रूप में ग्रहण किया गया और यह अकारण नहीं है कि आधुनिक परिस्थितियों को जिस भाषा में रचना का विषय बनाया गया वह भाषा गद्य की थी।

इसलिए नाटकों की शुरूआत गद्य में होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक लिखा है कि यह 'विलक्षण बात है कि हिन्दी गद्य की शुरूआत नाटकों के माध्यम से हुई।' नाटक में जो विषय उठाये गये थे वे वर्तमान जीवन के थे। समस्याएं वर्तमान जीवन की थी। इसलिए एक बनते हुए नए समाज और टूटते हुए पुराने समाज का जो संक्रमण है, उसकी हलचल को थामने की ताकत कविता में नहीं रह गयी थी। इसलिए गद्य आया। तो गद्य का उदय भी आधुनिक भावबोध के विकास में बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

भाषा के बिना किसी भी प्रकार के भावबोध की अभिव्यक्ति संभव नहीं होती। बोध तो हो सकता है, अभिव्यक्ति संभव नहीं है। इसलिए बच्चे को क्रोध आता है लेकिन वह गाली

नहीं देता क्योंकि उसे अभी भाषा नहीं आती। वह अभिव्यक्ति रोने से कर सकता है। गद्य ने आधुनिक भावबोध की अभिव्यक्ति को संभव बनाया। इसलिए गद्य का उदय आधुनिक भावबोध और परिस्थितियों की अपेक्षाओं के दबाव से हुआ।

गद्य में अभिव्यक्ति की जो प्रणालियां विकसित हुई, जिसे हम आधुनिकता का अभिलक्षण कह सकते हैं, उसमें से एक अनुशासन पत्र–पत्रिकाएं हैं। अगर गद्य न होता तो पत्र–पत्रिकाएं नहीं होतीं, अखबार नहीं हो सकता था। 19वीं शताब्दी में पत्रकारिता का आरम्भ होता है। इसका कारण यह था कि समाज की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों को तर्क और वैचारिक अनुशासन में व्यक्त करने की जरूरत थी। इस आधुनिक भावबोध और उसके दबाव से उत्पन्न हुए गद्य के लिए इतिहास में **नयी विधाओं का सूत्रपात** हुआ और उसमें से जो बहुत सशक्त था, वैचारिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में, वह थी पत्रकारिता। इसलिए पत्रकारिता ने हिन्दी गद्य को विचार और जीवन की हलचलों से जोड़ा। यह अकारण नहीं है कि भारतेन्दु युग के जितने रचनाकार हैं वे अनिवार्यतः सभी पत्रकार भी हैं।

19वीं शताब्दी में किसी ऐसे रचनाकार की कल्पना असंभव है जो पत्रकार न हो क्योंकि पत्रकारिता जीवन के साथ प्रत्यक्ष संवाद का प्रमाण था। आधुनिकता और नवजागरण की जो मुख्य चिंता थी — समाज को विचार के स्तर पर परिवर्तित करना। इस परिवर्तन का माध्यम गद्य और गद्य को ढोने वाली पत्रिकाएं ही हो सकती थीं। इसलिए हम गद्य को आधुनिक भावबोध के विकास का नवजागरण के बाद दूसरा प्रेरक तत्व कह सकते हैं।

इस प्रक्रिया में गद्य की चेतना को अथवा गद्य की भाषा को तीव्र करने में कुछ संस्थाओं के योगदान को भी स्वीकार किया गया है। जिसमें फोर्ट विलियम कालेज का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। गद्य की चेतना को तीव्रतर करने और गद्य को अधिक समर्थ बनाने में फोर्ट विलियम कालेज का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। 'जॉन गिल क्राइस्ट' इसके भाषा विभाग के निदेशक थे। बड़े पैमाने पर ज्ञान विज्ञान की पुस्तकों का अनुवाद हुआ। स्कूल में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों का पाठ भी हिन्दी में तैयार कराया गया और कुछ दिनों के लिए हिन्दी को शिक्षा के माध्यम के रूप में लागू किया गया। इस तरह से फोर्ट विलियम कालेज ने अनुवादों के माध्यम से हिन्दी गद्य को विकसित करने में अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभाई और प्रकारांतर से आधुनिकता को भी विकसित करने में। इस तरह से आधुनिक भावबोध को हिन्दी क्षेत्र में विकसित करने में गद्य का विकास और गद्य की चेतना तथा ऊर्जा को तीव्रतर बनाने में

फोर्ट विलियम कालेज का नाम आदर के साथ लिया जाता है। इसमें ईसाई मिशनरियां भी थीं, जिन्होंने बाइबल का अनुवाद किया और बड़े पैमाने पर छापा तथा वितरित किया। ये वे तमाम कारण थे जिनके कारण एक भाषा मिली।

गद्य आधुनिकता की भाषा है। एक ऐसी भाषा जो ब्रजभाषा से भिन्न थी। इस तरह से 19वीं शताब्दी में दो समानांतर धाराएं साहित्य से शुरू हुई। पहली धारा मध्यकालीनता की थी जो कविता में जीवित थी, दूसरी धारा आधुनिकता की थी जो गद्य में विकसित हुई। इस तरह से हिन्दी साहित्य के संदर्भ में आधुनिकता की प्रारंभिक स्थिति बहुत संश्लिष्ट है। वह निर्णायक रूप से विशिष्ट नहीं दिखाई देती। आधुनिकता और मध्यकालीनता 19वीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य में एक दूसरे से उलझी हुई दिखाई देती है। विचारों और संस्कारों का संक्रमण दिखाई दे रहा है। इसलिए हिन्दी साहित्य के प्रस्थान काल, यानी भारतेन्दु काल में, आधुनिकता और मध्यकालीनता एक दूसरे से लिपटी हुई दिखाई देती हैं। इसलिए हिन्दी साहित्य के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि भारतीय आधुनिकता और मध्यकालीनता की संश्लिष्टता दिखाई देती है।

धीरे धीरे विकसित होती हुई आधुनिकता, द्विवेदी युग तक आते आते ब्रजभाषा से मुक्त होती है और परम्परा के कई प्रसंगों का निषेध कर देती है। मसलन, रीतिकाल की कविता ही द्विवेदी युग की चुनौती है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा कि यदि हिन्दी कविता को आधुनिक और सामाजिक बनाना है तो उसे रीतिकाल के प्रभावों से पूरी तरह मुक्त करना होगा। जबकि भारतेन्दु युग की कविता पर रीतिकाल का ही प्रभाव है। तो आप देखते हैं कि भारतेन्दु युग, जो आधुनिकता का प्रस्थान काल हैं, उस पर मध्यकाल का प्रभाव है और आधुनिक स्थितियों की मुठभेड़ भी है। कविता आगे चल कर मध्यकालीनता को छोड़ती है और छायावाद में जाकर कविता थोड़ी और सूक्ष्म होती है।

इस तरह से आधुनिक काल साहित्य में एक ऐसी पृष्ठभूमि का निर्माण करता है जिसके केन्द्र में मनुष्य, उसका समाज, उसकी लौकिक परिस्थितियां रचना का विषय बनती हैं। इसलिए मध्यकालीन प्रभावों के परिणामस्वरूप ईश्वर की चर्चा तो है लेकिन आध्यात्मिक संदर्भ में नहीं है। 'कहां करुणानिधि केशव सोये।' देश में इतना दुख है, पराधीनता है, दीनता है और अभी भी तुम सोये हुए हो। 'जागहु भारतनाथ, बेगि जागहु अब जागहु।' ईश्वर के लिए पहली बार नये सम्बोधन का प्रयोग है। दीनानाथ हैं, दीनबन्धु हैं, दयासागर हैं, ये सब पुराने हैं। लेकिन भारतनाथ जैसे राजनीतिक शब्द का इस्तेमाल ईश्वर के साथ किया गया। इससे

पता चलता है कि एक नयी तरह की चेतना उस मध्यकालीनता के केंचुल को फाड़ कर निकल रही है। एक और पंक्ति है – 'हम आरत भारतवासिन पे, अब दीनदयाल दया करिए।' तो आप देखेंगे कि सम्बोधन का पूरा लहजा बदल गया है, उसका परिप्रेक्ष्य बदल गया है। लेकिन ईश्वर की चर्चा कहीं न कहीं है।

यह चर्चा आधुनिकता के दूसरे चरण द्विवेदी युग में दिखाई देती है। लेकिन यहां पर ईश्वर को मनुष्य होने पर बाध्य कर दिया गया है। 'साकेत' की भूमिका में मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा कि राम यदि तुम ईश्वर हो तब मैं तुम्हारी कथा कहने की कोशिश नहीं कर सकता। तुम्हारी कथा इसलिए कह रहा हूं क्योंकि तुम मनुष्य हो। ईश्वर का मानवीयकरण किया गया, ईश्वर की चर्चा हुई लेकिन ईश्वरत्व को छोड़कर। उसकी व्याख्या आधुनिक संदर्भों में संभव हो पायी। तो इस तरह से आधुनिक काल अनेक चरणों से गुजरता हुआ, चुनौतियों के हिसाब से अपने को परिवर्तित करता हुआ, अन्ततः नयी कविता और उसके बाद तक आता है। यह आधुनिक काल की वह पृष्ठभूमि है, जिसके संदर्भ में हम सब इसके विभिन्न कालों की प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे। इस संदर्भ में, पहला काल होगा भारतेन्दु युग।

1. भारतेन्दु युग का नामकरण
2. भारतेन्दु युगीन काव्य का स्वरूप

क्या भारतेन्दु युगीन काव्य अपनी पूर्ववर्ती धारा का परिवर्द्धित और विकसित रूप है या सर्वथा नवीन रूप ?

भारतेन्दु युगीन काव्य–धारा अपनी पूर्ववर्ती का ही सहज विकास है। वह नितांत नयी नहीं है, किन्तु उस पर आधुनिक जीवन–परिस्थितियों का गहरा प्रभाव है। प्राचीन काव्यधारा अपनी प्रवणता के कारण आधुनिक धारा को अपने भीतर आत्मसात कर लेती है – भारतेन्दु युग में। क्या भारतेन्दु युग में पुरानी धाराओं ने नयी धाराओं को आत्मसात किया या नयी धाराओं ने पुरानी धारा को अपने भीतर विगलित कर लिया ?

भारतेन्दु युग से पूर्व रीतिकाल था और उससे पूर्व भक्तिकाल था। भक्तिकाल की धारा रीतिकाल से होकर क्षीण रूप में भारतेन्दु युग तक पहुंचती है। भारतेन्दु युग में भक्ति के तीन स्वरूप मिलते हैं –

1. निर्गुण भक्ति धारा – (संत + सूफी)

सूफी काव्य भारतेन्दु युग में नहीं मिलते, किन्तु संतों की निर्गुण धारा का अस्तित्व इस युग में मिलता है।

2. वैष्णव–भक्ति की काव्य धारा – (रामकाव्य और कृष्णकाव्य)

भारतेन्दु युग में कृष्ण भक्ति–काव्य की प्रमुखता है। इस युग में अपवादों को छोड़कर रामकाव्य नहीं लिखा गया। विचारणीय प्रश्न है कि भारतेन्दु युग में केवल कृष्णकाव्य को ही प्रमुखता मिली, रामकाव्य को नहीं – क्यों ? रीतिकाल तक आते–आते राम–भक्ति काव्य लुप्त प्राय हो गया था। राम–भक्ति मर्यादा और शील पर आधारित थी। उसमें शृंगार भी मर्यादित है। राग–तत्व संयमित है। राम भक्ति में स्वकीया प्रेम है। यानी राम काव्य मर्यादा और शील का काव्य है।

रीतिकाल की परिस्थितियां सामन्ती और दरबारी थीं। ऐसे वातावरण में मर्यादित राम भक्ति का कोई अवकाश नहीं था। रीतिकाल में यद्यपि राम–काव्य लिखा गया, लेकिन उसका स्वरूप बदला हुआ था। रीतिकाल में माधुर्य भक्ति को प्रधानता मिली।

कृष्ण–भक्ति काव्य प्रेम–काव्य है। उसमें राग और आवेग की प्रधानता है। उसमें परकीया प्रेम की प्रधानता है। स्वकीया से परकीया प्रेम में अधिक आकर्षण है। माधुर्य, भक्ति का प्रभाव रीतिकाल में राम–काव्य पर भी पड़ा। राम–कृष्ण के पीछे रीतिकाल के सामान्य नायक–नायिका हैं। राम–भक्ति काव्य प्रबन्ध काव्य है और रीतिकाव्य मुक्तक। अतः काव्य रूप की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से रीतिकाल में रामकाव्य का निर्वाह संभव नहीं था। भारतेन्दु युग ने विरासत में कृष्ण–काव्य को प्राप्त किया। उसकी काव्य संवेदना पर रीतिकालीन चेतना का गहरा प्रभाव लक्षित होता है और यह स्वाभाविक ही है।

3. ईश्वर और देश–प्रेम की समन्वित भक्ति – यह धारा सर्वथा नयी है। इस धारा में भक्तिकालीन स्वर की प्रधानता नहीं थी। भारतेन्दु कालीन कवि ईश्वर का आह्वान अपने लिए नहीं, देश और समाज के लिए करता है। देश और समाज की चिंता पुनर्जागरण का प्रतिफलन है।

भारतेन्दु युगीन काव्य में ऐहिकता और सांसारिकता पर अधिक ध्यान है, पारमार्थिकता का नहीं। यही संदर्भ पूर्ववर्ती धारा से भारतेन्दु युगीन काव्य को अलग करती है।

परिवेश

राजनीतिक – ब्रिटिश शासन की नींवें मजबूत हो गई और मुगल–शासन पूरी तरह ध्वस्त हो गया। इस परिवर्तन के प्रति मिश्रित प्रतिक्रिया तात्कालीन साहित्यकारों में हुई। ब्रिटिश सत्ता का दृढ़ होना – एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना बनी। लार्ड बेंटिक और डलहौजी ने कई प्रकार के सुधार किए।

ब्रिटिश शासन ने आपसी झगड़े की जड़ें उखाड़ दीं। इस कदम से सामान्य जनता को चैन मिला।

भारतेन्दु युग में राजभक्ति और राष्ट्र भक्ति का विचित्र समन्वय है। एक ही कवि महारानी विक्टोरिया की वंदना भी करता है और कहीं–कहीं ब्रिटिश सत्ता की आलोचना भी करता है। क्यों ? क्योंकि तत्कालीन साहित्यकारों ने अंग्रेजी शासन से प्राप्त शान्ति और सुव्यवस्था की प्रशंसा की तो दूसरी तरफ उनके आर्थिक शोषण का विरोध भी किया। उस समय जो भीषण अकाल पड़े, उन अकालों में ब्रिटिश भूमिका की अमानवीय को देखकर साहित्यकारों ने उसकी भर्त्सना भी की। भारतेन्दु ने 'भारत–दुर्दशा' नामक पुस्तक लिखी। राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति का काव्य एक नवीन स्वर था।

यातायात के साधनों एवं संचार–सा का विकास हुआ तथा एक केन्द्रीय सत्ता की स्थापना हुई। अंग्रेजों से पूर्व भारत की जनता में सांस्कृतिक एकता के बावजूद राजनीतिक एकीकरण का सर्वथा अभाव था। पहले क्षेत्रीय भावना है। अंग्रेजों द्वारा भारत का राजनीतिक एकीकरण के फलस्वरूप पहली समग्र राष्ट्रीयता की भावना का संचार हुआ और साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में राष्ट्रबोध और देश–प्रेम को अभिव्यक्ति दी – 'हमारो उत्तम भारत देश।'

भारतेन्दु युगीन काव्य–धारा में राष्ट्रभक्ति और राजभक्ति का स्वर इतना प्रबल है कि भक्ति की अन्य धाराएं गौण प्रतीत होने लगती हैं।

भारतेन्दु युगीन कवियों का व्यंग्य चुटीला है। इस युग में मुकरियों के द्वारा हास–व्यंग्य किया गया है। 'भीतर–भीतर सब रस चूसै . . . . .

भारतेन्दु युग की नवीनता

1. देश की अखण्ड चेतना

2./ देश प्रेम – ईश्वर प्रेम

3./ अंग्रेजों के प्रति आक्रोश

4./ ऐहिकता की प्रधानता।

मध्ययुग और आधुनिक युग की विभाजक रेखा है – युग चेतना।

भारतेन्दु युग की सामाजिक चेतना एवं शिल्पगत नवीनताएं

सामाजिक चेतना की पृष्ठभूमि – नवजागरण इसका प्रेरणा स्रोत था। पाश्चात्य शिक्षा, पत्र–पत्रिकाएं और धार्मिक आन्दोलनों (आर्य समाज, ब्रह्म समाज) ने इस नवजागरण का सूत्रपात किया। इस नवजागरण का प्रभाव साहित्यकारों पर पड़ा। किन्तु कुछ कवि इस सामाजिक चेतना से प्रभावित नहीं हुए।

आर्य समाजियों ने अस्पृश्यता और वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध किया था। अम्बिका दत्त व्यास और राधा चरण गोस्वामी ने इस सामाजिक नवजागरण से प्रभाव ग्रहण नहीं किया। इन्होंने अपनी कविताओं में वर्णाश्रम का समर्थन किया।

भारतेन्दु ने बाल–विवाह और वर्णाश्रम का विरोध करते हुए विधवा–विवाह का समर्थन किया। – "बहुत फैलाए हमने धर्म, बढ़ाया छुआछूत का कर्म।" भारतेन्दु युग में नयी चेतना जागने के बावजूद समानान्तर दिशा में दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां चलती रहीं। यही विरोध राजनीतिक चेतना में भी लक्षित होता है – राष्ट्र भक्ति और राजभक्ति के रूप में।

अन्तर्विरोधों की यह प्रवृत्ति भाषा, शैली और छन्द में भी लक्षित होती है।

भाषा – ब्रजभाषा और खड़ी बोली का संघर्ष आरंभ हुआ। द्विवेदी युग में खड़ी बोली को काव्य में मान्यता मिली।

छन्द – मध्यकालीन छन्दों (दोहा, सोरठा, कवित्त पद आदि) का प्रयोग होता रहा तो दूसरी ओर नये–नये छन्दों का भी प्रयोग किया। इन्होंने बंगला के पयार और उर्दू के छन्दों शेर और वसीदा तथा लोकसंगीत की शैली – कजरी आदि छन्दों को अपनाया। इन कवियों की प्रयोगधर्मिता को देखकर आश्चर्य होता है।

भारतेन्दु युग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान हास्य–व्यंग्य विनोद है। भारतीय साहित्य में हास्य की कमी की परम्परा रही। गोपाल प्रसाद व्यास (पत्नीवाद के प्रवर्तक), काका हाथरसी

आदि व्यंग्यकार या हास्यकार हुए हैं, लेकिन इनका स्तर परिस्कृत नहीं है। भारतेन्दु युगीन हास्य का स्तर बहुत परिस्कृत और विशाल था।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (कटाक्ष), भारत–दुर्दशा – भारतेन्दु के नाटक।

कविता में तीन काव्य रूपों के अन्तर्गत हास्य व्यंगें का प्रणयन हुआ –

1. मुकरियां – भीतर भीतर सब रस चूसे
2. स्यापा (उर्दू का प्रभाव) 'उर्दू का स्यापा (व्यंग्य और क्रोध)
3. मर्शिया (शोकगीत – उर्दू)

काव्य–विषय और काव्य–शिल्प दोनों दृष्टियों से एक नया रुख अपनाया।

योगदान

- प्रकृति चित्रण – प्रकृति चित्रण में षडऋतु वर्णन उद्दीपन रूप में प्रकृति का वर्णन – यह प्रकृति वर्णन का परम्परागत रूप था। आलम्बन रूप में प्रकृति चित्रण भारतेन्दु युग की मौलिकता है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों एवं कविताओं में गंगा–यमुना का आलम्बनात्मक वर्णन किया।
- रीति निरूपण – रीतिकालीन पद्धति। मुरारी दीन नामक कवि रीतिकालीन पद्धति का अनुसरण किया।
- समस्यापूर्ति – प्राचीन कालीन परम्परा रही और यह द्विवेदी युग तक चलती रही। भारतेन्दु युग में भी इस प्रवृत्ति का निर्वाह हुआ।

वस्तुतः यह काल भाषा, विषय और काव्य शिल्प की दृष्टि से प्राचीन और नवीन का संगम है।

भारतेन्दु युगीन कविता नवजागरण की कविता है – क्यों ?

– परिमाण और संख्या
– गुण
– वैशिष्ट्य , निर्णय की तीन कसौटियां हैं।

इन तीन कसौटियों पर इसकाल के पुनर्जागरण की परीक्षा करनी होगी।

• भक्ति राम, कृष्ण की भक्ति, पर्वों–त्यौहारों से सम्बद्ध गीत, कविताएं।
भक्ति में देश–भक्ति का पुट नवजागरण का संदर्भ है।
परम्परागत भक्ति की तुलना में देशभक्ति का स्वर अधिक प्रखर है।

• सामाजिक चेतना – भारतेन्दु युग की नितांत ताजी मौलिकता थी। अतः सामाजिक चेतना की दृष्टि से इस काल का काव्य पर्याप्त समृद्ध है।

• प्रगतिशील धर्म की प्रधानता – नारी शिक्षा, नारी अधिकार, वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध – जैसे विषयों पर काफी कुछ लिखा गया है।

सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक – इन तीनों क्षेत्रों में भारतेन्दुयुगीन काव्य पुनर्जागरण से गहराई से प्रभावित है।

• भारतेन्दु युगीन काव्य का प्रभाव – भारतेन्दुयुगीन काव्य का सामान्य जनता पर प्रभाव पड़ा। इस युग के कवियों ने अपनी रचना से दूसरे कवियों को भी प्रभावित किया। इस रूप में भी भारतेन्दु युगीन कवियों का प्रभाव।

IAS 9868448606

द्विवेदी युग

कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में लॉर्ड कर्जन ने मंच पर कहा था कि एशिया का इतना बड़ा देश अंधकार में डूबा हुआ है। इस देश के पास न तो कोई सभ्यता है न कोई संस्कृति है, न इतिहास है, न परम्परा है। यह भालुओं, मदारियों और संन्यासियों का देश है और हम सभ्य लोगों पर इसकी जिम्मेदारी है कि जिस देश में इतने सारे मनुष्य आदिम युग में जी रहे हों उन्हें सभ्यता की रोशनी दें। तो यह पता चल रहा था कि इस देश के बारे में साम्राज्यवाद का केन्द्र क्या सोच रहा है। तिलक के आने के बाद नरम दल हाशिए में था और एक उग्रता बढ़ रही थी, इसलिए जो सामाजिक माहौल भारतेन्दु युग में था वह राजनीतिक चेतना के प्रसार के कारण बदल रहा था। इसलिए इस समय की द्विवेदी युग की राजनीतिक चेतना में अंग्रेजों के प्रति सहानुभूति का भाव उनके प्रति श्रेष्ठता बोध का भाव पूरी तरह से खत्म हो गया। उस राजनीतिक चेतना का पहला बिन्दु है – राष्ट्र गौरवमय अतीत का स्मरण किया गया है। इस गौरवमय अतीत के स्मरण के कुछ मनोवैज्ञानिक कारण हैं। वर्तमान बहुत दुर्दशाग्रस्त है, देश पराधीन है, कवि, समाज चिंतक, राजनेता अनुभव करते हैं कि यूरोप के तेजस्वी ज्ञान की तुलना में हम बहुत पिछड़े हुए हैं। हमारे सामाजिक संबंधों,

एक पिछड़े समाज में आत्मगौरव का स्त्रोत इतिहास ही हो सकता है।

रीति–रिवाजों में, स्त्री के प्रति दृष्टिकोण में बहुत पिछड़ापन है। इसलिए एक पिछड़े हुए समाज में आत्मगौरव का स्रोत इतिहास ही हो सकता है। वर्तमान के बेहद दुर्दशा और अंधकार में इन कवियों को इतिहास से ही उम्मीदें दिखाई दे रही थीं।

इसलिए यह युग बार बार पीछे की तरफ लौटता है। विद्वानों का यह कहना है कि जब एक समाज या एक देश वर्तमान के बिन्दु पर पूरी तरह से जर्जर, स्खलित और संभावनाशून्य हो जाता है तब वह इतिहास का स्मरण करता है। इतिहास एक मनोवैज्ञानिक सान्त्वना देता है। इस मनोवैज्ञानिक सान्त्वना के रूप में ही राष्ट्र गौरव की भावना को देखा जाना चाहिए। उसका आधार मनोवैज्ञानिक सान्त्वना है। 'भारत भारती' इस युग की बहुत महत्वपूर्ण कृति है जिसमें राष्ट्र गौरव का भाव दिखाई देता है। 'सभी देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है, उसका जो ऋषियों की भूमि है, वह भारतवर्ष है।' भारत को ऋषियों की भूमि और सभी देशों की सभ्यता से उत्तम सभ्यता वाला देश कहा गया है। ईश्वर द्विवेदी युग में बार बार दिखाई देगा। इसकी शुरूआत भारतेन्दु युग में दिखाई देती है। राधाचरण गोस्वामी उस जमाने में लिख रहे थे – 'हमारो उत्तम भारत देश।' लेकिन यह कहीं कहीं अपवाद रूप में है। इसलिए सभी रचनाकारों ने लगभग इस देश के अतीत गौरव को विषय बनाया है। इसके साथ साथ इस देश की प्राकृतिक संपदा, सांस्कृतिक संपदा है, इस देश के मूल्य और चिंतन का जो वैशिष्ट्य है, उसको रेखांकित करने की कोशिश की गई है। इकबाल की बहुत चर्चित कविता है 'सारे जहां से अच्छा हिन्दुस्तां हमारा'। इसमें दो चीजें आप ध्यान से देख सकते हैं– एक तो जो हमारी विशिष्टता है इस देश में – 'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना, हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दू हमारा।'

यह श्रेष्ठता बोध, यह विशिष्टता बोध इस युग की राष्ट्रीय भावना का एक बहुत मर्मस्पर्शी संदर्भ कहा जा सकता है। इसलिए हिन्दुस्तान की परिकल्पना क्योंकि भारत माता के रूप में आई थी। हिन्दुस्तान को जब भी इस युग का रचनाकार याद करता है तो मां के रूप में या स्त्री के रूप में याद करता है। मैथिलीशरण गुप्त लिख रहे थे – 'नीलाम्बर परिधान, हरित पट पर सुंदर है।'

राष्ट्रीयता का प्रबल स्वर एक स्तर पर तो यह है कि बहुत गौरवमय अतीत है। कई जगह पर यह जिक्र भी आया है कि यूरोप को जब ठीक से छाल पहनना भी नहीं आ रहा था तब हमारे यहां उपनिषदों की रचना हो रही थी। तो यह एक ढांढ़स बंधाता है कि हम

काफी मजबूत थे। लेकिन ढाढ़स पर ही जैसे हिन्दुस्तान ठहर गया। लेकिन उस युग में, उस राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में, इतिहास के उस दौर में यह जरूरी था। इससे एक ऊर्जा देश को मिलती थी। भारत भारती के बारे में तो यह कहा जाता है कि हिन्दुस्तान में यह अपने जमाने की सबसे लोकप्रिय कृति थी। रामचरितमानस से भी ज्यादा। यह भारतीय मानस की जीभ पर चढ़ी हुई आधुनिक गीता थी। लोग इस किताब को जेल में भी साथ रखते थे और ऐसे लोगों की संख्या लाखों में थी जिन्हें भारत भारती जबानी याद थी।

'पथिक', 'मिलन' दो चर्चित कृतियां हैं, राम नरेश त्रिपाठी की। इसमें देश की प्राकृतिक संपदा, उसकी सुषमा और उसके विराट सौंदर्य का चित्रण किया गया है। यह एक नए प्रकार की राष्ट्रीयता है और एक नये प्रकार की राजनैतिक चेतना भी। इस राष्ट्रीयता का एक और पक्ष है और वह है 'बलिदान भाव'। देश के लिए मरा जा सकता है बिना सैनिक हुए या अपना समूची कैरियर और अपनी सभी सुविधाएं किसी नेता के कहने पर छोड़ी जा सकती हैं, ये हमें कपोल कल्पना से भी अधिक कल्पित स्थिति लगती है। लेकिन राष्ट्र प्रेम का अर्थ था कि बलिदान का भाव उस युग चेतना में मौजूद था और कविता में राष्ट्र प्रेम का अर्थ था कि बलिदान की भावना को प्रोत्साहित किया जाये। तो इस संदर्भ में 'सनेही' की एक कविता है –

'देश भक्त वीरों, मरने से नेक नहीं डरना होगा,
प्राणों का बलिदान देश की वेदी पर करना होगा।

इसी परम्परा में आगे चलकर माखन लाल चतुर्वेदी ने 'पुष्प की अभिलाषा' लिखी :

'नहीं चाहता सुर बाला के गहनों में गूंथा जाऊँ
मुझे तोड़ लेना बनमाली उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।।

यह जो बलिदान भावना है, यह उस समय की राष्ट्रीयता का एक बहुत जरूरी और अनिवार्य पक्ष है। राष्ट्रीयता किस तरह बदलती है आजादी के बाद राष्ट्रीयता का वही अर्थ नहीं है जो आजादी से पहले का है :

हरा रंग है हरी हमारी धरती की अंगड़ाई
कहता है यह चक्र हमारा कदम कभी न रुकेगा,
झण्डा ऊँचा सदा रहेगा।

यह राष्ट्रीय आंदोलन और राष्ट्रीय भावना का गीत है। फिर धूमिल नेहरू के अवसान के बाद कविता लिख रहे थे : 'क्या आजादी तीन थके हुए रंगों का नाम है, जिसे एक पहिया ढोता है, या इसका कुछ खास मतलब होता है।' झण्डा फहरा देना और राष्ट्र गीत गा देना यह राष्ट्रीयता नहीं है। पहले गांधी ने कहा था कि अगर एक अंतिम आदमी की आंख में भी आंसू हैं तो यह आजादी अधूरी है। इस अधूरी आजादी वाले देश को राष्ट्रीयता पर गौरव करने का कोई कारण नहीं है। इसलिए बाद की जो राष्ट्रीय चेतना है वह ढोंग है। आप देखते हैं कि राष्ट्रीयता की प्रकृति बदल जाती है।

इसलिए रघुबीर सहाय ने लिखा कि 'राष्ट्रगान में भला कौन वह भारत भाग्य विधाता है, फटा सुथन्ना पहने जिसका गुन हरचरना गाता है।' कौन है यह भारत भाग्य विधाता ? कौन है जो 26 जनवरी को ढोल और मंजीरे बजवाता है और राष्ट्रीयता का आभास देता है ? इस राष्ट्रीयता की परिकल्पना जो आजादी के बाद की है, इससे मिलाकर देखेंगे तो बड़ा अजीब सा फांक दिखाई देता है। उसका कारण यह है कि उस दौर में एक आवेश है, एक संवेदना है, एक स्वप्न है।

आज समाज के पाठ्यक्रम से बलिदान शब्द समाप्त हो गया है, इसलिए अब उसका कोई अर्थ नहीं है। राजेन्द्र माथुर नवभारत टाइम्स के उस समय के सम्पादक थे। उन्होंने कहा कि कविता एक जलती हुई तिल्ली है, अगर इसे बारूद के ढेर पर फेंक दिया जाए तो यह महाप्रलय मचा सकती है और अगर पानी की बाल्टी में पड़ जाए तो बिल्कुल साफ हो जाती है। समाज की ग्राह्यता बहुत महत्वपूर्ण है। समाज अगर उस कविता को ग्रहण करने की ऐतिहासिक परिस्थिति में है तो कविता बहुत ताकतवर हो जायेगी और अगर नहीं तो कविता बाल्टी और कटोरी में पड़ी हुई तिल्ली की तरह पूरी बुझ जाएगी, अर्थहीन हो जायेगी। तो यह स्वर बताता है कि बलिदान की भावना से जो कविताएं लिखी जा रही थीं, उनमें राष्ट्रीयता थी और समाज पर उन कविताओं का बहुत जबरदस्त प्रभाव दिखाई दे रहा था।

इसके साथ साथ इस संदर्भ में 'न्याय और स्वतंत्रता की मांग' भी इस युग की राष्ट्रीय चेतना के कुछ वैचारिक बिन्दु हैं। न्याय और स्वतंत्रता की मांग के बिना, न्याय और स्वतंत्रता की चेतना के बिना कोई भी राष्ट्रीयता मुकम्मल नहीं होगी। इसलिए पौराणिक घटनाओं पर लिखते हुए भी इस राष्ट्रीय चेतना के दबाव के कारण और उसकी जरूरत के कारण न्याय और स्वतंत्रता की मांग कविता में बार बार उठायी गई है। 'जयद्रथ वध' में

मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा : 'अन्याय सहकर बैठ रहना यह महादुष्कर्म है। न्यायार्थ अपने बंधु को भी दण्ड देना धर्म है।' अन्याय के लिए अपने भाई को भी दण्ड दिया जाना चाहिए यह औचित्य है, यह धर्म है।

द्विवेदी युग के सामाजिक मूल्यों के केन्द्र में एक परम्परागत नैतिक बोध विद्यमान है। परम्परागत नैतिक बोध से इस युग की मूल्य चेतना का निर्माण हुआ है और जो परम्परागत नैतिक बोध है वह आचरण की पवित्रता , ईमानदारी, सेवा ऐसे प्रसंगों को तरजीह देता है। जैसे बाजारवादी व्यवस्था में सेवा का ही एक आर्थिक प्रयोजन है। लेकिन द्विवेदी युग में सेवा एक अहैतुक कर्म है जिसका कोई आर्थिक प्रयोजन नहीं है और यह परम्परागत हिन्दुस्तान की दृष्टि है। पश्चिमी विश्व इसे नहीं समझ पाएगा। इस नैतिक बोध के अनुसार मनुष्य के पास कोई न कोई महाउद्देश्य रहना चाहिए। इसलिए द्विवेदी युग का मानवीय और सामाजिक मूल्य सफलता पर नहीं बल्कि सार्थकता की नींव पर खड़ा है। यह भी कहा जा सकता है सोद्देश्यता ही जीवन मूल्य है। दो बिन्दुओं को मिला देने से रेखा का निर्माण होता है। हम जो चाहते हैं और हमें जहां पहुंचना है, अगर यह दिशा तय हो जाए तो समाज और जीवन के भटकाव कम हो सकते हैं। फिर प्रसंगेतर बात है कि अगर आधुनिक राजनीतिक प्रणाली और आर्थिक प्रणाली में हम जहां हैं और जहां जाना चाहते हैं इसके बीच में कोई रेखा नहीं है। अंततः उदारीकरण किस लिए और कहां पहुंचना चाहती है अगर इस पर गौर करें और छानबीन करें तो पता चलेगा कि कोई रेखा नहीं है। इसलिए सोद्देश्यता अनिवार्य है क्योंकि सोद्देश्यता सामाजिक जीवन में अनुशासन और सार्थकता का बोध पैदा करती है। इसलिए कविता भी सोद्देश्य होनी चाहिए और सामाजिक जीवन भी। यह एक स्तर पर रीतिकालीन भाव बोध के साथ रचनात्मक मुठभेड़ है।

जो कविता का गुण धर्म है वही समाज का गुण धर्म हो सकता है। मैथिलीशरण गुप्त के शब्द हैं कि 'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए, उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।' यहां उपदेश नैतिक मूल्य है, नैतिक संस्कार है। यह इस युग की सामाजिक चेतना की बृहतर रूपरेखा है। इसमें स्त्री पुरुष संबंध है। धर्म में मानवीय सरोकारों का समावेश, जीवन की सोद्देश्यता पर बल नवजागरण की चेतना के पास है। नवजागरण की चेतना आत्म मंथन की चेतना है। नवजागरण आत्म विश्लेषण की चेतना है और वर्तमान के बीच जो बहती हुई परम्परा है उस परम्परा की शक्तियां और सीमाओं को जानने की चेतना है।

नवजागरण की चेतना है। तो यह जो अतीत का मूल्यांकन है, परम्परा का मूल्यांकन है, नवजागरण की चेतना का एक स्वर है, वह द्विवेदी युगीन चेतना का भी प्रधान स्वर है। इस दृष्टि से भारत भारती की पंक्ति है 'हम कौन थे क्या हो गए और क्या होंगे अभी, आओ मिलकर विचारें यह समस्याएं सभी।'

समग्रतः हिन्दी कविता के इतिहास में द्विवेदी युग का महत्व जीवन और कविता में एक नये रिश्ते के सूत्रधार के रूप में, है। यह कविता भारतीय नवजागरण के सुधारवादी आंदोलन को रचनात्मक स्तर पर प्रस्तुत करती है। वैष्णवी पवित्रता और सांस्कृतिक मूल्य चेतना का निर्वाह करते हुए इस युग का कवि आधुनिक भावबोध के प्रति सजग दिखाई देता है। मूल्य चेतना की तरफ विशुद्ध भारतीय दृष्टि और रीतिकाल के बहिष्कार में उसकी नयी दायित्व चेतना की झलक दिखाई देती है। यद्यपि इस कविता पर इतिवृत्तात्मकता और उपदेशात्मकता के आरोप लगाये गये हैं लेकिन उन सीमाओं को पूर्वाग्रहों से नहीं इतिहास के विवेक से देखा जाना चाहिए। साहित्य के क्षितिज का विस्तार और खड़ी बोली हिन्दी की रचनात्मक संभावनाओं को साकार करने की दृष्टि से द्विवेदी युग का ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्व है।

- उक्ति वैचित्र्यवाद
- रहस्यवाद
- अनुकरणमूलक

छायावाद

आधुनिक हिन्दी कविता के तीसरे चरण को छायावाद के नाम से जाना जाता है। छायावाद को आधुनिक हिन्दी कविता का भक्तिकाव्य भी कहा जाता है। भक्तिकाव्य की गहराई, व्याप्ति और औदात्य से यह कविता युक्त है। यह भी इतिहास का एक विचित्र विरोधाभास है कि अपने आरंभिक काल में छायावाद को हिन्दी आलोचना के कोप का शिकार होना पड़ा। हिन्दी आलोचना के शिखर पुरुष आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद को उक्ति वैचित्र्यवाद, रहस्यवाद और अनुकरणमूलक कहा। इसलिए छायावाद को अपनी आरंभिकता में ही अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ा।

मोटे तौर पर छायावाद का कालखंड 1918 से 1936 के बीच माना जाता है। यह आधुनिक भारतीय इतिहास में नवजागरण का, स्वाधीनता आंदोलन का, विश्व युद्ध का और साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदी युग के अवसान का समय है। इसलिए इस कविता की मानसिकता

पर कहीं न कहीं नवजागरण और स्वाधीनता आंदोलन और विश्वयुद्ध की छाया देखी जा सकती है। लेकिन छायावाद के अन्य पक्षों पर विचार करने से पूर्व इस छायावाद में जो 'छाया' शब्द है इसकी अवधारणा पर बात करनी चाहिए।

छाया की कई व्याख्याएं की गई हैं। रामचंद्र शुक्ल ने छाया का अर्थ अनुकरण किया है, वाद का अर्थ होता है घेरा, सिद्धांत व मठ। जब हम प्रगतिवाद कहते हैं तो मार्क्सवाद के आधार पर, उसका पंथ बनाकर, उसका संस्थान बनाकर जो साहित्य लिखा गया है उसे हम प्रगतिवाद कहते हैं। छायावाद में वाद का अर्थ तो स्थिर हो गया, घेरा, सिद्धांत, प्रतिबद्धता, ढांचा। मूल शब्द रह गया छाया, इसलिए छाया का अर्थ स्पष्ट हो जायेगा तो उसे वाद से जोड़ा जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छाया का अर्थ किया अनुकरण। छाया मौलिक नहीं होती, वह मूल का प्रतिबिम्ब होती है और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावादी कविता को अनुकरण मूलक कहा है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्होंने लिखा कि पुराने ईसाई संतों की साधना में एक शब्द होता था फैण्टेसमाटा। यह एक प्रकार की रहस्यानुभूति थी। यह शब्द यूरोप से चलकर पहले बंगाल में पहुंचा और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं में दिखाई दिया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं का अनुकरण हमारे नये कवियों ने किया जिसे हिन्दी में छायावादी कहते हैं। शुक्ल जी ने यह भी तथ्यात्मक कल्पना कर ली कि फैण्टेसमाटा के आधार पर लिखी जाने के कारण ऐसी कविताओं को छायावाद कहने का प्रचलन चल पड़ा था। लेकिन शुक्ल जी ने एक बहुत तथ्यविहीन तथ्य दिया कि बंगाल में छायावाद शब्द प्रचलन में था जो कि बिल्कुल नहीं था। उन्होंने कहा कि ऐसी कविताओं को बंगाल में छायावादी कहा जा रहा था, जबकि बंगाल की कविता के इतिहास में छायावाद नहीं कहा जाता, लेकिन शुक्ल जी ने कह दिया कि कहा जा रहा था। हम इतना कह सकते हैं कि ईसाई संतों की जो फैण्टेसमाटा की अनुभूति थी वह बंगाल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं में दिखाई पड़ी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जब नोबेल पुरस्कार दिया गया तो उनकी कविताओं की धूम मच गयी और उन कविताओं के अनुकरण की एक प्रवृति हिन्दी में चल पड़ी जिसे हम छायावाद के रूप में जानते हैं। इसलिए छायावाद को विशुद्ध रूप से उन्होंने एक अनुकरण मूलक काव्य प्रवृति के रूप में स्वीकार किया।

उन्होंने इसके साथ साथ दो और स्थापनाएं कर डालीं कि अन्तर्वस्तु के धरातल पर छायावाद **रहस्यवाद** का पर्याय है और यह रहस्यवाद मध्यकालीन रहस्यवाद की परम्परा में

है। आत्मा और परमात्मा के प्रणय संबंधों के आधार पर निर्मित किया गया रहस्यवाद। उन्होंने कहा कि कबीर इत्यादि संतों में जिस रहस्यवाद की चर्चा है, उसी रहस्यवाद का अंश छायावादी कविता में दिखाई देता है। तो कंटैंट के धरातल पर छायावाद को उन्होंने रहस्यवाद कहा है। फिर उन्होंने कहा कि अभिव्यक्ति के स्तर पर छायावाद एक विशेष प्रकार की शैली है जिसका आधार है उक्तिवैचित्र्यवाद। उक्तिवैचित्र्य का अर्थ होता है एक चौंकाने वाले ढंग से, विशिष्ट ढंग से, कहने की शैली। जैसे अगर छायावादी रचनाकार को प्रेम की अनुभूति को अभिव्यक्त करना है, प्रेयसी के बिना जीवन बिल्कुल अकेला और सूना है तो छायावाद का रचनाकार इस तरह से नहीं कहेगा। उन्होंने प्रसाद को उद्धृत किया है –

झंझा झकोर गर्जन था बिजली थी निरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला।

इसमें दो–तीन चीजें दिखाई पड़ रही हैं, यह आंधी, तूफान, बारिश का चित्र है। तुम्हारे जाने पर मेरा हृदय भी उसी तरह शून्य हो गया है और तुम्हारी अनुपस्थिति में जो चीजें आ रही हैं, उसमें झंझा है, झकोर है, गर्जन है और बिजली है। झंझा का अर्थ है मानसिक विक्षोभ, गर्जन आह के लिए और बिजली का चमकना वेदना की टीस के लिए है। यानी तुम्हारी अनुपस्थिति में जो जीवन में सूनापन पैदा हुआ है उस सूनेपन में मानसिक क्षोभ, कराह और आहें और इसके साथ साथ वेदना की टीस पैदा हो रही है। एक सहज वेदना अनुभूति को एक बड़े रूपक के माध्यम से कहा गया है। इसी विशेष प्रकार की शैली में कहने की पद्धति को शुक्ल जी ने उक्तिवैचित्र्यवाद कहा और उन्हें लगा कि छायावाद का रचनाकार हर बात को एक खास शैली में व्यक्त करना चाहता है।

उस फैली हरियाली में सजा हृदय की थाली में कौन अकेली खेल रही
मां सजा हृदय की थाली।

पंत पूछ रहे हैं कि उस फैली हुई नीली हरियाली में कौन है जो अपनी हथेलियों पर थाली सजा कर खेल रही है। यह खास तरह की अनुभूति है लेकिन उतनी ही विचित्र है अर्थात् छायावाद अपनी अनुभूति और अन्तर्वस्तु के स्तर पर रहस्यवाद है और इस रहस्यवाद का सम्बन्ध परम्परा से है और अभिव्यक्ति के स्तर पर वह एक खास प्रकार की काव्यशैली है, इसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्थापित किया। इसलिए परवर्ती हिन्दी आलोचना की वास्तविक टकराहट शुक्ल जी की छायावाद संबंधी धारणा को लेकर ही होती है। आचार्य नन्ददुलारे

शुक्ल जी
अनुभूति और अन्तर्वस्तु स्तर पर रहस्यवाद है
अभिव्यक्ति के स्तर पर छायावाद काव्यशैली है

वाजपेयी ने अपने गुरू आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से पहली टकराहट छायावाद को लेकर की। उन्होंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की स्थापनाओं को छायावाद के संदर्भ में निरस्त कर दिया।

छाया का दूसरा अर्थ किया गया सूक्ष्मता। स्थूल की तुलना में छाया हमेशा सूक्ष्म होती है। यह सूक्ष्म अनुभूतियों का काव्य है। इसलिए आगे चलकर डा0 नगेन्द्र ने छायावाद की परिभाषा करते हुए कहा कि छायावाद 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है।' द्विवेदी युग में स्थूलता दिखाई देती है। द्विवेदी युग विचार को अनुभूति और कल्पना में रूपांतरित नहीं करता। वह विचार को ज्यों क्या त्यों कविता में विन्यस्त कर देता है :

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।।

यह विचार है और इसमें कुछ भी जोड़ा घटाया नहीं गया है। विचार को कविता में कह दिया गया है और अधिकांशतः ऐसा ही हुआ है।

मां कह एक कहानी,
बेटा समझ लिया क्या तूने मुझको अपनी नानी।

यह यशोधरा ने राहुल को कहानी कहने की जिद करते समय कहा था तो इसमें बहुत सपाटता है। मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है :

अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है
थोड़े में निर्वाह जहां है, ऐसी सुविधा और कहां है ?

इसलिए द्विवेदी युग में कहीं भी कल्पना और अनुभूति की गहराई और अमूर्तन नहीं है। नगेन्द्र जी कह रहे थे कि छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है इसलिए छायावाद में कुछ भी साफ नहीं आता।

मेरे प्रिय को भाता है तम के परदे में आना।। – महादेवी

महादेवी का प्रिय कभी भी दिन के उजाले में नहीं आता। हर जगह कुछ न कुछ छिपा हुआ है, कुछ है जो सतह पर दिखाई नहीं देता बल्कि जिसका एक इतिहास है। निराला जब लिख रहे थे –

बांधो न नाँव इस ठाँव बंधु, पूछेगा सारा गांव बंधु।

और फिर इस आठ लाइन की कविता में जीवन की पूरी कथा है। यह वही घाट है जिस पर वह नहाती थी। संबंधों की एक बहुत त्रासद कथा है, इसलिए यहां पर मत बांधो। हर जगह यह बात दिखाई देगी। इसमें सूक्ष्मता आ गई है। चीजें बिल्कुल स्पष्ट नहीं हैं। विचार के स्तर पर अनुभूति और मानसिकता का आग्रह बढ़ा, इसलिए जब प्रसाद 'आंसू' लिख रहे थे तो उन्होंने पंक्ति लिखी –

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छायी,
दुर्दिन में आंसू बन कर वह आज बरसने आयी।।

मस्तिष्क में, स्मृतियों में, जो संकलित पीड़ा थी वह खराब दिनों में आंसुओं के रूप में बारिश बनकर आई। इसलिए छायावाद ने स्थूलता को छोड़ दिया, सूक्ष्म पर आ गयी और यह सूक्ष्मता स्थूलता के विरोध में है या स्थूलता की प्रतिक्रिया में है। इसलिए जो स्थूल की प्रतिक्रिया में लिखा गया उसे छाया कहा गया।

1927 में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक जगह लिखा कि छायावाद से लोगों का क्या अभिप्राय है यह समझ में नहीं आता। उन्होंने कल्पना की कि शायद जिस कविता का अर्थ कविता के शब्द में नहीं बल्कि कहीं अन्यत्र हो, ऐसी कविताओं को हिन्दी में छायावादी कविता कहा जा रहा है। जैसे पेड़ कहीं होता है और पेड़ की परछाई कहीं होती है। इसलिए कविता के शब्द और अर्थ में छाया का संबंध है। द्विवेदी युग में कविता का अर्थ शब्द में है। छायावाद में कविता का अर्थ शब्द में नहीं है। अगर शब्द में ढूंढेंगे तो केन्द्र तक नहीं पहुंच पाएंगे। तो यह छायाजनित सूक्ष्मता की भी छाया के संदर्भ में एक व्याख्या की गई।

छाया की तीसरी व्याख्या की गई वायवीयता के अर्थ में। छायावाद में जीवन के सामाजिक पक्षों की तुलना में जीवन के व्यावहारिक अथवा यथार्थपरक संदर्भों को छोड़ कर एक कल्पना प्रधान अमूर्त अनुभूति को प्रधानता दी गई थी। एक इतर प्रसंग है कि छायावाद के बिल्कुल आरंभिक दौर में जो किशोर मन की अवचेतन की कुण्ठाएं हैं उनको प्राथमिकता दी गई थी। कहीं भी उसमें समाज, जीवन, परिवार, इतिहास और समय नहीं था। 'ग्रंथि' 1919 में प्रकाशित हुई थी, जो पंत की कविता है। उसमें अतृप्ति की अभिव्यक्ति ज्यादा है इसलिए सामाजिक, राजनीतिक और जीवन के जो ठोस संदर्भ हैं वे कहीं भी दिखाई नहीं देते। इसलिए छायावाद को वायवीय कहा गया, जिसका जीवन के कोलाहल से कोई संबंध नहीं है। इस

तरह से **अनुकरण, सूक्ष्म** और **वायवीय** इन तीन स्थितियों पर आधारित कविता के समूह को छायावाद के रूप में जाना गया।

प्रत्येक काव्य आंदोलन का कोई न कोई तरंग केन्द्र होता है जिसे हम मूल्य चेतना कहते हैं। जैसे भक्तिकाव्य में भक्ति केन्द्र में है, रीतिकाल में रीति है, भारतेन्दु में संक्रमण है, द्विवेदी युग सुधार है। छायावाद में यह मूल्य चेतना है 'स्वातन्त्र्य'। छायावाद की लगभग सभी विशेषताएं इसी स्वातांत्रिक चेतना से निर्मित, संचालित और विकसित होती हैं। स्वातंत्र्य चेतना हमारे ऐतिहासिक समय और समाज की संरचनाओं द्वारा सत्यापित है। यानी दोनों ही स्थितियां राजनीतिक स्तर पर भी और सामाजिक सरंचना के स्तर पर भी इस 'स्वातंत्र्य' चेतना के औचित्य को सिद्ध करती है।

राजनीतिक स्तर पर देश स्वाधीनता आंदोलन की लड़ाई लड़ रहा है और सामाजिक स्तर पर जो परम्परागत सामंतवादी ढांचा है, उस ढांचे की सीमाएं और अपर्याप्ताएं स्पष्ट होने लगी हैं नयी जीवन परिस्थितियों और शिक्षा-दीक्षा के परिणामस्वरूप एक नये सामाजिक ढांचे की आकांक्षा 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक में उभरती हुई देखी जा सकती है। इस तरह से एक परतंत्रता साम्राज्यवाद के द्वारा थोपी गई है और दूसरी परतंत्रता सामंती व्यवस्था की सामाजिकता से निर्मित है। राजनीतिक शब्दावली में सामंतवाद और साम्राज्यवाद की सम्मिलित परतंत्रताओं के बीच कवि खड़ा है और उससे मुक्ति की कोशिश करता है। इसलिए स्वतंत्रता उसकी मूल चेतना कही जा सकती है। इस कविता में आदि से अंत तक यह स्वातंत्र्य चेतना विभिन्न संदर्भों और रूपों में प्रकट होती है। इसलिए छायावाद के महत्वपूर्ण रचनाकार निराला ने जब प्रार्थना के लिए सरस्वती को देखा तो उसमें मूल मंत्र के रूप में स्वतंत्रता का जिक्र किया –

प्रिय स्वतंत्र रव अमृत मंत्र नव भारत में भर दे।

यह स्वतंत्रता का जो मंत्र है यह अमृत का मंत्र है। मां सरस्वती तुम इसे समूचे हिन्दुस्तान में भर दो। यह स्वतंत्रता कैसे अभिव्यक्त होगी ? निराला ने इसे जो बिम्ब दिया वह उड़ान का बिम्ब है। क्योंकि स्वतंत्रता उड़ान है या झरने का प्रवाह है। गति और उड़ान ही स्वतंत्रता के अर्थ को मूर्तिमान करते हैं :

नवगति नवलय ताल छंद नव
नवल कंठ नव जलद मंत्र रव।
नव नभ के नव विहग बृंद नव पर नव स्वर दे
वर दे वीणा वादिनी, वर दे।

स्वतंत्रता की आकांक्षा है और यह आसमान में उड़ते हुए विहगों में और निर्झर की गतियों में देखी गई है। इसलिए कहा है कि स्वातंत्र्य वह मूल्य चेतना है जिसे छायावाद की सभी प्रवृतियों में देखा जा सकता है।

छायावाद की पहली प्रवृति है **'वैयक्तिकता'**। कुछ लोगों ने इसे व्यक्तिवाद कहा है। दरअसल स्वतंत्रता का पहला प्रतीक है व्यक्ति। स्वाधीनता की अनुभूति सबसे पहले व्यक्ति के स्तर पर घटित होती है। छायावाद को व्यक्तिनिष्ठ काव्य कहा गया है और ऐसा कह कर उसकी सीमाएं तय की गई हैं। द्विवेदी-युग सामाजिकता का काव्य है और छायावाद वैयक्तिकता का। थोड़ा विचार करने पर यह पाया गया कि छायावाद में स्वतंत्रता की पहली अभिव्यक्ति व्यक्ति की समाजिक और मानसिक स्वतंत्रता में हुई है। लेकिन पंत ने व्यक्तिनिष्ठता को व्यक्तिवाद से अलग किया और कहा कि छायावाद में जो व्यक्ति है वह आत्मकेन्द्रित नहीं है। बल्कि छायावाद का व्यक्ति स्वतंत्र चेतना की मूल्यनिष्ठा का वाहक है। छायावाद का व्यक्ति जिस नये मूल्य का प्रतीक है वह मध्ययुगीन सामंती रूढ़ियों से मुक्त होकर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास का प्रयास था। इसलिए छायावाद इस वैयक्तिक चेतना के कारण विद्रोह का काव्य है और उसमें व्यक्ति अपने रूढ़िगत समाज और समय से मुक्ति चाहता है।

यह स्वाधीनता की बढ़ती हुई चेतना और उसके बढ़ते हुए महत्व का ही कारण है कि छायावाद में सबसे अधिक गतिशील प्रसंगों और संदर्भों का प्रयोग किया गया है। इसलिए छायावाद में संभवतः सबसे अधिक **निर्झर हैं, पक्षी हैं और बादल** हैं, ये तीनों ही स्वतंत्रता के प्रतीक हैं। छायावाद की वैयक्तिकता इन तीनों प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है।

पहली तो है, मैं शैली। छायावाद 'मैं शैली' की कविता है। अगर इसकी तुलना द्विवेदी युग से करें तो द्विवेदी युग में जो मैं है वह व्यक्तिवादी नहीं है बल्कि वह एक प्रकार की प्रातिनिधिकता है। द्विवेदी युग में जहां कहीं 'मैं' आता है वह कवि का 'मैं' नहीं है बल्कि वह पात्रों का 'मैं' है। छायावाद में 'मैं' न तो प्रतीक है न प्रतिनिधि है बल्कि वहां स्वयं रचनाकार

है। इसलिए छायावाद की प्रायः सभी रचनाएं 'मैं' परक शैली में लिखी गई हैं। यहां तक कि प्रबंध या महाकाव्य समझी जाने वाली कामायनी में भी जो मनु के रूप में 'मैं' है उस पर प्रसाद की परिस्थितियों और व्यक्तित्व की छाया दिखाई देती है। लेकिन निराला, पंत, महादेवी में यह 'मैं' सीधे सीधे प्रकट होता है।

कुछ उदाहरण हैं। निराला की कविता है – 'मैंने मैं शैली अपनाई।' इस 'मैं' शैली के माध्यम से ही कविता और जीवन के बीच एक प्रामाणिक संबंध स्थापित किया जा सकता था। छायावाद की कविता दूसरों के लिए और दूसरों पर नहीं है। छायावादी कविता के केन्द्र में कहीं न कहीं व्यक्ति का 'मैं' है। इस 'मैं' का रचनाकार विस्तार करता है। लेकिन यह दूसरों के लिए और दूसरों पर नहीं है बल्कि अपने जीवन की परिस्थितियों से इस कविता का निर्माण हुआ है। निराला ने जब लिखा कि 'मैंने मैं शैली अपनाई' तो वे अपने लिए और समूचे छायावाद के लिए ऐसा कह रहे थे। महादेवी की पंक्ति लें – 'मैं नीर भरी दुखी की बदली।' यह अपने जीवन के बारे में है। कामायनी में एक स्थान पर मनु कहते हैं –

"वन गुहा कुंज मरू अंचल में हूं खोज रहा अपना विकास।"

इससे भी मार्मिक प्रसंग वह है जहां पर श्रद्धा के साथ मनु की बातचीत शुरू होती है, जहां श्रद्धा पूछती है कि कौन हो तुम ? वहां पर मनु जो परिचय देते हैं वह मनु का नहीं प्रसाद का परिचय है। तो शैली के स्तर पर मैं वैयक्तिकता का ही प्रतिनिधित्व करती है।

इस वैयक्तिकता की दूसरी अभिव्यक्ति **आत्मकथात्मकता** में होती है। इसलिए मैं से नियंत्रित होने के कारण या वैयक्तिकता से नियंत्रित होने के कारण छायावाद के सभी रचनाकारों ने आत्मकथात्मक कविताएं, आत्म संदर्भों से जुड़ी हुई कविताओं की रचना की। यह अकारण नहीं है कि छायावाद ने शायद भक्तिकाल के बाद पहली बार इतने बड़े पैमाने पर आत्मकथात्मक कविताएं लिखी गई। निराला में चूंकि वैयक्तिकता का आग्रह बहुत प्रबल है इसलिए निराला ने सबसे अधिक आत्मकथात्मक कविताएं लिखीं। यहां तक कि प्रसाद जैसे संकोची रचनाकार भी अपनी कुछ कविताओं में आत्मकथात्मक अंशों का इस्तेमाल करता है। पहले प्रसाद की कविता है जो 'हंस' के आत्मकथा विशेषांक में प्रकाशित हुई थी। शीर्षक है 'मधुप गुनगुना कर कह जाता कौन कहानी यह अपनी।' उस कविता में कुछ ऐसे प्रसंगों का जिक्र प्रसाद ने किया है, जो निजी हैं, बहुत वैयक्तिक हैं। उसमें दो अंश हैं :

मिला कहां वह सुख जिसका मैं स्वप्न देख कर जाग गया।
आलिंगन में आते आते मुस्का कर जो भाग गया।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊं उन मधुर चांदनी रातों की।
अरे खिलखिला कर होने वाली उन बातों की।।

एक बहुत सघन निजी प्रेम प्रसंग है। चांदनी रात है, हंसी की खिलखिलाहटें हैं, अधूरा और अतृप्त हवा में टंगा हुआ एक आलिंगन है। ये बहुत निजी प्रसंग हैं जिनका जिक्र कविता में हो रहा है। लेकिन निराला के यहां आत्माभिव्यक्ति या आत्मकथात्मकता सबसे प्रबल है। इसका उदाहरण यह है कि निराला ने एक पूरी लम्बी आत्मकथात्मक कविता लिखी 'सरोज स्मृति'। अपनी बेटी की मृत्यु पर लिखी गई कविता है। उसमें निराला ने इस कविता को आत्मदास्तान के रूप में प्रस्तुत किया और इसमें निराला ने अपने संघर्ष, आर्थिक अभाव, जीवन की दरिद्रता, अकेलापन ये तमाम सारी चीजें दिखाई पड़ती है। लेकिन छोटी कविताओं में भी निराला सीधे सीधे अपने को केन्द्र में रखकर अपने जीवन का सारांश कह रहे थे। कुछ उदाहरण :

मैं अकेला, देखता हूं आ रही मेरे जीवन की सांध्य बेला।

यह किसी दूसरे के लिए नहीं कहा गया है, अपना ही जीवन है :

पके आधे बाल मेरे, हुए निष्प्रभ गाल मेरे
चांद मेरी मंद होती जा रही हट रहा मेला।

यह जीवन की ढलान पर उतरता हुआ बुढ़ापा है जिसमें मेला खत्म हो रहा है, लोग किनारा कर रहे हैं और जीवन की स्थिति शिथिल हो रही है, गाल पिचक रहे हैं, बाल आधे पक गये हैं। यह वृद्धावस्था का एक मर्मांतक अनुभव है। फिर एक जगह उन्होंने लिखा –

स्नेह निर्झर बह गया है, रेत ज्यों तन रह गया है।

पानी बह गया है और जीवन रेत के टीले की तरह शेष रह गया है। फिर एक दूसरी जगह लिखा है –

दुखता रहता है अब जीवन जैसे पतझड़ का वन उपवन।

निराला का जीवन दरअसल एक बेहद लोमहर्षक संघर्ष में, एक नैतिक और निहत्थे मनुष्य की गाथा है। तो निराला प्रबंध कविता में 'राम की शक्ति पूजा' में भी और 'बन बेला' में भी कह रहे थे –

हो गया व्यर्थ जीवन मैं रण में गया हार।

जीवन व्यर्थ हो गया।

छायावाद में प्रकृति व्यक्ति की स्वाधीन आकांक्षा के प्रतीक के रूप में आई। इस प्रकृति के माध्यम से छायावाद के रचनाकार ने संसार के साथ एक नया परिचय स्थापित किया।

'खुले पलक फैली सुवर्ण छवि
जगी सुरभि, डोले मधुबाल,
स्पंदन, कंपन औ नवजीवन सीखा जग ने अपनाना।'

जगत ने प्रकृति से जो सीखा उसमें स्पंदन था, कंपन था, नवजीवन था, सुगंध थी, हवाएं थीं और एक सुनहला प्रकाश था जो धरती आकाश और आंखों की सरहदों तक छाया हुआ था। यह एक नयी दृष्टि और आलोक था। इस नयी दृष्टि और आलोक के माध्यम से दुनिया का नया रूप देखा। इस तरह से प्रकृति जागरण के संदर्भ में, स्वाधीनता की आकांक्षा के संदर्भ में, वैयक्तिक विकास की भावना के संदर्भ में छायावाद में प्रयुक्त हुई। इस तरह से छायावादी कवियों ने प्रकृति के साथ एक गहन रागात्मक संबंध जोड़ा। प्रकृति मात्र भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं थी बल्कि छायावादी कवियों ने उसके साथ एक संबंध स्थापित किया। इसलिए प्रकृति के कई रूप दिखाई देते हैं छायावाद में। कहीं वह सहचरी है, कहीं सखी है, कहीं प्रेयसी है, कहीं मां है। अनेक मानवीय संबंधों में प्रकृति को ग्रहण करने की प्रवृति दिखाई देती है।

– प्रकृति का मानवीकरण

छायावादी कवियों ने प्रकृति के साथ इस गहरी तादात्म्यता के आधार पर उसका मानवीयकरण किया। प्रकृति का मानवीयकरण तभी संभव है जब उसके साथ एक बहुत गहरा भावात्मक संबंध प्रतीत हो। जो बोल नहीं सकते या जिनसे भाषा में बात नहीं हो सकती उनसे भी बात तब संभव हो पाती है यदि उनके साथ बहुत गहरा भावात्मक संबंध पैदा हो जाये। क्योंकि संवाद संबंधों के बिना संभव नहीं होता और संबंध इतना प्रगाढ़ है कि प्रकृति बोलती नहीं है। लेकिन प्रकृति के साथ सुख दुख बांटने और उसे मनुष्य की तरह प्रस्तुत करने की प्रवृति विकसित हुई। संवाद को मनुष्य के रूप में प्रस्तुत करना इस बात पर निर्भर करता है कि वह कितना गहरा संबंध गहरापन करता है। इसलिए प्रकृति से सवाल भी पूछे गये हैं। पंत ने एक स्थान पर पूछा – 'उस फैली हरियाली में, कौन अकेली खेल रही मां, वह अपनी वय

बाली में, सजा हृदय की थाली में।' 'मां' यहां प्रकृति है। सवाल है तो ऐसा सवाल है जो शिशु अपनी मां से पूछ रहा है।

'संध्या सुंदरी' निराला की बहुत प्रसिद्ध कविता है– 'मेघमय आसमान से उतर रही है संध्या सुन्दरी परी सी धीरे–धीरे' ..... बादलों से भरे हुए आसमान से सांझ की परी उतर रही है धीरे धीरे। और उसके पैरों में पायल है, आंखों में काजल है, बाल खुले हुए हैं, सुन्दर है, चेहर पर चांद की चमक है।

वैसे ही सुमित्रानन्दन पंत जिन्हें 'प्रकृति का सुकवि' कहा गया है, उनकी बहुत प्रसिद्ध कविता है 'नौका बिहार'। उसमें गंगा का चित्रण उन्होंने एक बाला के रूप में किया है – 'तापस बाला गंगा निर्मल' – गोरे अंगों पर सिहर सिहर लहराता तार तरल सुंदर चंचल अंचल सा नीलाम्बर।' गंगा के प्रवाह में उठती हुई जो लहरें हैं और उन लहरों पर पड़ती हुई जो आसमान की नीली छाया है उसकी कल्पना पंत ने लहराते हुए नीले आंचल से की है। गर्मी की गंगा है जो दुबली पतली है एक लड़की के रूप में गंगा की परिकल्पना की गई है। 'तापस बाला गंगा निर्मल लेटी है श्रांत क्लांत निश्चल।' शांत और क्लांत रेत के बिस्तर पर लेटी हुई है। आप देख सकते हैं कि मानवीकरण की प्रवृति बहुत प्रबल है और यह गहरे रागात्मक संबंधों के कारण है।

छायावाद में प्रकृति के दोनों रूपों का चित्रण प्रधानता से दिखाई देता है। एक प्रकृति वह है जो फूल की हंसी के रूप में और झरनों के गीत के रूप में सुनाई देती है अपने को अभिव्यक्त करती है। दूसरी प्रकृति विराटता वाली भी है। ये दोनों ही प्रकृति के रूप हो सकते हैं; उसके विध्वंसक रूप, उसके कठोर रूप और उसका बहुत काव्यात्मक, संगीतात्मक रूप। प्रकृति के बेहद कठोर, परुष रूपों के चित्रण में विशेष तौर पर निराला और प्रसाद अप्रतिम हैं। निराला की कविताओं में खासतौर पर 'राम की शक्ति पूजा' और प्रसाद की कविताओं में विशेष तौर पर 'कामायनी' में **प्रकृति के प्रलयंकारी रूप** दिखाई देते हैं। पहले राम की शक्ति पूजा से– 'सतघात वर्त तरंग भंग उठते पहाड़।' यह समुद्र के बिल्कुल अशांत हो जाने का वर्णन है। 'जल राशि राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़।'

और प्रकृति के रौद्र रूपों के चित्रण की दृष्टि से कामायनी के चिंता सर्ग की वे पंक्तियां अविस्मरणीय हैं, जब प्रलय घटित हो रहा है और उस समय समुद्र की क्या दशा है, पानी की गति कैसी है उसका चित्रण है – 'उधर गरजती सिंधु लहरियां कुटिल काल के

जालों सी। चली आ रही फेन उगलती फन फैलाए व्यालों सी।' क्रुद्ध सांपों के समूह की तरह फेन उगलती लहरें सांपों की तरह बढ़ी आ रही हैं। यह बेहद अशांत और विध्वसंकारी चित्र है समुद्र का जो अन्ततः प्रलय में परिवर्तित हो गया। खासतौर पर बेहद अशांत समुद्र का चित्र ही छायावाद में बार बार आता है जब वे प्रकृति के ध्वंस का इस्तेमाल करते हैं।

इसी प्रकृति के कोमल रूप भी उसी राम की शक्ति पूजा और 'कामायनी' में मौजूद हैं। कामायनी का 'आशा' सर्ग प्रकृति के बेहद कोमल और संवेदनशील रूप से शुरू होता है। राम की शक्ति पूजा में – 'ऐसे क्षण अंधकार घन में जैसे विद्युत, जागी पृथ्वी तनयाकुमारिका छवि अच्युत।' गाते खग नवजीवन परिचय तरु मलय वलय, देह प्रपात स्वर्गीय ..... पक्षियों का गान, सुबह की धूप का उतरना, सुबह की धूप और हवा में हिलती हुई पत्तियां ये कोमल प्रसंग पृथ्वी के हैं। इस तरह से प्रकृति अनेक रूपों में छायावाद में दिखाई पड़ती है। उसके कुछ सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण हैं। इसी तरह से प्रकृति और कविता के बीच में एक नितांत नयी संबंध चेतना का सूत्रपात छायावादी कविता करती है। प्रकृति को इस रूप में छायावाद से पहले और बाद में नहीं देखा गया। यह प्रकृति का वैशिष्ट्य है जिसमें वह एक से अधिक भूमिकाओं में मनुष्य और कविता की कल्पना में उपस्थित होती है।

अगला बिन्दु है नारी। छायावाद में नारी की प्रधानता इतनी है कि बहुत दिनों तक छायावाद को स्त्रैण काव्य के रूप में जाना जाता रहा। यानी उसमें पुरुष भाव की तुलना में स्त्री भाव, स्त्री मानसिकता, स्त्री संवेदना की प्रधानता है। लेकिन छायावाद की पृष्ठभूमि में उपस्थित द्विवेदी युग का निषेध, अनुशासन, अनुशासन का आतंक, चूंकि संस्कार के रूप में मौजूद है इसलिए छायावाद के आरंभिक चरण में स्त्री के साथ संबंध में एक संकोच भाव दिखाई देता है। छायावाद के बारे में यह ध्यान देने वाली बात है कि छायावाद एक विकसनशील काव्य है, वह परिस्थितियों के हिसाब से संस्कारों के हिसाब से परिवर्तित होता हुआ चलता है। इसलिए आरंभिक छायावाद में और अंतिम चरण के छायावाद में बहुत फर्क दिखाई पड़ेगा। तो द्विवेदी के आतंक और निषेध के संस्कार से ग्रस्त होने के कारण आरंभ में स्त्री के प्रति एक संकोच का भाव दिखाई देता है और इस संकोच के कारण छायावादी रचनाकार स्त्री की तुलना में प्रकृति के साथ संबंध जोड़ने को अधिक श्रेयस्कर मानता है।

पंत की चर्चित कविता है – 'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया तोड़ प्रकृति से भी माया। बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूं लोचन।' लड़की बताओ कि पेड़ों की छाया को छोड़ कर

और प्रकृति से संबंध तोड़ कर मैं तुम्हारे बालों में अपनी आंखें कैसे उलझा दूं। निर्णय आता है– 'छोड़ अभी से इस जग को।' मैं इसे छोड़ कर प्रकृति की स्वच्छंदता में विचरण करना चाहता हूं। आप देख सकते हैं छायावाद के आरंभ में स्त्री को लेकर थोड़ी संकोच की भावना है। यह संकोच भाव छायावाद के विकासक्रम में धीरे धीरे कम होता है।

छायावाद की स्त्री मानसिक स्त्री है, उस स्त्री का संबंध सामजिक व्यवस्था की इकाई से नहीं है। छायावादी रचनाकार स्त्री को सामाजिक संबंधों में नहीं, बल्कि उसे कल्पना और भावना के आइने में चित्रित करता है। उस स्त्री में एक अमूर्तन है। ध्यान दें तो इसी दौर में प्रेमचन्द लिख रहे थे, प्रेमचन्द की स्त्री वह स्त्री थी जो सामाजिक व्यवस्था और उसके बंधनों में जकड़ी हुई थी, सभी प्रकार के आर्थिक और सामाजिक अधिकारों से वंचिता, पुरुष पर पूरी तरह आश्रित और पुरुष प्रधान सामाजिक व्यवस्था में तिल तिल मरने के लिए अभिशप्त। प्रेमचन्द के युग में ही छायावादी भी लिख रहे हैं लेकिन छायावाद में स्त्री के पास कोई समस्या नहीं है, क्योंकि वह स्त्री समाज से नहीं उठाई गई है, बल्कि दिमाग की कल्पना से निर्मित की गई है।

इसलिए स्त्री के प्रति एक अक्षत पवित्रता का भाव दिखाई देता है, क्योंकि वह स्त्री पत्नी नहीं है। पंत ने लिखा है कि – 'तुम्हारे छूने में था प्राण।' लेकिन यह छूना कैसा है, यह अलग से कहना पड़ा, क्योंकि छूना शायद देह की आकांक्षा या वासना से भी संपृक्त हो सकता है। लेकिन इन्होंने कहा है – 'तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगा स्नान।' जब तुम छूती थी तो जीवन लौट आता था और ऐसा लगता था जैसे गंगा की पवित्र लहरों में जीवन ने स्नान कर लिया है। जीवन पवित्र हो जाता था। यानी छूने में प्राण और पवित्रता का बोध साथ साथ है इसलिए छायावाद की स्त्री सामाजिक व्यवस्था और धरती पर रहने वाली स्त्री नहीं है। पंत ने एक स्थान पर कहा कि 'तुम्हारे स्वभाव में चांदनी रहती है, और तुम्हारी सांसों में बच्चे की सांसें घुली हुई हैं।' बच्चों की सांस की तरह निश्छल और चांदनी की तरह पवित्र और पारदर्शी है स्त्री। छायावाद जिस स्त्री को हमारे सामने प्रस्तुत करता है उसे सामाजिक अनुभवों के व्याकरण से नहीं समझा जा सकता।

दूसरी बात कि स्त्री के प्रति छायावादियों का दृष्टिकोण मध्यकालीन या सामंतवादी संस्कारों से प्रभावित है। इसलिए एक तरफ वह स्त्री को पवित्रता का, श्रद्धा का, जीवन का प्रतिमान मानता है तो दूसरी तरफ इस बात पर भी बल देता है कि स्त्री की सार्थकता पुरुष

के लिए समर्पित हो जाने में है। सामंतवादी दृष्टि का विरोधाभास यह है कि वह एक तरफ स्त्री को देवी के रूप में पूजता है और दूसरे स्थान पर वह स्त्री को सभी प्रकार के अधिकारों से वंचित रखना चाहता है। इसलिए यह देश दुर्गा की पूजा करता है और इसी देश की परम्परा में स्त्री के लिए एक विशेषण गढ़ा जाता है जिसे 'अबला' कहा जाता है। इस विरोधाभास से आप निपट नहीं पायेंगे, दुर्गा भी है और अबला भी है। ये दोनों नहीं हो सकते। यह सामंतवादी दृष्टि का विरोधाभास है। इस सामंतवादी दृष्टि से प्रभावित होने के कारण छायावाद में स्त्री के प्रति यह अन्तर्विरोधी दृष्टि दिखाई देती है।

जो आदर्श स्त्री के प्रति है उस भाव में बहुत हद तक सामंती मूल्यों की प्रधानता और दबाव दिखाई देते हैं। स्त्री को देवी बनाने की जरूरत नहीं है स्त्री को मनुष्य बनाने की जरूरत है ताकि उसे हम मनुष्य की तरह अधिकार दे सकें और उसके साथ जी सकें। लेकिन यह इतिहास और सामाजिक बनावट की एक विचित्र विडम्बना है कि हम किसी को बहुत महान बना देने के बाद उसकी गर्दन उतार लेते हैं। इतिहास ने कभी बुद्ध को बहुत महान बना दिया, आधुनिक युग में गांधी को बहुत महान बना दिया गया, गांधी राष्ट्रपिता हैं, बापू हैं। गांधी को अगर मनुष्य के रूप में या व्यवहारिक चिंतक के रूप में रखेंगे तो गांधी बहुत परेशानियां पैदा कर सकते हैं। छायावाद की स्त्री की भूमिका भी बस यहीं तक है।

इस दृष्टि से सामंती जीवन की जो विरोधाभास स्त्री को लेकर है वह कामायनी में दिखाई देता है। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पगतल में। पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।' संक्षेप में अर्थ है तुम श्रद्धा की वह नदी हो जो पहाड़ के चरणों में प्रवाहित होती है, इस तरह से पहाड़ के चरणों में बहती हुई वह जीवन को अमृतत्व प्रदान करती है। स्त्री तुम श्रद्धा हो और श्रद्धा होने के नाते पहाड़ रूपी पुरुष के चरणों में प्रवाहित होकर उसे अमृत प्रदान करो। श्रद्धा होते हुए उसकी सार्थकता पुरुष के चरणों के बहने में है।

कामायनी के लज्जा सर्ग के अंत में स्त्री की जिस नियति को प्रसाद ने रेखांकित किया है वह विशुद्ध सामंतवादी नियति है। 'आंसू से भीगे आंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा। तुमको अपनी स्मृति रेखा से यह संधि पत्र लिखना होगा।' आंसू से भीगे आंचल पर अपना पूरा मन रखना होगा और अपने मुस्कुराहट के हस्ताक्षर से पुरुष के साथ एक संधि पत्र तैयार करना पड़ेगा। यानी पुरुष और स्त्री के संबंधों के संधि पत्र पर तुम्हें अपनी मुस्कराहट से

हस्ताक्षर करने पड़ेंगे। यह दृष्टि प्रसाद की कामायनी में है। इसलिए स्त्री के प्रति जो छायावादियों का दृष्टिकोण दिखाई देता है उसमें कहीं न कहीं पुरुष प्रधान समाज के सामंती भाव की प्रबलता दिखाई देती है।

लेकिन महादेवी स्त्री के प्रति एक भिन्न दृष्टिकोण का परिचय देती हैं और वह महसूस करती हैं कि स्त्री को अपने प्राणों की छटपटाहट के माध्यम से अकेलेपन के तमाम खतरों को झेलते हुए नए रास्ते का निर्माण करना पड़ेगा – 'पंथ रहने दो अपरिचित प्राण होने दो अकेला।' इस अकेले प्राण के बल पर और अपरिचित रास्तों के तमाम खतरों के बावजूद स्त्री की एक नयी पहचान बनाने की कोई आकांक्षा छायावाद की स्त्री में मौजूद है। इसलिए छायावादी स्त्री की चेतना का प्रतिनिधित्व करती हुई महादेवी एक कविता में कहती हैं – 'रात्रि के उर में दिवस की चाह का सर हूँ।' रात की छाती में मैं दिन की इच्छा का धंसा हुआ तीर हूँ। यह जो रात पुरुष प्रधान व्यवस्था है उस व्यवस्था की छाती में दिन की इच्छा का धंसा हुआ तीर स्त्री है। यह दूसरी छवि है। दूसरा आयाम उभरता है जब हम महादेवी के पास आते हैं।

इस तरह से स्त्री को लेकर छायावाद में तीन बातें सामने आती हैं। पहली बात यह है कि छायावाद की स्त्री का सामाजिक अधिरचना के साथ कोई संबंध नहीं है। वह सामाजिक सत्ता के बीच से नहीं उठाई गई है बल्कि वह एक मानसिक सृष्टि है। इसके प्रति एक पावनता का भाव छायावादियों में दिखाई देता है। दूसरा छायावाद में स्त्री के प्रति सामंती दृष्टि की प्रधानता है। तीसरा है महादेवी के यहां स्त्री के आत्मविश्वास और उसकी चुनौतियों के कुछ संकेत जरूर हैं लेकिन वे इतने अधिक नहीं हैं कि उन्हें छायावाद की प्रधान प्रवृति के रूप में देखा जा सके।

छायावाद में प्रधानता नारी के प्रेयसी रूप की है। अन्य मानवीय संबंधों की तुलना में प्रेयसी रूप की प्रधानता छायावाद में दिखाई देती है। नामवर सिंह ने इसकी तरफ ठीक संकेत किया है कि नारी के सभी सामाजिक रूपों को न अपनाते हुए भी छायावादी कवि ने एक ही क्षेत्र में नारी की जो महिमा प्रदान की वह स्तुत्य है। श्रद्धामयी, करुणामयी, कल्याणमयी, कलामयी तथा प्रेममयी जीवन सहचरी नारी का चित्रण करके छायावादी कवियों ने समाज और साहित्य को जीवन रस से सींच दिया। इसलिए नारी के प्रति जो छायावाद के दृष्टिकोण का

सारांश है, पंत की इस कविता में समेटा जा सकता है 'अकेली, सुन्दरतामयी, कल्याणमयी, सकल ऐश्वर्यों की संधान, देवी, मां, सहचरि, प्राण।'

'राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना' – छायावाद पर यह आरोप रहा है कि यह व्यक्तित्ववाद का काव्य है और व्यक्तित्ववादी घेरे में आबद्ध होने के कारण यह कविता अपनी ज्वलंत परिस्थितियों और मुद्दों के साथ कोई संवाद नहीं करती। राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के दौर में ये कवि अपने प्रेम और सौंदर्य चेतना की कोख में कैद दिखाई देते हैं। एक घेरे में अपने को बांध रखा है इसलिए सामाजिक जीवन के तूफान और हाहाकर तथा मुद्दे इन कवियों तक नहीं पहुंचते। वह एक परिस्थिति विमुख और समाज विमुख कविता के रूप में ही प्रस्तुत की गई थी।

संभव है कि छायावाद के आरंभिक चरण की कविताओं में ये बातें एक हद तक सच हों लेकिन अपनी विकास प्रक्रिया में छायावाद धीरे-धीरे वैयक्तिकता की खोल से बाहर निकलता है और वह राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम भी बन जाता है। इसमें शक नहीं है कि छायावाद की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना में राजनीतिक नारेबाजी और हुल्लडपन का अभाव है। छायावाद की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना में उसकी प्रकृति के अनुसार एक शालीनता और सूक्ष्मता विद्यमान है। इसलिए द्विवेदी युग की तुलना में छायावाद की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना की प्रकृति सूक्ष्म है, एक हद तक अमूर्त भी है। लेकिन इसके बावजूद इस कविता की समूची यात्रा को देखे हुए उसमें राष्ट्रीय सांस्कृतिक संदर्भों के अनेक प्रसंग दिखाई पड़ जाते हैं।

इस दृष्टि से छायावाद की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना की पहली अभिव्यक्ति 'जागरण की चेतना' में होती है। छायावादी कविताओं में बार बार इस बात का जिक्र होता है कि 'रात बीत गई है, सोये हुए लोगो अब जगो।' यानी जागरण का आहवान कविता में बार बार है। छायावाद के सभी कवितायों ने प्रायः 'जागरण' का जिक्र किया है और उस जागरण में रात के बीतने की सूचना है। यह मूर्छा की रात है। यह पराधीनता की रात है। यह सामाजिक जड़ता की रात है, अज्ञानता की है, जो बीत गई है। इसलिए रात के बीतने और फिर व्यक्ति और समाज को जगाने का स्वर कविता के स्तर पर सुनाई पड़ता है।

कुछ कवियों की कुछ पंक्तियां देखिए जिनमें जागरण की चेतना के पक्के सबूत दिखाई देते हैं। पहले प्रसाद की कविता – 'बीती विभावरी जागरी'। रात बीत गई है, हे सखि

जाग। हालांकि यह प्रेम कविता की तरह है लेकिन जागने, जगाने और रात बीतने के संकेत स्पष्ट हैं। दूसरी कविता निराला की 'तुलसीदास' – 'जागो जागो आया प्रभात बीती वह बीती अंध रात।' जागो कि प्रभात आ गया है, जो अंधेरी रात थी वह बीत गई है। पंत लिख रहे थे– 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि तूने कैसे पहचाना।' सुबह हो गई, पक्षी बताओ कि, तुम्हें कैसे पता चला। यहां भी रात के बीत जाने और सुबह हो जाने के संकेत स्पष्ट हैं। महादेवी की कविता है – 'जाग तुझको दूर जाना। चिर सजग आंखें उनिंदी आज कैसा व्यस्त बाना जाग तुझको दूर जाना।' हमेशा सावधान रहने वाली आंखों में खुमारी क्यों है, तुम्हारा बाना अस्त व्यस्त क्यों है ...

निराला में स्वाधीनता की चेतना अनेक स्तरों पर प्रतिफलित हुई है और इस संदर्भ में जो बहुत चर्चित कविता है वह है – 'जागो फिर एक बार।' इस तरह से राष्ट्रीय चेतना के कुछ बाहरी रूप भी हैं जिनमें कुछ आह्वान है जिसमें कहीं पर उद्बोधन का भाव भी है। प्रसाद की पंक्तियां हैं – 'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती, स्वयं प्रभा समुज्वला स्वतंत्रता पुकारती।'

लेकिन छायावाद की सांस्कृतिक चेतना इन बाहरी ढांचों के अतिरिक्त एक सूक्ष्म स्तर पर भी दिखाई देती है। छायावाद सांस्कृतिक स्तर पर पश्चिम के साथ एक बौद्धिक मुठभेड़ करता है। पश्चिम के सांस्कृतिक मूल्यों और हिन्दुस्तान के सांस्कृतिक मूल्यों को आमने सामने किया गया है और यह बौद्धिक मुठभेड़ कामायनी में दिखाई पड़ती है। कामायनी में दो संस्कृतियां मौजूद हैं। एक संस्कृति भाववादी है जिसकी सूत्रधारिणी है श्रद्धा। दूसरी संस्कृति इड़ा के द्वारा संचालित है और इस संस्कृति के आधार पर मनु एक ऐसी सभ्यता का निर्माण करते हैं जिसे हम वैज्ञानिक सभ्यता कह सकते हैं। इसलिए उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश में जिस नयी संस्कृति का निर्माण मनु इड़ा के सहयोग से करते हैं वह व्यंजनात्मक स्तर पर पश्चिमी संस्कृति है। कामायनी में प्रसाद ने इस वस्तुवादी संस्कृति की अनेक विसंगतियों और विडम्बनाओं की ओर संकेत किया गया है। यह यांत्रिक सभ्यता है जो मनुष्य की सहजता का क्षरण करती है और लोकतंत्र के आधार पर एक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष तानाशाही को जन्म देती है। यांत्रिक सभ्यता में लोकतंत्र लोक के प्रति नहीं बल्कि शक्ति के प्रति अधिक समर्पित होता है।

यंत्र सभ्यता की अनेक विकृतियां हैं जिनका जिक्र कामायनी में किया गया है। एक स्थान पर एक पात्र मनु से कहता है कि यंत्रों का आविष्कार करके तुमने हमारी मानवीय शक्तियों का अपहरण किया। यंत्रों ने मनुष्य की सहज और स्वाभाविक शक्ति को नष्ट कर दिया। इसलिए यंत्र सभ्यता ने मनुष्य के जीवन में अस्वाभाविक रूप से विलास और विकलांगता की भावना विकसित की।

वहां पर मनु संविधान का निर्माण करते हैं, वह मानते हैं कि चूंकि मैंने नियमों का निर्माण किया है इसलिए मैं नियमों से परे हूं। जिस इड़ा के साथ उन्होंने मिलकर सभ्यता का निर्माण किया है वह इड़ा को शराब के नशे में अपनी संगिनी बनाना चाहते हैं और इड़ा उसका प्रतिरोध करती है। तब कहते हैं कि मैं प्रजापति हूं और इस सृष्टि में किसी को अधिकार नहीं है कि प्रजापति की इच्छा का अनादर करे। इसलिए जब वह बगावत करती है, जब देवता क्रुद्ध हो जाते हैं और समाज में जब सूचना पहुंचती है तो समाज में असंतोष पैदा होता है और मनु के खिलाफ एक बगावत शुरू होती है। कामायनी में एक युद्ध दिखाया गया है जिसमें अंततः मनु की पराजय होती है और घायल अवस्था में पड़े हुए मनु श्रद्धा के सपने में दिखाई पड़ते हैं। फिर वह आती है और मनु को ले जाती है।

इतनी उन्नत सभ्यता का निर्माण करने के बावजूद जो अत्याचार और अधिनायकवाद है उसमें कहीं कोई कमी नहीं आती। पश्चिम यह कह रहा है कि समाधान प्रकृति पर नियंत्रण से है क्योंकि जीवन की सभी समस्याएं इसलिए हैं क्योंकि प्रकृति अनियंत्रित है। अगर प्रकृति का नियंत्रण हो जाए तो समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है। प्रकृति पर नियंत्रण का माध्यम है टेक्नालॉजी। इस विवाद को आज के संदर्भ में भी खड़ा किया जा सकता है और एक बहुत जीवंत विवाद है।

एक सभ्यता वह है। दूसरी सभ्यता श्रद्धा के साथ है। श्रद्धा मनु के साथ एक गुफा में रहती है और जीवन की बहुत कम जरूरतें हैं जीवन बहुत सहज है। लेकिन मनु कहते हैं कि इस तरह के जीवन से तो अच्छा है कि मर जाएं। जिस जीवन में कोई चुनौती नहीं है, कोई विकास नहीं है। यहीं पर दो संस्कृतियां आमने सामने दिखाई पड़ती है। पश्चिम के अनुसार विकास का अर्थ है प्रकृति पर नियंत्रण, मनुष्य की इच्छाओं में इजाफा, जीवन की कृत्रिमता। यानी भोग करने के अधिक अवसरों का निर्माण या प्रकृति से अधिक से अधिक दूर हटने और कटने के अवसरों का निर्माण पश्चिम के अनुसार विकास का मूल आधार है। प्रसाद ने कहा

कि पश्चिम की जो विकास की अवधारणा है वह अवधारणा संस्कृति और मनुष्यघाती अवधारणा है और यह अन्ततः युद्ध और विध्वंस की तरफ ले जाती है।

गांधी भी एक सभ्यता का निर्माण करना चाहते थे, ऐसी सभ्यता जो मनुष्य की जरूरतों को राक्षस के रूप में परिवर्तित नहीं कर दे, जिसमें दूसरों की पीड़ा और दूसरों की जरूरत की संवेदना बची रहे और यदि हम पूरी तरह से यंत्र सभ्यता पर आधारित हो जायेंगे तो दूसरे खत्म हो जायेंगे या दूसरे हमारे मशीनीकरण के रूप में बचे रहे जायेंगे। इसलिए जो व्यापक मानवीय संवेदनीयता है या जिससे समाज बनता है या जिससे सामाजिकता उत्पन्न होती है, यंत्र सभ्यता उस सामाजिकता को नष्ट कर देगी। बहुत सूक्ष्म स्तर पर इस प्रश्न को प्रसाद उठाते हैं।

इस कोलाहल से भरे हुए युद्ध क्षेत्र से मनु को उठा कर श्रद्धा कैलाश पर ले जाती है। एक उंचाई पर चढ़ने के बाद तीन बड़े बड़े गोले दिखाई देते हैं, तीनों गोले इच्छा, क्रिया और ज्ञान के लोक हैं। तीनों का सूत्र श्रद्धा बताती है। वह एक स्थान पर कहती है कि मनुष्य की जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि इच्छा, क्रिया और ज्ञान में कोई संबंध नहीं है, ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न इच्छा क्यों पूरी हो मन की। वैयक्तिक स्तर पर जो हम जानते हैं और जो हम जीते हैं और जिसकी हम इच्छा करते हैं इन तीनों के बीच कोई संबंध नहीं होता और यही जीवन की वास्तविक विडम्बना है। सामाजिक स्तर पर राजनीति, धर्म और विज्ञान के बीच कोई संबंध नहीं है इसलिए अनेक सभ्यतागत विडम्बनाओं का निर्माण होता है। राजनीति, विज्ञान और धर्म को एक दिशा में काम करना चाहिए और वैयक्तिक स्तर पर इच्छा, ज्ञान और क्रिया के बीच में एक संबंध होना चाहिए। इससे जीवन में संतुलन पैदा होगा। तीनों लोकों का रहस्य बताने के बाद पूछते हैं कि ये तीनों अलग अलग रहेंगे तो जीवन में समरसता कैसे पैदा होगी। तब वह मुस्कराती है और उसकी मुस्कुराहट में वे तीनों गोले एक दूसरे में समा जाते हैं और तब शैवाद्वैत के आधार पर दर्शन का सहारा प्रसाद लेते हैं और श्रद्धा की इस मुस्कुराहट से जब तीनों एक में हो जाते हैं तब कामायनी की अंतिम पंक्तियां आती हैं –

समरस थे जड़ या चेतन, सुंदर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती आनंद अखंड घना था।।

जब सब कुछ समरस हो जायेगा तो जो बचा रह जायेगा वह अखंड आनंद होगा। इसलिए अंततः इस दर्शन पर भी आते हैं कि समरसता की पहली अनुभूति व्यक्ति के स्तर पर होगी

इसलिए समानता शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। समरसता पहले चेतना के स्तर पर घटित होगी, आर्थिक स्तर पर अगर आप समानता तय करते हैं तो फिर एक असमान आर्थिक व्यवस्था वाली सभ्यता अपने आप उभर आयेगी, इसका कोई पक्का समाधान नहीं है। इसलिए स्थायी समाधान प्रसाद के अनुसार व्यक्तित्वांतरण है।

कामायनी के अंत को लेकर बहुत विवाद है। खासतौर पर मार्क्सवादी चिंतन के हिसाब से बहुत विवाद है कि यह वैयक्तिक मुक्ति है और इसका समाज से कोई लेना देना नहीं है। यह एक प्रकार का पलायन है। शुक्ल जी ने भी इसे बहुत आदर की दृष्टि से नहीं देखा। श्रद्धा की चेतना सामाजिक नहीं है वैयक्तिक चेतना है। यह भी एक प्रकार की सांस्कृतिक चेतना है जो कामायनी के माध्यम से छायावाद में व्यक्त होती है। अतः छायावाद की सांस्कृतिक चेतना स्थूल नहीं है। छायावाद हमारी सांस्कृतिक चेतना और परम्पराओं को महिमान्वित करने वाला काव्य है। एक औपनिवेशिक भारत में जो हिन्दुस्तान में सांस्कृतिक आत्मा है और सांस्कृतिक सोच है उस सोच को पश्चिम के सामने खड़ा करने का संकल्प छायावादियों ने लिया और यह उसकी सांस्कृतिक चेतना का वैशिष्ट्य भी है और उसकी देन भी।

छायावादी कविता का शिल्प पक्ष

रचना–प्रक्रिया में अनुभूति और अभिव्यक्ति एक आन्तरिक अद्वैत में विन्यस्त होते हैं। रचना की सृष्टि अपने स्थूल रूप में इस अद्वैतता को तोड़ती है, किन्तु अनुभूति और अभिव्यक्ति के सम्बन्धों की अनिवार्य पारस्परिकता का संकेत भी देते हैं। कविता की भाषा संवेग प्रधान होती है। आई.ए. रिचर्ड्स ने भाषा के तथ्यात्मक प्रयोग और रागात्मक प्रयोग का उल्लेख किया है। वेदांत और दर्शन की भाषा तथ्यात्मक होती है, जबकि कला की भाषा संवेगात्मक। एम.एच. एब्राम के अनुसार कलाकृति मूलतः आन्तरिक स्पन्दन को काव्य रूप में अभिव्यक्त करती है। भाव और भाषा की अभिन्नता को रेखांकित करते हुए तुलसी ने भी लिखा :

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।

– रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा–18

वागर्थाविव सम्पृक्तौ, वागर्थ प्रतिपत्तये।

– रघुवंश, कालिदास

छायावाद ने कथ्य और शिल्प – दोनों ही स्तरों पर सामान्य के स्थान पर विशेष, परम्परा के स्थान पर नवीनता तथा रूढ़ि–निर्वाह के स्थान पर विद्रोह की अभिव्यक्ति की। छायावादी काव्यधारा भाव–प्रेरित व्यक्तिवादी चेतना की कलात्मक अभिव्यक्ति है। छायावाद के रूप विन्यास की भव्यता ने उसे विशिष्ट शैली मात्र होने का भ्रम पैदा किया, जिसके शिकार आचार्य शुक्ल तक हुए।

2. काव्य–भाषा

छायावाद के केन्द्रीय मूल्य–स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति उसकी काव्य–भाषा के विधान में लक्षित होती है। अज्ञेय के अनुसार छायावाद के सम्मुख पहला प्रश्न अपने काव्य के अनुकूल भाषा का, नयी संवेदना के नये मुहावरे का था। इस समस्या का उसने धैर्य और साहस के साथ सामना किया।

छायावाद ने द्विवेदी युग द्वारा परिमार्जित भाषा के भीतर निहित काव्यात्मक संभावनाओं को पहचाना और उसकी व्यंजकता में वृद्धि की। शब्द और अर्थ को अब नये सम्बन्ध–विधान में छायावाद ने गूंथा जिससे भाषा में अर्थ ध्वनि की नयी संभावनाएं विकसित हुई। जैसे – तुतला उपक्रम, तुमुल तम, नील झंकार, मूर्च्छित आतप आदि।

उत्कर्ष क्लासेज (रजि.) उत्कर्ष IAS 9868448

शब्दावली : छायावादी कवियों ने शब्दों की अन्तरात्मा को पहचाना। उनकी कविता में शब्दावली भावावेग और संवेदनशीलता से जुड़कर प्राणवान हो उठी। इन कवियों ने कविता में शब्द–गुम्फन की प्रक्रिया में संगीत पर अधिक ध्यान दिया –

"तापस बाला गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु करतल
लहरें उर पर कोमल कुंतल
गोरे अंगों पर सिहर–सिहर लहराता तार तरल सुन्दर
चंचल अंचल–सा नीलाम्बर।" – गुंजन

नये शब्द : प्रवाहमयी अभिव्यक्ति के लिए छायावादी कवियों ने बहुत से नये शब्द भी गढ़े– जैसे अरुणिम, स्वर्णिम, उर्मिल, स्वप्निल जैसे अर्धतत्सम शब्द। पंत ने 'प्रियाह्लाद' की जगह प्रिआहलाद, मरूदाकाश की जगह मरूताकाश संधियां कीं।

इन कवियों ने अंग्रेजी स्वच्छंदतावादी कविता में प्रयुक्त कतिपय शब्दों का छायानुवाद भी किया :

स्वर्णिम प्रकाश, स्वर्णिम स्वप्न, भग्न हृदय आदि।

स्वच्छंद–चेतना और नये मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए छायावादी कवियों ने अनुकूल शब्द योजना भी की। भाषा को व्याकरण के कठोर अनुशासन से मुक्त कर उसे आंतरिक लय से सम्पृक्त किया। इसलिए छायावाद की भाषा भी आत्मनिष्ठ बन गयी। इस 'आत्मनिष्ठता' का प्रभाव छायावादी कवियों की रचनाओं में देखा जा सकता है।

नामवर सिंह के अनुसार प्रसाद के शब्द – "मधु की तरह प्रगाढ़ हैं, क्योंकि वे गहन अनुभूतियों के कवि थे। सविता, वन्या, चषक जैसे पौराणिक शब्दों के प्रयोग की बहुलता प्रसाद की सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक है। मधुर, मधु माधव, मिलन–कुंज, अलसायी वेदना, आह, उद्भ्रांत, शून्यता – जैसे शब्दों का आधिक्य प्रसाद की सौन्दर्य चेतना और व्यथित हृदय का संकेत देते हैं।

पंत की परिष्कृत रुचि, सुकुमारता एवं सौंदर्य चेतना का प्रमाण उनकी शब्द–योजना पर लक्षित होता है। अत्यधिक कल्पना–प्रवण होने के कारण उनकी भाषा में वायवीयता, सूक्ष्मता और स्वच्छंदता अधिक है।

निराला काव्य के पद–विन्यास तथा शब्द–चयन पर उनके विद्रोही व्यक्तित्व की विराटता तथा ओजस्वी चेतना का प्रभाव है। उनकी शैली का वेग उदात्त प्राणों से उद्भूत है और व्यग्रता उनके आंतरिक संघर्ष की सूचना देती है।

डा0 रामविलास शर्मा के अनुसार – 'उनकी कविता केवल मैदान में सर–सर करती हुई गंगा की भांति नहीं, वरन पहाड़ों के बीच टकराती, थमी अंधेरी घाटियों में पत्थरों को काटती बहाती तुमुल शब्द करती चलती है।' (संस्कृति और साहित्य, पृ. 116)

महादेवी वर्मा के गीतों में प्रयुक्त अश्रु, स्मित, दीप, वर्तिका स्वप्न, मान, समर्पण, करूणा आदि शब्द उनकी वेदनानुभूति एवं प्रणय–आकांक्षा के सूचक हैं।

अप्रस्तुत विधान/अलंकार योजना

छायावादी कवियों ने अपनी अभिनव चेतना की अभिव्यक्ति के लिए प्रभाव–साम्य पर आधारित अलंकारों का आश्रय लिया, जैसे –

"झंझा झकोर गर्जन था, बिजली थी नीरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला।।" – आंसू, प्रसाद

यह शून्य हृदय आकाश है, झंझा झकोर मानसिक क्षोभ का, बिजली तड़प का और नीरद माला आर्द्र करुण मनःस्थिति के द्योतक है।

छायावादी कवि अलंकारों की मर्यादा वाणी की सजावट के साथ ही सहज भावाभिव्यक्ति में मानते हैं –

"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वरन् भावाभिव्यक्ति के लिए भी विशेष द्वार है।" – पंत, पल्लव

सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति तथा वैषम्य मूलक अलंकारों में विरोधाभास का प्रयोग भी इन कवियों ने किया है, लेकिन ये प्रयोग बहुत सहज हैं। छायावादी कविता में मूर्त विषयों के लिए मूर्त अप्रस्तुत तथा अमूर्त विषयों के लिए अमूर्त अप्रस्तुतों की भी योजना हुई है। विशेषण-विपर्यय – दूरस्थ विशेषणों और विशेष्यों को एक स्थान पर संघटित करना –

1. बच्चों के तुतले भयसी – (बोली की जगह भय) – पल्लव
2. वेदना के ही सुरीले हाथ से – (कंठ की जगह हाथ) – वीणा

दृढ़ जटा मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर वक्ष पर विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार
चमकती दूर ताराएं ज्यों हो कहीं पार ।

– (अनामिका, राम की शक्तिपूजा, निराला)

(इस चित्र में राम युद्ध से लौट रहे हैं। जटा अस्त व्यस्त होकर पीठ, वक्ष और बांहों पर फैल गयी है तथा नेत्रों से तीव्र प्रकाश प्रस्फुटित हो रहा है। राम के उस मूर्त वेश को उपमित करने के लिए निराला ऐसे पहाड़ की कल्पना करते हैं जिस पर गहन अंधकार छाया हुआ है तथा जिसके ऊपर दो तारिकाएं चमक रहीं हैं। यह मूर्त विषय के लिए मूर्त अप्रस्तुत की योजना है।)

अमूर्त भावों को प्रेषणीय बनाने के लिए अमूर्त अप्रस्तुत योजना –

"कोमल किसलय के अंचल में नन्हीं लतिका ज्यों छिपती–सी
गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर में दिपती सी।।"

–(कामायनी, लज्जा सर्ग)

'मानवीकरण' और 'विशेषण विपर्यय' छायावाद के विशेष अलंकार हैं।

मानवीकरण के माध्यम से जड़ पदार्थ अथवा अमूर्त विषय पर मानवीय क्रिया–व्यापारों का आरोप किया जाता है। (संध्या सुन्दरी, जुही की कली, 48)

बिम्ब विधान

बिम्ब इंमेज का हिन्दी रूपांतर है। लेविस के अनुसार बिम्ब शब्द निर्मित चित्र है :–

- इसकी अनेक परिभाषाएं की गयी हैं।
- बिम्ब ऐन्द्रिय माध्यम द्वारा आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक सत्यों तक पहुंचने का मार्ग है।
- बिम्ब किसी अमूर्त विचार अथवा भावना की पुनर्निर्मित है।
- बिम्ब पदार्थों के आन्तरिक सादृश्य की अभिव्यक्ति है।

सन् 1908 में हूल्मे और फ्लिंट ने – बिम्बवाद पर एक घोषणा पत्र प्रकाशित किया। आचार्य शुक्ल ने फ्लिंट को बिम्बवाद का प्रवर्तक माना है। 1912–17 के बीच ब्रिटेन और अमरीका में बिम्बवाद का एक आन्दोलन ही चल पड़ा जिसका नेतृत्व एजरापाउण्ड ने किया। इसमें डी.एच. लारेंस, कैरोल विलियम्स, रिचर्ड एसिंग्टन आदि शामिल थे। हिन्दी समीक्षा में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने एक निबंध भाव या मनोविकार में 1915 में किया।

शुक्ल जी के अनुसार चित्रण बिम्ब का मुख्य धर्म है .... संश्लिष्ट रूप विधान इसकी दूसरी विशेषता है।

आचार्य शुक्ल के अनुसार – कविता में बिम्ब ग्रहण होता है, अर्थ ग्रहण नहीं।

समग्रतः यह कहा जा सकता है – 'किसी भाव, विचार, वस्तु, घटना आदि का इन्द्रिय संबंध काल्पनिक शब्दबद्ध संमूर्तन काव्य–बिम्ब है। बिम्ब का ऐन्द्रिय संवेद्य होना अनिवार्य है।

'छायावादी कवियों ने बिम्ब को चित्र भाषा कहा है। छायावादी कवियों का बिम्ब–विधान उनकी आन्तरिक सौन्दर्य–चेतना का प्रतिफल है – भाव, रूप, रस, गंध, ध्वनि, गति तथा स्पर्श

के अनेक चित्रों से छायावादी कविता निर्मित है। छायावादी कविता में चाक्षुष और श्रावण बिम्बों का प्रचुर प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ –

'अरुण की एक किरण अम्लान, अधिक अलसाई हो अभिराम।'
(अरुण अधर में धवल मुस्कान की छाया का चित्र), चाक्षुष।

'उड़ गया अचानक लो भूधर फड़का अपार वारिधि के पर
झर–झर–झर निर्झर गिरि सर में, घर, मरू, तरू–ममेर सागर में।।' –निराला

ध्वनि बिम्ब

'पत्रों के आनत अधरों में
सो गया निखिल वन का मर्मर।
सांध्य वन के क्रमशः थमते हुए
रव का चित्रण।

विराट–बिम्बों की योजना छायांकन कविता का महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य है --

अवनि–अम्बर की रूपहली सीप में
अरल मोती–सी जलधि जब कांपता। महादेवी

है अमानिशा उगलता गगन घन अंधकार
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन चार
अप्रतिहतत गरज रहा पीदे अम्बुधि विशाल
भूधर ज्यों ध्यान मग्न : केवल जलती मशाल ।' – राम की शक्तिपूजा

'वस्तुतः छायावादी कविता का अभिव्यक्ति पक्ष बिम्बाश्रित है। संश्लिष्ट बिम्ब रचना छायावादी कविता की अविस्मरणीय उपलब्धि है। छायावादी बिम्ब विधान वैयक्तिक सौन्दर्य–चेतना एवं सूक्ष्म अनुभूतियों से प्रेरित होने के कारण पर्याप्त वैविध्यमय है। अतीत प्रेम और सौन्दर्य के प्रति विशेष लगाव के कारण प्रसाद का बिम्ब–विधान ऐन्द्रजालिक सौन्दर्य की प्रगाढ़ ऐन्द्रिय अनुभूति से आवेशित हैं। पंत के बिम्बों में भावावेश की सघनता है। वर्ण और ध्वनि बोध की सामर्थ्य के आधिक्य के कारण उनकी बिम्ब–योजना में वर्णमय चाक्षुष बिम्बों एवं नादबिम्बों का प्राचुर्य मिलता है। महादेवी ने व्यंजनाप्रधी प्रतीक बिम्बों का विशेष प्रयोग किया

श्री उत्कर्ष क्लासेज (जि०) उत्कर्ष IAS Ph. 7639400 · IAS/PCS · 9868448606

है। चित्रकला से सम्बद्ध होने के कारण उनके बिम्बों में 'वर्ण बिम्बों का आधिक्य है।' निराला उदात्त एवं विराट बिम्बों के कवि हैं।

बिम्ब जब किसी निश्चित अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं तो प्रतीक बन जाते हैं। बिम्बों में प्रतीक की अपेक्षा गत्वरता, जीवंतता एवं नूतनता अधिक होती है।

प्रतीक विधान : प्रतीक विधान छायावाद की अभिव्यंजना–प्रणाली का महत्वपूर्ण अंग है। सूक्ष्म सौंदर्य की अभिव्यक्ति और गहन अनुभूति की प्रेषणीयता के लिए छायावादी कवियों ने – संवेदनशील प्रतीकों का प्रयोग किया है। प्रसाद के अनुसार – 'सौंदर्य–बोध बिना भय के हो ही नहीं सकता। सौन्दर्य की अनुभूति के साथ ही हम अपने संवेदनों को आकार देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं।' – (काव्य और कला तथा अन्य निबंध)

पंत ने प्रतीकों को मानुस–चेतना का प्रामाणिक पत्रक कहा है। उनके अनुसार – 'हमारा मन जिस प्रकार विचारों के सहारे आगे बढ़ता है, उसी प्रकार मानव चेतना प्रतीकों के सहारे विकसित होती है।' (गद्यपथ)

छायावादी कविता का प्रतीक विधान प्रभाव साम्य पर आधारित है। उपमानों के प्रयोग की पुनरावृत्ति के कारण प्रतीक का जन्म होता है। छायावादी कवियों ने कुछ विशिष्ट उपमानों का प्रतीकवत प्रयोग किया है। जैसे – शुक्ल जी के अनुसार सुख, आनन्द, प्रफुल्लता, यौवन काल के स्थान पर उषा, प्रभात, मधुकाल, प्रिया के स्थान मुकुल, प्रेमी के स्थान पर मधुप, श्वेत या शुभ्र के स्थान पर खत, विषाद या अवसाद के स्थान पर अंधेरी रात, पतझड़, मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झंझा, तूफान आदि। अपनी प्रगाढ ऐन्द्रिय अनुभूतियों की व्यंजना एवं सूक्ष्म सौन्दर्य की सांकेतिक अभिव्यक्ति के लिए अपनी विशिष्ट रूचि के अनुकूल कवियों ने प्रतीकों का चयन किया।

प्रतीक

किसी विचार, भाव या वस्तु के स्थान पर उसका कोई प्रतिनिधान प्रतीक है।

बिम्ब और प्रतीक

बिम्ब की प्रमुख विशेषता जहां भास्वर है, वहीं अर्थ की दिशा में गर्भित संकेत करके स्वयं लुप्त हो जाना प्रतीक की विशेषता है।

बिम्ब जहां मुख्यतः दिक् से सम्बद्ध है, वहीं प्रतीक काल से है। इसलिए बिम्बानुभूति जहां ऐन्द्रिय होती है वहां प्रतीक ऐतिहासिक और जातीय चेतना का प्राणमय संवाहन है। बिम्ब के केन्द्र में स्रष्टा और प्रतीक के केन्द्र में मानव–समाज और उसके समृद्ध अनुभव होते हैं।

छायावाद : परम्परा और प्रगति

छायावाद हिंदी साहित्य की परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इसका जन्म हमारे साहित्य की विशेष सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों में हुआ और फिर विशेष परिस्थितियां उत्पन्न हो जाने के कारण इनका पर्यवसान भी हो गया। पर अब यह हिंदी साहित्य के इतिहास में एक स्थापित तथ्य है। फिर भी एक युग था जब छायावाद को विदेशी कहा जाता था। आज भी कुछ लोग कभी–कभी वही पुरानी बात दुहरा देते हैं। इसलिए इस भ्रम का निराकरण कर लेना चाहिए।

इसमें कोई शक नहीं कि किसी समय आचार्य–जैसे विचक्षण पंडित ने भी यह कहा था कि यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं है। शुक्ल जी की धारणा थी कि हिंदी में मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय आदि जिस स्वच्छंद काव्य–धारा का प्रवर्तन कर रहे थे, वह रवींद्रनाथ की कविताओं तथा कुछ अन्य विदेशी वादों के प्रभाव से विपथगामी होकर छायावाद बन गया। इसीलिए वे प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी की रचनाओं – विशेषतः रहस्यवादी रचनाओं को स्वच्छंदता के स्वाभाविक विकास–पथ में नहीं मानते थे।

लेकिन जैसा कि प्रभाकर माचवे ने जनवरी, 1954 की अवंतिका में कहा है और संभवतः हिंदी लेखकों में सबसे पहली बार इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि शुक्ल जी के विचारों में अंतर्विरोध है। जहां उन्होंने छायावाद परम्परा का स्वाभाविक विकास मानने से इनकार किया है, वहीं यह भी किया है कि 'इस तृतीय उत्थान में जो परिवर्तन हुआ और पीछे छायावाद कहलाया, वह इसी द्वितीय उत्थान की कविता के विरुद्ध कहा जा सकता है।' और 'यह पहले कहा जा चुका है कि छायावाद का चलन द्विवेदी–काल की रूखी इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था।'

विरोध और प्रतिक्रिया परंपरा के स्वाभाविक विकास के ही सूचक हैं, क्योंकि विकास का अर्थ सदैव परिपाटी–पालन ही नहीं होता। कोई भी विकास विरोध के बिना घटित नहीं

होता। इस तरह शुक्ल जी अनजाने ही छायावाद को हिंदी साहित्य की परंपरा का स्वाभाविक विकास सिद्ध करते गए।

परंतु शुक्ल जी ने जो यह कहा कि छायावाद क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं है, उसमें एक तथ्य है। भाव और रूप की दृष्टि से द्विवेदी–युग की इतिवृत्तात्मक तथा श्रीधर पाठक और मुकुटधर पांडेय की स्वच्छंदतावादी कविताओं के बाद छायावादी कविताओं का उतना भव्य उत्थान आश्चर्यजनक लगता है। पूर्ववर्ती कविताओं के साथ छायावादी रचनाओं को पढ़कर सहसा ऐसा प्रतीत होता है कि इतना लंबा रास्ता इन कवियों ने इन दो–तीन वर्षों में ही कैसे तय कर लिया ? दोनों युगों के बीच भावना और रूप–विन्यास का विशाल अंतर दिखाई पड़ता है। वह क्रम नहीं प्रक्रम है – एक बहुत बड़ी छलांग है इसीलिए जिन लोगों की मनोवृत्ति उस 'प्रक्रम' के साथ कदम मिलाकर प्रगति न कर सकी, वे छायावाद को विदेशी तथा विपथगामी समझने लगे।

निःसंदेह छायावाद के अभ्युदय में अनेक सहायक कारण थे और उनमें रवींद्रनाथ की बंगला कविताओं तथा वर्ड्सवर्थ और शेली की अंग्रेजी कविताओं का स्थान प्रमुख है। देश–विचार से ये प्रभाव विदेशी ही कहे जाएंगे। लेकिन छायावादी कवियों ने जब उन्हें अपनाया और उनसे प्रेरणा ली तो उन्हें एकदम अपनी आकांक्षाओं का प्रतिबिंब समझकर। यह विदेशी प्रभाव–ग्रहण करने का अर्थ ही है कि छायावादी कवियों की मानसिक पृष्ठभूमि उसके अनुकूल थी। अन्यथा, वर्ड्सवर्थ और शेली का प्रभाव द्विवेदी युग के या उससे भी पहले भारतेंदु युग के कवियों पर क्यों नहीं पड़ गया ? अंग्रेजी तो उस समय के लोग भी जानते थे और वर्ड्सवर्थ, शेली वगैरह की रचनाओं के भारत पहुंचने के लिए साठ–सत्तर साल का समय कम नहीं कहा जा सकता। इस तरह की अभिरुचि केवल प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी की ही हो गई हो, ऐसा भी नहीं है। उन कविताओं को बड़े आग्रह के साथ अपनाकर नई पीढ़ी के युवकों ने दिखा दिया कि छायावादी भावना समूची जाति की नई पीढ़ी में वर्तमान है। अधिक संवेदनशील प्राणी होने के कारण उन युवकों में जो विशेष जागरूक थे, उन्होंने इस भावना को कुछ पहले अनुभव किया तथा अभिव्यक्त भी कर दिया और अन्य लोग उनकी अभिव्यक्तियों से प्रभावित होकर अपने मन की रुचि को उधर ओर धीरे–धीरे मोड़ने लगे। जो प्रवाह–पतित थे, इन कविताओं में रुचि न ले सके और न उन्हें समझ ही सके। परंतु जो उस युग में समाज की प्रगतिशील शक्तियां थीं उन्होंने छायावाद को अपना समझा।

इस तरह छायावाद हमारी विशेष सामाजिक और साहित्यिक आवश्यकता से पैदा हुआ और उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसने ऐतिहासिक कार्य किया। समाज और साहित्य को उसने जिस तरह पुरानी रूढ़ियों से मुक्त किया, उसी तरह आधुनिक राष्ट्रीय और मानवतावादी भावनाओं की ओर भी प्रेरित किया। व्यक्तित्व की स्वाधीनता, विराट–कल्पना, प्रकृति–साहचर्य, मानव–प्रेम, वैयक्तिक प्रणय, उच्च नैतिक आदर्श, देशभक्ति, राष्ट्रीय स्वाधीनता आदि के प्रसार द्वारा छायावाद ने हिंदी जाति के जीवन में ऐतिहासिक कार्य किया। कविता के रूप विन्यास को पुरानी संकीर्ण रूढ़ियों से मुक्त करके उसने नवीन अभिव्यंजना प्रणाली के लिए द्वार खोल दिया।

यही नहीं, छायावादी काव्य ने अपने–युग के अन्य साहित्य–रूपों को भी प्रभावित किया। छायावाद वस्तुतः एक व्यापक जीवन–दृष्टि थी, जिसकी अभिव्यक्ति सामान्य रूप से कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना आदि सभी माध्यमों से हुई, परंतु भावात्मकता के कारण उसकी विशेष अभिव्यक्ति कविता में ही हो सकी और उसी में उसे प्रधानता भी मिली।

प्रसाद की आकाशदीप, स्वर्ग के खंडहर में आदि कहानियां कथा–साहित्य में छायावाद का प्रसार है। प्रेमचंद के सेवासदन, प्रेमाश्रम, गबन आदि उपन्यासों का अंत जो सदनों और आश्रमों के आदर्श में हुआ है, उसे भी छायावादी जीवन–दृष्टि का परिणाम समझना चाहिए। निराला के अलका, अप्सरा, निरुपमा आदि उपन्यासों पर छायावादी कल्पनाप्रियता का गहरा रंग है। प्रसाद की तितली छायावादी पुतली है। पंत की ज्योत्स्ना तो छायावादी कल्पना की सृष्टि है ही, प्रसाद के अजातशत्रु, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त, कामना आदि नाटकों में भी छायावादी रूमानियत रची हुई है। निराला के प्रबंध–प्रतिमा के भावात्मक निबंध तथा संस्मरण, महादेवी के रेखाचित्र भी अपनी काल्पनिक उड़ान तथा भावुकता में छायावाद से टक्कर लेते हैं।

निराला, पंत, प्रसाद और मुख्यतः महादेवी के आलोचनात्मक निबंधों की विचार–प्रणाली तो छायावादी भावुकता से प्रेरित है ही, छायावाद के प्रभाव से हिंदी में प्रभाववादी समीक्षा की एक प्रणाली भी चल पड़ी। शांतिप्रिय द्विवेदी इसी समीक्षा–सागर की तरंगों से फेंकी हुई एक मणि है। नगेंद्र की आलोचनात्मक दृष्टि भी छायावादी रस से ही खुली और नंददुलारे वाजपेयी के विचार–स्फुलिंग छायावाद की ही वकालत में छिटके।

सबसे बढ़कर आश्चर्यजनक प्रतीत होने वाली बात तो यह है कि छायावाद युग के पुरोधा समीक्षक आचार्य शुक्ल के समीक्षा–सिद्धांतों के निर्माण में भी छायावाद का बहुत अधिक हाथ है। उनका पहला आलोचनात्मक निबंध 'कविता क्या है' छायावादी विचारों का ही समर्थक है। कविता की परिभाषा में उन्होंने 'शेष–सृष्टि के साथ रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह' की जिस बात पर जोर दिया है, वही तो छायावादी भी कहते थे। उनकी 'शेष–सृष्टि' भी तो मुख्यतः 'प्रकृति' – निःसंदेह आदिम वन्य प्रकृति ही थी। आदिम प्रकृति की ओर लौटने की बात छायावादियों से अधिक तो शुक्ल जी ही करते थे। रागात्मकता पर इतना अधिक जोर और कविता को भावयोग कहना छायावाद की ही तरह द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया थी। शुक्ल जी की रागात्मकता छायावादी भावुकता की ही प्रौढ़ स्थिति थी। रीतिवादी अलंकृति के विपरीत रसवाद की प्रतिष्ठा करना आलोचना के क्षेत्र में वही कार्य था, जो कविता के क्षेत्रा में छायावाद कर रहा था। शुक्ल जी का रससिद्धांत वस्तुतः छायावादी कविता की आवश्यकता से उत्पन्न हुआ था, उसकी शब्दावली पुरानी भले ही रही और कहीं–कहीं उसमें प्राचीन के पुनरुत्थान का भी पुट था, किंतु मूलतः वह आधुनिक भावधारा है। 'रसात्मक बोध के विविध रूप' में उन्होंने जिस प्रत्यक्ष रूप–विधान, स्मृत रूप–विधान और काल्पनिक रूप–विधान का समावेश किया है, वह क्रमशः छायावाद का प्रकृति–प्रेम, अतीत प्रेम और कल्पना–सृष्टि ही है। जो लोग यह समझते हैं कि वे छायावादी कल्पना के विरोधी थे, उनके भ्रम के निराकरण के लिए शुक्ल जी का यह कथन उद्धरणीय है – "आरोप–विधायनी कल्पना की अपेक्षा प्रकृति के बीच किसी वस्तु के गूढ़ और अगूढ़ संबंध प्रसार का चित्रण करने वाली कल्पना अधिक गंभीर और मार्मिक होती है।" कल्पना के द्वारा वे भी "अखिल सत्ता के एकत्व की आनंदमयी भावना जगाकर हृदय के बंधन खोलने" का अभ्यास करते थे। उनकी नैतिक मान्यताएं भी उस हद तक छायावाद के साथ थीं, जहां तक वे पुरानी रूढ़ियों का प्रयोग करते हैं अथवा देश–प्रेम, राष्ट्रीय उत्थान और लोक–मंगल का आग्रह करते हैं। उनका 'हृदयवाद' प्रकारांतर से छायावाद ही है।

रचना की महानता से ही आलोचना महान होती है। यह छायावादी रचना का वैभव ही था जिसने हिंदी में आलोचना के मान को ऊंचा उठा दिया, अन्यथा द्विवेदी–युग में समालोचना का मान क्या था ? परोक्ष रूप से छायावाद ने साहित्य के सामान्य पाठकों की रुचि इतनी परिष्कृत कर दी और काव्य–संबंधी सूझ–बूझ इतनी गहरी कर दी कि आलोचना का सामान्य स्तर भी बहुत ऊपर उठ गया। युग–प्रवर्तक आलोचक आलोचना के इसी सामान्य स्तर के

अनुसार होते हैं। जिस तरह पानी के स्तर के अनुसार ही कमल–नाल बढ़ता चलता है, उसी तरह साहित्य के सामान्य–स्तर के अनुसार ही कवि, लेखक और आलोचक बढ़ते हैं। छायावाद ने यही सामान्य–स्तर ऊपर उठा दिया।

कविता के अतिरिक्त हिंदी गद्य–शैली को छायावाद ने कहां से कहां पहुंचा दिया, इसे समझने के लिए छायावाद–युग के स्वस्थ, सशक्त और मांसल गद्य के सामने द्विवेदी–युग के गद्य का अस्थि–पंजर रख लेना पर्याप्त है।

इतने बड़े परिदृश्य में छायावाद को रखकर देखने से पता चलेगा कि उसने हिंदी साहित्य में कितना बड़ा ऐतिहासिक कार्य किया।

इस ऐतिहासिक सार्थकता से ही छायावादी कविता के स्थायी तत्वों पर प्रकाश पड़ता है। अपनी ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति करते हुए छायावाद ने साहित्य में कुछ स्थायी महत्व की भी चीजें दीं। उसमें अपने युग को प्रभावित करने के साथ ही भावी युगों के मानव–समाज को भी रसमग्न तथा प्रेरित करने की सामग्री है। छायावाद का स्थायित्व उसके व्यक्तिवाद में नहीं, उसकी आत्मीयता में है, काल्पनिक उड़ान में नहीं, आत्म–प्रसार में है, समाज–भीरुता में नहीं, प्रकृति–प्रेम में है, प्रकृति–पलायन में नहीं, नैसर्गिक जीवन की आकांक्षा में है, आवेगपूर्ण भावोच्छ्वास में नहीं, संवेदनशीलता में है, सौंदर्य की कल्पना में नहीं, सौंदर्य की भावना में है, स्वप्न में नहीं, स्वप्न की वास्तविक आकांक्षा में है, अज्ञात की जिज्ञासा में नहीं, ज्ञान के प्रसार में है, आदर्श में नहीं, यथार्थ में है, कल्पना में नहीं, वास्तविकता में है, दृष्टिकोण में नहीं, दृष्टि में है, उक्ति–वैचित्र्य में नहीं अभिव्यंजना के प्रसार में है।

छायावादी कविता की आत्मीयता, प्रकृति–प्रेम, सौंदर्य–भावना, संवेदनशीलता, अथक जिज्ञासा, जीवन की लालसा, उच्चतर जीवन की आकांक्षा और इन सबके लिए संघर्ष करने की अनवरत प्रेरणा, छायावादी कविता का स्थायी संदेश है। छायावाद हमें रसमग्न करके निष्क्रिय नहीं बनाता, बल्कि उद्बुद्ध करके सक्रिय बनाता है। वह हमारी भावनाओं को व्यापक, अनुभूति को गहरी और भावों को परिष्कृत तथा परिवर्तित करता है।

निःसंदेह छायावाद का यह सारा प्रभाव जीवन के एक सीमित क्षेत्र में ही पड़ता है। उसमें कल्पना अधिक, वास्तविकता कम थी और जो वास्तविकता थी भी, वह प्रायः मानव–जीवन के एकदेशीय प्रेम–संबंधी थी। व्यापकता के अभाव में उसकी प्रभाव–शक्ति भी सीमित हो गई। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर छायावाद में सूर–साहित्य की अपेक्षा

वास्तविकता कम है और तुलसी–साहित्य की अपेक्षा व्यापकता बहुत कम है। वास्तविकता की मात्रा के अनुसार ही छायावाद को हिंदी साहित्य में भक्ति–काव्य के बाद द्वितीय स्थान दिया जाता है और यह गौरव असाधरण नहीं है।

साहित्य में छायावाद को गौरवपूर्ण स्थान दिलाने में सभी छायावादी कवियों का योग समान नहीं है। निराला यदि भाव और अभिव्यंजना के नए–नए विविध पर निकालने में सबसे आगे रहे, तो पंत सौंदर्य–चयन और अभिव्यंजना–शक्ति संवारने में अग्रणी रहे। महादेवी ने प्रगीत के विशेष क्षेत्र में सबसे अधिक कार्य किया, तो प्रसाद इन सभी कवियों की सफलताओं को पूंजीभूत करने में सबसे अधिक सफल रहे। इसीलिए उनकी कामायनी 'छायावाद' का प्रतिनिधि काव्य है। प्रसाद में नवोन्मेष सबसे कम है, फिर भी छायावाद का पूरा प्रतिनिधित्व वही करते हैं। यदि छायावाद के एक–एक तत्व को दृष्टि में रखकर मूल्यांकन करें तो एक–एक करके निराला और पंत की उपलब्धि सबसे अधिक मानी जाएगी। इन दोनों कवियों में यदि जीवन की वास्तविकता के विविध पहलुओं को देखें तो निराला सर्वोत्कृष्ट कवि सिद्ध होंगे। औरों की अपेक्षा निराला का दृष्टिकोण भी अधिक प्रगतिशील रहा है, क्योंकि उनमें वास्तविकता का बोध सबसे अधिक था और वह बोध इसलिए अधिक था कि जीवंत वास्तविकता के साथ उनका संबंध सबसे अधिक रहा। निराला के काव्य में यह शक्ति और सौंदर्य इसलिए सबसे अधिक आ सका कि वे सामाजिक जीवन में सबसे अधिक जागरूक और सक्रिय रहे। इस गतिशीलता के ही कारण निराला उन आदर्शवादी और पलायनवादी भ्रमों में कम फंसे, जिनसे प्रसाद सबसे अधिक ग्रस्त थे और उनके बाद पंत भी।

प्रगतिवाद

बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में जो राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन हो रहे थे उसे न तो छायावादी भाषा में बांधा जा सकता था और न ही उसे सांस्कृतिक मानसिकता में अभिव्यक्त किया जा सकता था। अतः हिन्दी कविता के इतिहास में जीवन–यथार्थ को केन्द्रीय चेतना के रूप में धारण करने वाली प्रगतिवादी काव्यधारा का जन्म हुआ। सामान्यतः प्रगतिवाद को छायावाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न काव्यान्दोलन माना जाता है। परन्तु अद्यतन आलोचना इसे स्वाभाविक विकास मानती है। आरंभ में पन्त और निराला ने छायावादी मसृणता, कल्पना

और सांस्कृतिक चेतना को छोड़कर प्रगतिवादी चेतना की कविताएं लिखी हैं। 1936 में भारत में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई तथा लखनऊ में प्रेमचन्द की अध्यक्षता में इसका पहला अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के साथ ही एक काव्यान्दोलन के रूप में प्रगतिवाद का आरंभ हुआ।

प्रगतिवादी साहित्य–दृष्टि में साहित्य को सोद्देश्य माना गया तथा इसे एक सामाजिक और राजनीतिक कर्म के रूप में परिभाषित किया गया। प्रगतिवाद ने मार्क्सवाद को वैचारिक आधार के रूप में स्वीकार किया और उसी के अनुरूप सामाजिक यथार्थ के रूप में किसान और मजदूर–जीवन के चित्रण को अनिवार्य माना। प्रगतिवादी धारा के कवियों में नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर, केदारनाथ सिंह, चन्द्रकांत देवताले और मुक्तिबोध प्रमुख हैं।

यथार्थपरक दृष्टि प्रगतिवाद का केन्द्रीय मूल्य है। यह यथार्थ मानसिक संकल्पना नहीं है, बल्कि आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के संघात से निर्मित वस्तुगत सत्य है।

प्रगतिवाद शोषण की अमानवीयता का चित्रण करता है। यह शोषण विषमताजनित है। पूंजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग की विषमता और पूंजीपति वर्ग द्वारा मजदूर वर्ग के शोषण की अमानवीयता का चित्रण प्रगतिवाद में हुआ है। दिनकर की कुछ पंक्तियां उल्लेखनीय हैं –

श्वानों को मिलता दूध–भात, भूखे बच्चे चिल्लाते हैं,
मां की गोदी से चिपक–चिपक, जाड़े की रात बिताते हैं।

प्रगतिवादी कविता में पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति तीव्र घृणा दिखायी देती है। प्रगतिवाद पूंजीवाद को शोषण का कारण मानता है। अतः वह पूंजीवाद को सबसे बड़े शत्रु के रूप में ग्रहण करते हुए अपनी पूरी शक्ति इस पर प्रहार करने में लगाता है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध की ये पंक्तियां उल्लेखनीय हैं :

" तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ "
" तेरा ध्वंश केवल एक तेरा अर्थ "

प्रगतिवादी कविता में शोषितों के प्रति सहानुभूति एवं आस्था प्रकट हुई है। यह कविता शोषितों की शक्ति और संघर्ष में अपनी पक्षधरता को अभिव्यक्त करती है –

मैंने उसको जब–जब देखा लोहा देखा
लोहा जैसे तपते देखा, गलते देखा, ढलते देखा
मैंने उसको गोली जैसे चलते देखा

क्रांति–चेतना प्रगतिवादी कविता की विशेषता है। प्रगतिवाद व्यवस्था में सुधार की मांग नहीं करता, बल्कि संपूर्ण व्यवस्था परिवर्तन की मांग करता है। इस व्यवस्था परिवर्तन के लिए वह क्रांति को अनिवार्य मानता है। प्रगतिवाद की अनेक कविताओं में क्रांति का आह्वान किया गया है। उदाहरण के लिए –

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही दोनों
तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़–सब

राजनीतिक–चेतना प्रगतिवाद की अन्यतम विशेषता है। प्रगतिवाद मानता है कि राजनीति एक संपूर्ण परिवेश है जिसमें मनुष्य जीता है। राजनीतिक प्रसंगों को पहचानने में ही सत्य की पहचान निहित है। मुक्तिबोध और नागार्जुन बड़े राजनीतिक कवि हैं। नागार्जुन कथित प्रजातांत्रिक व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं

श्वेत–श्याम–रतनार अंखियां निहार के
सिंडीकेटी प्रभुओं की पग–धूरि झार के
लौटे हैं दिल्ली से कल टिकट मार के
खिले हैं दांत ज्यों दाने अनार के
आए दिन बहार के।

प्रगतिवादी कविता में ग्राम्य–प्रकृति का चित्रण हुआ है। वह किसान की आंख से प्रकृति को देखती है, अतः इस कविता में किसानी–जीवन से संदर्भित प्रकृति के प्रसंग आए हैं। केदारनाथ अग्रवाल की कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं –

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिंगना चना
बांधे मुरेठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का
राजकर खड़ा है।

प्रेम का स्वस्थ और स्वकीया रूप प्रगतिवादी प्रेमानुभूति की विशिष्टता है। इस प्रेम में आत्मीयता की गहरी उपस्थिति दिखायी देती है और प्रेम भी अन्ततः सामाजिक चिन्ता से अनुस्यूत है। केदारनाथ सिंह की ये पंक्तियां इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं –

तुम्हारे हाथ को अपने हाथ में लेकर मैंने सोचा
इस दुनिया को भी तुम्हारे हाथ की तरह सुन्दर और गर्म होना चाहिए।

प्रगतिवादी कविता के शिल्प से संबंधित सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह अभिव्यक्ति की कलात्मकता का निषेध करती है। यह सामान्य और सहज अभिव्यक्ति पर बल देती है। इसलिए प्रगतिवाद में लोकधुनों के महत्व को स्वीकार किया गया है। छन्द योजना में शास्त्रीय छन्दों के निर्वाह की तनिक भी चिन्ता नहीं है।

प्रगतिवादी कविता में बिंबों का चुनाव सामान्यतः लोक–जीवन से किया गया है। बिम्ब के धरातल पर भी यह कविता अपना ध्यान किसान, मजदूर पर केन्द्रित करती है। इस कविता में प्रतीकात्मकता का अभाव दिखायी देता है। काव्य रूप की दृष्टि से प्रबन्धात्मकता का अभाव है।

प्रगतिवादी कविता पर कुछ आरोप लगाए गए हैं। प्रगतिवाद की जीवन–दृष्टि एकांगी है। यह काव्य यथार्थ का सतही चित्रण करता है। अनुभूति की प्रमाणिकता का अभाव प्रगतिवाद में दिखायी देता है।

समग्रतः अपनी सीमाओं के बावजूद हिन्दी कविता के इतिहास को प्रगतिवाद की सबसे महत्वपूर्ण देन साहित्य में आम आदमी की प्रतिष्ठा थी। यह एक निरन्तर विकासशील धारा है जिसने नए काव्य–विवेक और रचनात्मक लक्ष्यों का सूत्रपात किया। यथार्थ–दृष्टि की कथित एकांगिकता के बावजूद यह कविता जीवन के प्रति जिस दायित्व को प्रस्तावित करती है, उसका दबाव आगे आने वाली कविता पर लगातार बना रहा है। कविता को कलात्मक अवगुम्फनों से मुक्त कर और उसमें अपने समय की सच्चाईयों को चित्रित कर इस कविता ने इतिहास के बहुत बड़े दायित्व का निर्वाह किया। हिन्दी कविता के इतिहास में प्रगतिवाद एक प्राणवान आन्दोलन था और समकालीन कविता तक में उसकी प्राण–ऊर्जा का स्पंदन महसूस किया जा सकता है।

प्रयोगवाद

आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में सन् 1943 में अज्ञेय द्वारा संपादित 'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ ही एक नया मोड़ उपस्थित होता है। समकालीन राजनीति और समाज में हो रहे परिवर्तनों को अभिव्यक्ति देने में असमर्थ होने वाली छायावादी कविता की प्रतिक्रिया में जन्मी प्रगतिवादी काव्यधारा के समानान्तर ही प्रयोगवाद काव्यधारा का उदय होता है। विकास प्रक्रिया में प्रयोगवाद, छायावादी कविता की रूमानियत तथा प्रगतिवादी कविता की वैचारिक प्रतिबद्धता के विरोध में खड़ा होता है। छायावादी कविता जहां जीवन–यथार्थ का निषेध करने लगी है वहीं प्रगतिवाद एक खास वाद के तहत यथार्थ को देखते हुए यथार्थ और कविता में कोई फर्क ही नहीं रहने देता।

ऐसे में जीवन–यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए स्वानुभूति की प्रामाणिकता को रचना के केन्द्र में रखते हुए प्रयोगवाद का विकास होता है जो संवेदनात्मक स्तर पर ही नहीं अपितु शिल्पगत स्तर पर भी परिवर्तन घटित करते हुए कविता को छायावाद की ठहरी हुई अभिव्यंजना प्रणाली तथा प्रगतिवाद की अभिधात्मकता तथा सपाटबयानी से निकालकर नवीन शिल्पगत आयाम प्रदान करता है। (यद्यपि इन कविताओं को अज्ञेय ने प्रयोगशील की संज्ञा दी तथापि इस धारा के विरोधी आलोचकों ने इसे प्रयोगवाद की संज्ञा से जड़ीभूत कर दिया। इन आलोचकों ने इनको व्यक्तिनिष्ठ, समाजविरोधी तथा नीरस कह कर इस काव्यधारा का विरोध किया लेकिन यह कविता अपनी विशिष्टताओं के बल पर विकसित होती गयी और आगे चलकर नयी कविता में पर्यवसित हो गई।)

प्रयोगवाद में व्यवहृत प्रयोग शब्द नये जीवन सत्यों को पाने की बेचैनी का बोधक है। अज्ञेय ने 'तारसप्तक' तथा 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में प्रयोगशील शब्द को प्रयुक्त किया है। यह प्रयोगशील नये जीवन सत्यों के अन्वेषण का माध्यम है। अज्ञेय ने इसे दुहरा माध्यम माना है। दूसरे सप्तक की भूमिका में वे लिखते हैं – "प्रयोग अपने आपमें इष्ट नहीं है, वह साधन है और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है।" प्रयोग की इस धारणा को ग्रहण कर विकसित

होने वाली प्रयोगवादी कविता की अपनी कुछ विशेषताएं हैं जो उसे पूर्ववर्ती काव्यधाराओं से भिन्न करती हैं।

कविता की केन्द्रीय चेतना के रूप में **स्वानुभूति की प्रामाणिकता** की चिन्ता प्रयोगवाद की आधारभूत विशिष्टता है। स्वानुभूति यहां छायावादोत्तर गीतिकवियों की तरह एकांगी न होकर संपूर्ण वैचारिक धरातल पर व्याप्त है। इस स्वानुभूति में न तो प्रगतिवाद का बड़बोलापन है और न ही छायावाद की वायवीयता है। इस संदर्भ में अज्ञेय द्वारा रचित कविता 'जितना तुम्हारा सच है' की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं –

मौन भी अभिव्यंजना है :

जितना तुम्हारा सच है
उतना ही कहो।

प्रयोगवाद स्वानुभूति की प्रामाणिकता के संबंध में परम्परा का निषेध करता है। यह निषेध शिल्प और संवेदना दोनों धरातलों पर है। परम्परा का निषेध कर वह निजी तथा नवीन दृष्टि से अपनी चेतना का प्रवाह करता है। दूसरा सप्तक में 'टूटने का सुख' नामक कविता में भवानी प्रसाद मिश्र परम्परा का निषेध करते हुए बिना सीढ़ी के चढ़ने की प्रेरणा देते हैं –

(इस दिशा से उस दिशा तक छूटने का सुख।
टूटने का सुख।)
– – – –
बिना सीढ़ी के बढ़ेंगे तीर के जैसे बढ़ेंगे,
इसलिए इन सीढ़ियों के फूटने का सुख।
टूटने का सुख।

यहां टूटने में सृजन की संभावनाओं की अभिव्यक्ति की गई है। रघुवीर सहाय परम्परा के पूरी तरह टूटने के साथ नवीन सर्जना को पा लेने की बात करते हैं। परम्परा का यह निषेध स्वानुभूति की प्रामाणिकता के संदर्भ में ही प्रस्तावित होता है।

समूह की तुलना में ईकाई पर बल प्रयोगवाद का वैशिष्ट्य है और यह वैशिष्ट्य अनेक धरातलों पर दिखाई देता है। समाज और व्यक्ति के संदर्भ में प्रयोगवादी कविता व्यक्ति की अस्मिता पर बल देती है। प्रगतिवाद समाज के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति का आकलन करता है

जबकि प्रयोगवाद व्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक पुनर्निर्माण की चूना को प्रस्तावित करता है। अज्ञेय द्वारा रचित नदी के द्वीप, यह दीप अकेला आदि कविताएं प्रयोगवाद की इस वैचारिक पीठिका को प्रस्तावित हैं –

किन्तु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।

'यह दीप अकेला' कविता की भी निम्नलिखित पंक्तियां इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं –

यह दीप, अकेला, स्नेह–भरा
है गर्व–भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति–को दे दो।

व्यक्ति की अस्मिता पर बल देकर प्रयोग इस मार्क्सवादी चेतना का विरोध करता है कि व्यक्ति सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का प्रतिफलन है। ऐसा करते हुए प्रयोगवाद समाज–विरोधी नहीं है। इस संबंध में अज्ञेय लिखते हैं – "व्यक्ति समाज से स्वतंत्र नहीं है, लेकिन समाज में स्वतंत्र है।" प्रयोगवादी मानते हैं कि व्यक्ति की अपनी चेतना तथा अस्मिता के आधार पर समाज का निर्माण होता है। समाज व्यक्ति का निर्माण नहीं करता अपितु व्यक्ति स्वयं सर्जित होकर समाज को प्रभावित करता है।

भाषा के संदर्भ में प्रयोगवादी कविता शब्द पर बल देती है। 'भवन्ती' में अज्ञेय ने लिखा है – 'कविता शब्द से शुरू होती है और शब्द पर ही खत्म हो जाती है।' प्रयोगवादी कविता में शब्द बाह्य उपकरण मात्र नहीं अपितु कविता की आन्तरिक सत्ता तथा आत्मा है।

प्रयोगवादी कविता विराट समय और क्षण की तुलना में क्षण पर बल देती है। वह मानती है कि समय तो क्षणों का पुंज मात्र है, वास्तविक अस्तित्व क्षण का ही है। अज्ञेय द्वारा रचित कविता 'सर्जना के क्षण' की ये पंक्तियां प्रयोगवाद में क्षण की महत्ता को संकेतित करती हैं –

और सब समय पराया है
सिर्फ उतना ही क्षण अपना
तुम्हारी पलकों का कंपना।

क्षणवाद के रूप में ही प्रयोगवादी कविता इतिहास का निषेध कर वर्तमान पर बल देती है।

इस प्रकार प्रयोगवाद ईकाई पर बल देते हुए व्यक्तिवाद, शुद्ध कलावाद और क्षणवाद की प्रस्तावना करता है।

यथार्थ के प्रति उन्मुक्त दृष्टि प्रयोगवाद की एक अन्य विशेषता है। यथार्थ को वादमुक्त होकर स्वविवेक से देखने के कारण ही ऐसा है। दूसरा सप्तक की भूमिका में अज्ञेय ने साफ कहा है कि 'प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं।' वैचारिकता के अलग–अलग आयामों के कारण प्रत्येक कवि की अपनी अलग–अलग दृष्टि है तथा इसी कारण प्रयोगवाद में अन्तर्विरोध का स्वर भी मुखर है जो नई कविता में पूर्णतया उभर कर आता है।

प्रयोगवादी कविता में यौनकुंठा का प्राबल्य है। अज्ञेय ने तारसप्तक की भूमिका में लिखा है – 'आज के साधारण मानवों का मन यौन–वर्जनाओं का पुंज है।' यौन वर्जना यौनकुंठा को जन्म देती है। यौनकुंठा के धरातल पर ही अधिकांश प्रयोगवादी कवि यथार्थ की प्रस्तावना करते हैं। अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता आदि कवियों की कविताओं में यथार्थ यौनकुंठा में लिपटा हुआ दिखाई देता है। अज्ञेय की कविता सावन मेघ की ये पंक्तियां इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं –

घिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका–सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष

धर्मवीर भारती यौन को अनैतिक मानने के स्वर के विरुद्ध प्रणय के मांसल स्वरूप की अभिव्यक्ति करते हुए उसे नैतिक दर्जा देने की वकालत करते हैं–

अगर मैंने किसी के होठ के पाटल कभी चूमे
अगर मैंने किसी के नैन के बादल कभी चूमे
महज इससे किसी का प्यार मुझ पर पाप कैसे हो।
महज इससे किसी का स्वर्ग मुझ पर शाप कैसे हो।

यह स्वर अन्य प्रयोगवादी कवियों में भी सुनाई देता है।

प्रयोगवाद कविता और बौद्धिकता के अंतर्संबंधों की प्रस्तावना करता है। सामान्यतः कविता भावों की अभिव्यक्ति मानी जाती थी। लेकिन प्रयोगवाद ने अनुभूति को बौद्धिकता से संपृक्त करते हुए कविता में अभिव्यक्त किया। अपनी प्रेमिका के साथ हरी घास पर क्षण भर बैठने की अनुभूति को व्यक्त करते हुए कवि भावनाओं में नहीं बह जाता। वह बौद्धिक ढंग से ही अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है –

आओ बैठो
क्षण भर तुम्हें निहारूं।
झिझक न हो कि निरखना
दबी वासना की विकृति है।
(चलो, उठें अब
अब तक हम थे बन्धुवर
सैर को आये –
और रहे बैठे तो
लोग कहेंगे
धुंधले में दुबके दो प्रेमी बैठे हैं।
वह हम हों भी
तो यह हरी घास ही जाने।)

उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) IAS/PCS 9868448606

प्रयोगवादी कवियों ने शिल्प को प्राथमिकता दी है। उनके यहां शिल्प सिर्फ कहने का ही माध्यम नहीं अपितु जानने का माध्यम भी है। अज्ञेय ने दूसरा सप्तक की भूमिका में लिखा है – 'जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी संपूर्णता में पहुंचाया जाय यही पहली समस्या है, जो प्रयोगशीलता को ललकारती है क्योंकि कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है।' अतः प्रयोगवादी कवि शब्द, बिम्ब, प्रतीक, छन्द इत्यादि के प्रति बहुत जागरूक और प्रयोगशील रहा है।

शब्दों का खुला आमंत्रण प्रयोगवाद की मूलभूत विशेषता है। यहां भाषा सिर्फ साधन नहीं है, अपितु साध्य भी है। प्रयोगवाद भाषा को पुरानी रूढ़ियों से निकालकर नए आयाम प्रदान करता है। अज्ञेय के शब्दों में –"साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियां रूढ़ हो गई हैं। अतः वह भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक और

सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है।" इसलिए प्रयोगवादियों ने कतिपय नये शब्दों को अपनाया है जो पुरानी काव्य परम्परा में बिल्कुल नहीं थे। जीवन में प्रचलित शब्दों के माध्यम से साधारणीकरण की पुरानी प्रक्रिया को तोड़कर प्रयोगवादी कवि दर्शन शास्त्र, विज्ञान, अंग्रेजी, बाजार, ग्राम, राजनीति आदि विविध अनुशासनों से शब्द ग्रहण करता है। इसलिए शब्द–संयोजन और शब्द–निर्माण की सर्वाधिक समृद्धि प्रयोगवाद में मिलती है। महानगरीय सौंदर्यबोध के डायरी, नोट्स, नेलपालिश, इंजेक्शन, सायरन इत्यादि शब्दों को धारण करते हुए प्रयोगवाद का शब्द–विधान केवल चमत्कारवर्द्धक नहीं होता अपितु मानवजीवन के सत्यों को उद्घाटित करता है। नेमिचन्द्र जैन सायरन शब्द का प्रयोग करते हुए नवीन परिस्थितियों से उत्पन्न नई मनःस्थिति का सूक्ष्म चित्र खींचते हैं –

आज उचटा सा हृदय
साइरन बज जाय उसके बाद
निर्जन शून्य सड़कों–सा निभृत, निस्संग, खाली
व्यर्थता की स्याह–सी थे सांप चादर से
अभी ज्यों ढक गया हो शून्य जी का प्रान्त।

प्रयोगवादी कविता मध्यवर्गीय मानसिकता की कविता है इसलिए इसमें मिश्रित भाषा का प्रयोग मिलता है। कवि जहां रक्ताभ, आक्षितिज, तिमिरावृत आदि तत्सम शब्दों का प्रयोग करता है, वहीं इम्तहान, खलास, इलाज आदि शुद्ध उर्दू शब्दों का भी। वह संज्ञा से विशेषण बनाते हुए हरा रंग से हरिया, गंध से गंधाते, छंद से छंदित जैसे नए शब्दों का भी निर्माण करता है :

कितने कमरों में,
बंद हिमालय रोते हैं
मेजों में लगकर सो जाते कितने पठार
कितने सूरज अंधेरे में गल रहे छिपकर।

यहां हिमालय उच्चता के लिए, पठार विशाल एवं विस्तृत व्यक्तित्व के लिए तथा सूरज तेजस्वी व्यक्तित्व के लिए प्रयुक्त हुआ है।

भाषा को अपर्याप्त मानकर अज्ञेय ने अक्षरों का टाइप उलटे तिरछे लिखकर प्रश्नचिह्न आदि लिखने के तरीके में बदलाव लाकर भाषा में चमत्कार और सर्जनात्मकता लाने तथा भाषा को विकसित करने का प्रयत्न किया है।

बौद्धिकता के परिणामस्वरूप प्रयोगवादी कविता की अप्रस्तुत योजना में विशिष्टता लक्षित होती है। प्रयोगवादी कवियों ने छायावादी कविता की अप्रस्तुत योजना की मसृणता, सुकुमारता एवं कैशोर भावना का बहिष्कार कर नये अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है। पारंपरिक उपमानों को छोड़कर अज्ञेय अपनी कविता 'कलगी बाजरे की' में अपनी प्रिया को 'बाजरे की कलगी' से उपमित करते हैं :

अगर मैं तुमको
ललाती सांझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार–न्हायी कुंई,
टटकी कली चम्पे की,
वौरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही
ये उपमान मैले हो गये हैं।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि.) IAS 9868-6606 2350/10-/IAS/PCS

इसी प्रकार परंपरागत उपमानों की वर्जना कर प्रयोगवादी कवि नये उपमानों की सर्जना के द्वारा नवीन सत्यों को रूपायित कर प्रयोगवाद को वैशिष्ट्य प्रदान करता है। इस संदर्भ में रघुवीर सहाय की अप्रस्तुत योजना उल्लेखनीय है :

विषय	अप्रस्तुत
जिंदगी	मशीन, हाडमांस की गठरी
हम	थर्मस से
प्रश्न पूछती हुई जिंदगी	ज्योतिषी के आगे फैले हुए हाथ–सी
सजीला जिस्म	एक दुनिया की उम्मीद सा
गौन	धूल भरी बांसुरी सरीखा
भोर का नभ	राख से लीपा हुआ चौका

नवम्बर की दोहर
दिन
सभी कुछ मेरे अंदर कसके
लिपट है

जार्जेट की पीले पल्ले सी
हल्की मीठी चाय–सा
सिनेमा की रीलों सा

प्रयोगवादी कविता में बड़े पैमाने पर नए प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। नामवर सिंह के अनुसार – "उनका यथार्थ भीरू बोध ही प्रतीकों का प्रयोग करने के लिए उन्हें बाध्य करता है।" वस्तुतः यथार्थ की पूरी सघनता के बावजूद उसे प्रकट न कर पाने की मजबूरी प्रयोगवादियों को इन प्रतीकों का प्रयोग करने के लिए प्रेरित करती है। प्रयोगवादी कविता में नदी के द्वीप अस्तित्व संकट का प्रतीक है, बालू का तह जीवन की ऊब–भरी निर्जन शून्यता का प्रतीक है और मछली जिजीविषा का प्रतीक है। प्रयोगशील कवि यौन प्रतीकों का इस्तेमाल बहुतायत में करता है। उदाहरण के लिए अज्ञेय की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं –

सो रहा है झोंप अंधियाला
नदी की जांघ पर
डाह से सिहरी हुई यह चांदनी
चोर पैरों से उझक कर
झांक जाती है।

प्रयोगवादी कवियों ने अपनी कविता में ताजे एवं टटके बिम्बों का प्रयोग किया है और वे अपने पूर्ववर्तियों से इस मामले में बहुत सजग रहे हैं। इन कवियों ने केवल कल्पना के लिए नहीं, अपितु प्रामाणिकता के लिए प्रकृति तथा मनुष्यों के अंतर्संबंधों के निरूपण के लिए बिम्ब के प्रयोग किए हैं। ये बिम्ब जीवन के जीवित संदर्भों से ग्रहण किए गए हैं। यथार्थ के प्रति भावुक प्रतिक्रिया की अपेक्षा जीवन की हरकतों से सीधा और ऐन्द्रिय स्थिरता कायम करने के साथ बौद्धिक चेतना के यथार्थ की पहचान इनके बिम्बों में उभरी है। भवानी प्रसाद मिश्र की कविता 'बूंद टपकी एक नभ से' की ये पंक्तियां दृश्य बिम्ब का सशक्त उदाहरण है –

बूंद टपकी एक नभ से
किसी ने झुक कर झरोखे से
कि जैसे हंस दिया हो
हंस रही –सी आंख ने जैसे

किसी को कस दिया हो।'

अज्ञेय की कविता 'सावन मेघ' में यौन–बिम्ब मिलते हैं –

जब कि सहसा तड़ित के आघात से घिर कर
फूट निकला स्वर्ग का आलोक
बाध्य देखा :
स्नेह से आलिप्त
बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल
बद्ध
वासना के पंक–सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य–सी निर्लज्ज, नंगी

प्रयोगवादी कविता मुख्यतः मुक्त छन्द की कविता है। छायावादी कविता में मुक्त छन्द विकल्प रूप में था लेकिन प्रयोगवाद में यह सहज और स्वाभाविक है। अज्ञेय ने 'आर्ट आफ रीडिंग' के परिप्रेक्ष्य में नए छन्दों का प्रयोग किया है तथा कविता में लयात्मक अन्विति का विधान किया है। उदाहरण के लिए अज्ञेय द्वारा मुक्त छन्द में रचित कविता 'तुम हंसी हो' दृष्टि से कहीं भी टूटी हुई नहीं है –

तुम हंसी हो
जो न मेरे होठ पर दीखे
मुझे हर मोड़ पर मिलती रहती है
धूप
मुझ पर जो न छाई हो
किन्तु जिसकी ओर
किन्तु जिसकी ओर
मेरे रुद्ध जीवन की
कुटी की खिड़कियां खुलती रही हैं।

वस्तुतः प्रयोगवादी कवियों ने कविता में छन्दों के प्रयोग का ध्यान रखा है और मुक्त छन्द में होने के बावजूद उनकी कविताओं में एक लय है। कुछ प्रयोगवादी कवियों ने रूपामी और चतुष्पदी छंदों का प्रयोग किया है।

समग्रतः प्रयोगवादी कविता रचना की विकास प्रक्रिया से लेकर उसकी सार्थकता की संपूर्ण यात्रा को बौद्धिकता के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करती है। भक्तिकाल और छायावाद की कविताओं में वैचारिक और दार्शनिक संदर्भों को भी राग का विषय बनाया गया है जबकि प्रयोगवादी कविता में रागात्मक तत्वों को भी बौद्धिकता के माध्यम से व्यक्त किया गया है। मूलतः इस कविता का मुख्य उपादान बौद्धिक धारणाएं हैं जो प्रायः विज्ञान राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान आदि की उपजीवी हैं। इस प्रकार यह कविता अनुभूति का बौद्धिकरण करती है और इस क्रम में कविता के लक्ष्यों का निषेध करती है। यथार्थ को संपूर्ण जटिलता में धारण करने और जटिल मानसिकता की अनिवार्य सृजन प्रक्रिया के कारण प्रयोगवादी कविता जटिल हो गई हैं। जटिलता, दुरुहता एवं बौद्धिकता का इस पृष्ठभूमि के कारण कतिपय आलोचकों ने इसे कविता की सरणि से ही निष्कासित कर दिया है। परन्तु प्रयोगवाद की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः प्रयोगवाद ही नई कविता के उद्भव की पृष्ठभूमि बनाता है। वादमुक्तता, व्यक्ति की महत्ता, नया शिल्प विधान आदि विशेषताएं नई कविता के प्राणतत्व है। व्यक्तिवाद से लघुमानव की अवतारणा नई कविता में आती है। प्रयोगवादी शिल्प विधान के नवीन आयाम के माध्यम से नई कविता में जीवन के संपूर्ण यथार्थ को पूरे रचनात्मक संदर्भों में प्रकट किया गया। अपनी कुछ सीमाओं के बावजूद हिन्दी साहित्येतिहास में प्रयोगवाद का महत्वपूर्ण स्थान है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

क्लासेज I.A.S./PCS.

नयी कविता की विशेषताएं

छायावादोत्तर हिन्दी कविता में विकसित होने वाली काव्यधाराओं में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के बाद नयी कविता का उदय हुआ। प्रमाणिक जीवन की अनुपस्थिति के कारण प्रगतिवाद एक नारे में तबदील हो गया था तथा प्रयोगवाद के अनेक कवियों ने प्रयोग को ही कविता का साध्य मान लिया। इसलिए 1950 के बाद एक समय प्रयोगवादी कहने जाने वाले कवियों ने ही प्रयोगवाद को नयी कविता की उदार और सहज अन्तर्धारा में विलयित कर दिया। वस्तुतः नयी कविता दूसरे तारसप्तक के बाद विकसित होने वाली एक ऊर्जावान काव्यधारा है जिसने स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन और व्यक्ति की संश्लिष्ट जीवन–परिस्थितियों का रचनात्मक साक्षात्कार किया।

(1) **'यथार्थ के प्रति उन्मुक्त दृष्टि'** नयी कविता की आधारभूत विशेषता है। इसी कारण नयी कविता यथार्थ को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करती है –

'जिन्दगी में जो कुछ है, जो भी है
सहर्ष स्वीकारा है।' – मुक्तिबोध

नयी कविता यह मानती है कि यथार्थ का कोई निर्दिष्ट ढांचा नहीं है। अतः उसे किसी विशिष्ट वैचारिक अनुशासन से विश्लेषित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः वस्तु सत्य और अनुभव–सत्य की अन्तर्क्रिया से उपलब्ध होने वाला सत्य ही यथार्थ है।

(2) **अहं के प्रति सजगता और व्यक्तित्व की खोज** नयी कविता की चेतना का महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य है। इस अहं बोध का कारण छायावादी वैयक्तिकता की तरह भावात्मक नहीं है, बल्कि अस्मिता का संकट है। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' और 'यह दीप अकेला' इस दृष्टि से उद्धरणीय हैं –

'यह दीप अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

नयी कविता (3) **लघुमानव की अवधारणा** का सूत्रपात करती है और इस लघुता को लेकर उसके भीतर हीनता की कोई ग्रंथि नहीं है। लघुमानव देवत्व से परहेज करता है तथा ईश्वर और सामूहिकता के भीतर अपनी संभावनाओं की तलाश नहीं करता। नयी कविता इस मनुष्य को अधिक संभावनागर्भित रूप में देखती है –

मैं रथ का टूटा पहिया
लेकिन मुझे फेंको मत
क्योंकि इतिहासों की सामूहिक गति सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जाने
सच्चाई टूटे पहियों का आश्रय ले। – धर्मवीर भारती

नयी कविता (4) **आधुनिक भावबोध** की कविता है और उसके इस आधुनिक भाव बोध पर पश्चिम के अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव लक्षित होता है। आधुनिक भाव बोध का पहला महत्वपूर्ण बिन्दु 'वेदना' है। स्वतंत्रता और दायित्वबोध के अकेलेपन की टहराहट से

उत्पन्न वेदना को नयी कविता मनुष्य की नियति के रूप में चित्रित करती है। यह वेदना नकारात्मक नहीं है, बल्कि यह वैयक्तिक–चेतना का परिष्कार करती है–

दुःख सबको मांजता है
और चाहे स्वयं
सबको यह मुक्त करना न जाने
किन्तु जिन्हें यह मांजता है
उन्हें यह सीख देता है
कि दूसरों को मुक्त रखे।

आधुनिक भावबोध का दूसरा महत्वपूर्ण बिन्दु है – 'संशय'। संशय परम्पराके समूचे अनुभव और व्यक्ति–अनुभव की टकराहट से उत्पन्न भावबोध है। नयी कविता यह मानती है कि संशयी चेतना व्यक्तित्व की स्वायत्तता और सार्थकता के लिए अनिवार्य है। वह संशय को मूल्य के रूप में, स्वीकार करते हुए उसे सत्य तक पहुंचने का माध्यम मानती है –

संशय निकष है
ऋत का भी – नरेश मेहता

निरर्थकता–बोध आधुनिक भावबोध की एक स्थिति है। यांत्रिक जीवन, अराजकतावादी राजनीति और पूंजीवादी संस्कृति के कारण उत्पन्न निरर्थकता का बोध नयी कविता में बहुत गहरा है। मुक्तिबोध की पंक्तियां हैं –

मैं दुनिया के किसी अंधेरे में
हूं भूतपूर्व यंत्र का निरर्थक
एक अनावश्यक जंग–खाया
टूटा पुर्जा

यह निरर्थकता जिस मानसिकता को जन्म देती है, वह अप्रमाणिकता की चेतना में अभिव्यक्त होती है –

तुमने जहां लिखा है 'प्यार'
वहां लिख दो 'सड़क'
फर्क नहीं पड़ता।

मेरे युग का मुहावरा है
'फर्क नहीं पड़ता।' – केदारनाथ सिंह

इस अप्रमाणिकता का एक मूल कारण नयी कविता यह भी मानती है कि एक ही व्यक्ति में कई व्यक्तित्वों का आरोपण हो गया है –

दो सत्य
दो संकल्प
दो–दो आस्थाएं
व्यक्ति में ही अप्रमाणिक व्यक्ति पैदा हो रहा है। – नरेश मेहता

आधुनिक भावबोध मूल्यों के संकट की बात बार–बार कहता है। आधुनिक जीवन–संरचना में परम्परागत मूल्य निरर्थक हो गए हैं और नए मूल्यों की सृष्टि हो नहीं पायी है। अतः मनुष्य मूल्यहीनता और अनास्था के अंधकार में खोने के लिए अभिशप्त है। धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' के अनेक प्रसंगों में मूल्यों के संकट की बात की गई है। उदाहरण के लिए गांधारी का यह कथन द्रष्टव्य है –

जिसको तुम कहते हो प्रभु
उसने जब चाहा
मर्यादा को अपने ही हित में बदल लिया
वंचक है वो।

(5) 'महानगर और नगर' नयी कविता की चेतना के भूगोल हैं। नगर–बोध की नियतियां हैं – विडम्बना और विसंगति। इसकी अभिव्यक्ति नयी कविता में हुई है। सर्वेश्वर की पंक्तियां हैं –

लेकिन मैं देखता हूं
आज के जमाने में
आदमी से ज्यादा लोग पोस्टरों को पहचानते हैं
वे आदमी से भी बड़े सत्य हैं

किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के लिए नगर में अकेलापन उसकी त्रासद नियति है –

बाजार भी जैसे
सन्नाटा है
बहरे के लिए
मेहंदी जैसे निरर्थक है
चेहरे के लिए
ऐसी हो गई है जिन्दगी
खाली और खस्ता
मेरे नजदीक। — भवानी प्रसाद मिश्र

नयी कविता की रचनात्मक ऊर्जा का एक महत्वपूर्ण अंश (6) **स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीतिक जीवन** से संबद्ध है। पर इसकी राजनीतिक चेतना का आधार सांगठनिक नहीं है। नयी कविता की राजनीतिक चेतना रचनाकार के स्वतंत्र विवेक और मानवीय प्रतिबद्धता से प्रेरित है। चरित्रहीन आश्वासनी राजनीति पर प्रहार करते हुए रघुवीर सहाय लिखते हैं —

एक बार
जान–बूझ कर चीखना होगा
जिंदा रहने के लिए
दर्शक–दीर्घा में से
रंगीन फिल्म की घटिया कहानी की
सस्ती शायरी के शेर
संसद–सदस्यों से सुन
चुकने के बाद।

शिल्प की दृष्टि से नयी कविता मानती है कि (7) **परिवेश का बोध भाषा की क्षमता** पर निर्भर करता है। नयी कविता सामान्यतः बोलचाल की भाषा के ग्रहण पर बल देती है। अतः नयी कविता के शब्द चयन का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। उसमें अंग्रेजी उर्दू और लोकभाषा के शब्दों का निःसंकोच प्रयोग है —

पिस गया वह भीतरी
और बाहरी दो कठिन पाटों के बीच
ऐसी ट्रैजडी है नीच — मुक्तिबोध

नयी कविता में छंद की समूची अवधारणा का निषेध करते हुए 'स्वाधीन लय' पर जोर दिया गया और इस स्वाधीन लय का संबंध 'अर्थ–लय' की अवधारणा स्थापित हुई। इस दृष्टि से अज्ञेय की निम्नांकित पंक्तियां उल्लेखनीय हैं –

तुम क्या जानो
कितनी लम्बी होती हैं रात
अकेली
सिसकी की

प्रयोगवाद ने उपमानों की नवीनता पर बल दिया था। उपमानों की नवीनता प्रयोगवाद में फैशन के रूप में भी आई, लेकिन नयी कविता विषय–वस्तु की मांग के अनुसार कविता में उपमानों की योजना करती है। अधिकांश जिन्दगी की सामयिक परिस्थितियों से लिए गए हैं। कहा जा सकता है कि ये परम्परागत अर्थों में काव्यात्मक नहीं है। एक उदाहरण प्रस्तुत है –

इधर आओ, चांदनी को स्कार्फ की तरह
तुम्हारे चेहरे पर बांध दूं।
–सर्वेश्वर

नयी कविता के बिंब–विधान का आधार अनुभूत जीवन की ठोस प्राकृतिक घटनाएं हैं। इसमें कई स्थानों पर प्रस्तुत–अप्रस्तुत का द्वैत डूब गया है। शमशेर के निम्नांकित कविता में हल्की प्रकृति और वैसा ही हल्का अवसाद घुले–मिले हैं –

एक मधुमक्खी हिलाकर फूल को,
बहुत नन्हा फूल
उड़ गई
आज बचपन का
उदास मां का मुख
याद आता है।

नयी कविता की प्रतीक योजना का यह वैशिष्ट्य है कि यह प्रतीक–योजना का इस्तेमाल दुराव या छिपाव के लिए नहीं करती है। यहां प्रतीकों का प्रयोग सामान्यतः शब्दों में अर्थ–संवहन की क्षमता पैदा करने के लिए किया गया है।

नयी कविता काव्य–शैली के स्तर पर **लम्बी कविता** के विन्यास को स्वीकार करती है। छायावाद की लम्बी कविता का आधार कोई न कोई पौराणिक या ऐतिहासिक घटना है। जबकि नयी कविता इतिहास और पुराण को अपदस्थ करते हुए अपने लिए स्वयं एक नए कथानक का विन्यास करती है। इस दृष्टि से मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' धूमिल की 'पटकथा', राजकमल चौधरी का 'मुक्ति–प्रसंग' तथा अज्ञेय की कविता ''असाध्य वीणा' प्रमुख हैं।

समग्रतः नयी कविता हिन्दी कविता के इतिहास में सिर्फ कविता के विषय को ही नहीं बदलती, बल्कि वह काव्याभिरूचि में भी निर्णायक परिवर्तन करती है। यह कविता जीवन और कविता के बीच जिस नयी रचना–चेतना का सूत्रपात करती है, उसका आधार भावात्मक न होकर बौद्धिक है। इसलिए यह कविता नए मनुष्य की चेतना और उसके जीवन–संबंधों की कविता है। नयी कविता का ढांचा मूलतः अन्तर्विरोधों का ढांचा है क्योंकि वह जीवन को किसी दार्शनिक या वैचारिक फार्मूले से नहीं पहचानती। यह कविता सरलीकृत अनुभूतिशीलता और अभिव्यक्ति–प्रणाली को अस्वीकार करने का जोखिम उठाती है और इस जोखिम के कारण इसमें जो संभावनाएं और सीमाएं उत्पन्न हुई हैं, उनके साथ इतिहास के विकास में यह अपने को प्रस्तुत करती है।

उत्कर्ष क्लासेज IAS 27659400 · IAS/PCS · 9868448406

नयी कविता – पृष्ठभूमि, नामकरण तथा काल–सीमा

पृष्ठभूमि :

1. साहित्यिक – नयी कविता प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के बाद विकसित होने वाली काव्यधारा है। यह प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की अतिवादिता का निषेध कर सामंजस्य और संश्लेष उत्पन्न करता है। नयी कविता पश्चिमी कविता की अन्तर्वस्तु और शैली से भी प्रभावित होती है।

2. सांस्कृतिक – द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न अस्तित्ववादी दर्शन तथा पश्चिमी संस्कृति का हिन्दुस्तान के शैक्षणिक समाज और नष्ट होती संस्कृति पर प्रभाव।

"जीवन को संस्कार देने और, अर्थ देने के जिटने भी पारंपरिक संदर्भ थे उन संदर्भों और परम्पराओं को पूरी तरह ध्वस्त करने की प्रक्रिया ही अकविता का आधार मूल्य है।" "श्री उत्कर्ष क्लासेज 'I.A.S."

3. राजनीतिक – स्वतंत्रता–प्राप्ति तथा स्वतंत्रता के बाद की मूल्यहीन राजनीति। चरित्रहीन राजनीति से उत्पन्न मोहभंग।

4. सामाजिक – स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय जीवन। मध्यवर्गीय जीवन के सपने और दुःस्वप्न।

नामकरण

जिस काव्यधारा को 'नयी कविता' की संज्ञा दी जाती है उसके इस नामकरण का औचित्य क्या है, यह एक स्वाभाविक प्रश्न है। क्या 'नया' अद्यतन होने का पर्याय है है या 'नया' विशेषण है ? यदि 'नया' विशेषण है तो यह नयापन कहां है ?

वस्तुतः नयी कविता का नयापन **काव्यानुभूति की नयी बनावट** पर निर्भर है। नयी कविता अभिव्यक्ति की नयी शैली नहीं है, बल्कि नयी कविता का नयापन इस बात में हैं कि वह **भावों की शाश्वतता के प्रति आश्वस्त नहीं है।** यह रागात्मकता का निषेध नहीं करती, बल्कि राग–संबंधों को शाश्वत न मानकर उसे ऐतिहासिक सामाजिक संदर्भों के परिवर्तित स्तर पर ग्रहण करती है।

काल–सीमा

नयी कविता की काल–सीमा 1950 के आसपास से लेकर लगभग 1960 ई0 तक है।

विषय	नई कविता	प्रयोगवाद	प्रगतिवाद
यथार्थ	1. उन्मुक्त दृष्टि	स्वानुभूत	मार्क्सवाद
यथार्थ चित्रण	2. विविधता / संपूर्णता	व्यक्तिवादी	एकपक्षीय (किसान मजदूर)
समाज और व्यक्ति	3. समाज और व्यक्ति में सामंजस्य और संतुलन	व्यक्ति पर बल	समाज पर बल
इतिहास और क्षण	4. समय को उसकी समग्रता में ग्रहण	क्षण पर बल	इतिहास

लक्ष्य	5. लक्ष्य–मनुष्य की नियति का उद्घाटन	लक्ष्य–प्रयोग ही लक्ष्य बन जाता है	लक्ष्य–मार्क्सवाद के अनुरूप समाज परिवर्तन। यह मात्र नारा के स्तर पर है
शिल्प	6. शिल्प के प्रति सजगता	शिल्प के प्रति अत्यधिक सजगता	शिल्प की उपेक्षा

अकविता एवं जनवादी कविता

अकविता

हमारे परम्परागत संस्कारों से बगावत की कविता है अकविता। फूहड़पन और निरर्थकता, गाली गलौज, भाषा की जितनी भी नकारात्मकता हो सकती हैं, उन सभी का प्रयोग अकविता में किया गया है। अकविता प्रबलतम हमला स्त्री पर करती है। रचनाकार के आक्रोश के केन्द्र में ईश्वर, व्यवस्था और स्त्री है।

जनवादी कविता कविता को फिर से पटरी पर लाने की कोशिश करती है। एक तरह से अकविता और जनवादी कविता में एक संबंध भी है – विपरीतता का संबंध। यानी किसी आंदोलन अथवा किसी विचारधारा से संबंध है।

कुछ लोगों ने कहा है कि अकविता नई कविता की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुई कविता है। नयी कविता छठे दशक के अंत तक खत्म हो जाती है। अकविता 20वीं शताब्दी के 7वें दशक का सर्वाधिक कुख्यात काव्य आन्दोलन है। इस आन्दोलन के अधिकांश कवियों पर अमेरिका के एक बिटनीक कवि गिंस बर्ग का बहुत गहरा प्रभाव देखा गया है। गिंस बर्ग दरअसल हिप्पी कल्चर का प्रतिनिधि कवि है। तमाम तरह की परम्पराओं, विश्वासों, मूल्यों और संभावनाओं के खिलाफ बगावत करने वाला कवि। एक तरह से मनुष्य होने की सभी शर्तों को नकारता हुआ जैविक प्रवृत्ति को ही गिंस बर्ग मनुष्य होने की शर्त मानता है। इसलिए अप्राकृतिक यौन संबंध से लेकर कुण्ठा, बीमारी, अनास्था इन्हीं स्थितियों को वह नये मूल्य के रूप में स्वीकार करता है। इसलिए गिंस बर्ग की बीट पीढ़ी का सीधा प्रभाव इन कवियों पर

दिखाई देता है। गिंस बर्ग के प्रभाव से उसे भूखी पीढ़ी के नाम से जाना गया था, भूखी पीढ़ी या शमशानी पीढ़ी।

अकविता आंदोलन वस्तुतः पहले बंगाल में आया और बंगाल से फिर हिन्दी प्रदेश में आया। इसलिए अकविता आंदोलन दरअसल दो तरह के आंदोलनों से जुड़ी है – बीट आंदोलन से और भूखी पीढ़ी आंदोलन से। बंगाल की भूखी पीढ़ी ने ईश्वर, धर्म, व्यवस्था और औरत पर खुला हमला किया। वस्तुतः **जीवन को संस्कार देने और अर्थ देने के जितने भी पारम्परिक संदर्भ थे उन संदर्भों और परम्पराओं को पूरी तरह ध्वस्त करने की प्रक्रिया ही अकविता का मूल आधार है।** इस तरह से एक आंदोलन के रूप में अकविता विकसित होने लगी। इस धारा के कवि हैं – राजकमल चौधरी। इनकी दो रचनाएं चर्चित रचनाएं हैं, कंकावती और मुक्ति प्रसंग। कैलाश वाजपेयी – 'संक्रांत'। जगदीश चतुर्वेदी – 'इतिहास हंता'। कुमार विकल – 'लीलाधर जगूड़ी 'नाटक जारी है।' श्याम परमार का काव्य संग्रह है 'कविता से बाहर'। इस दौर के अंतिम लेकिन बेहद चर्चित कवि धूमिल। धूमिल एक तरह से अकविता के मिजाज को बदलने की कोशिश करते हैं और अकविता में जो आक्रोश है उस आक्रोश को सामाजिक और राजनीतिक संदर्भ देते हैं।

अकविता की प्रवृतियों के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि 'विकृति' उसकी केन्द्रीय प्रवृति है। अकविता आंदोलन का राजनीतिक सामाजिक परिप्रेक्ष्य क्या है ? अकविता से सहानुभूति रखने वाले कुछ आलोचकों ने कहा कि यह आंदोलन अपने संबंध और समाज के गहरे मोहभंग का परिणाम है। लेकिन इतिहास की परिस्थितियों के साथ दो तरह के संबंध बनाए जा सकते हैं। मोह भंग के दो चेहरे हो सकते हैं। एक चेहरा जनवादी कविता में भी दिखाई देता है। अकविता दरअसल मोह भंग को मानसिक रुग्णता के स्तर पर ग्रहण करती है। हताशा और दिशाहीनता से मोह भंग की परिणतियां अकविता में दिखाई देती हैं। इसलिए अकविता के उत्पन्न होने का मूल कारण ऐतिहासिक सामाजिक न होकर मनोवैज्ञानिक है। यह विशेष प्रकार की मानसिक रुग्णता है जो इतिहास और सामाजिक परिवेश का आश्रय लेना चाहती है। लेकिन यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि अकविता के उत्पन्न होने का कारण मोह भंग है।

मोह भंग की राकारात्मक प्रतिक्रिया भी हो सकती है। मोह भंग से एक रास्ता संघर्ष का भी निर्मित होता है। यह संघर्ष का रास्ता अख्तियार नहीं करती। यह निराशा और

मानसिक कुण्ठा का वरण करती है । क्योंकि मानसिक कुण्ठा इन कवियों की निजी कुण्ठा से बहुत मेल खाती है। इसलिए अकविता की मूल प्रकृति है – विकृति से लगाव और विकृति के साथ एक गहरा आत्मिक और रागात्मक संबंध। अकविता चीजों को और संबंधों को सहज रूप से देखने में पूरी तरह अक्षम है। इसलिए वह प्रत्येक संबंध, गरिमा, पवित्रता और संभावना को क्षतिग्रस्त करती है।

अकविता यौन संबंधों की नग्नता को अपने घोषणा पत्र का आधार बनाती है। इसलिए स्त्री मात्र भोग्या है। अकविता के घोषणा पत्र के अनुसार वस्त्रों के साथ स्त्री के किसी भी रूप की प्रस्तुति एक रचनात्मक गुनाह है। निर्वस्त्रता में ही अकविता आंदोलन में स्त्री दिखाई देती है। स्त्री के साथ पुरुष के सभी रिश्ते समाप्त हो गये हैं, बस एक ही रिश्ता है जैविकता और भोग का रिश्ता। जगदीश चतुर्वेदी को एक मां और बहन और पत्नी और प्रिया में अब कोई अन्तर नहीं दिखता है "मुझे कुलटाएं देवियां नजर आती हैं" ..... आप देख सकते हैं कि स्त्री किसी भी संबंध में नहीं है। स्त्री की एक ही भूमिका है, वह किसी भी रिश्ते की हो, किसी भी उम्र की हो, वह मात्र भोग्या है। सामाजिक संबंधों की जितनी भी संज्ञाएं और स्थितियां हो सकती हैं अकविता उनको नकार देती है। तो एक जो स्त्री के प्रति दृष्टिकोण है वह भोग का दृष्टिकोण है और वह भोग स्वस्थ मानसिकता का भोग नहीं है, एक बीमार मानसिकता का भोग है। क्योंकि स्वस्थ मानसिकता का भोग संस्कारित भोग होता है। लेकिन अकविता संबंधों के किसी भी तरह के व्याकरण का निषेध करती है। एक अराजकता, उच्छृंखलता, लक्ष्यहीनता और पशुता जीने और भोगने की प्रविधियां हैं जो अकविता में दिखाई देती हैं।

परम्परागत समाज की आस्था के केन्द्र में ईश्वर रहा है। कुमार विकल की कविता है– प्रभु जी आप देर से आए, अब आपको कौन पिलाए, प्रभु जी आप देर से आए अब आपको कौन पिलाए।' दरअसल जो बाजारू साहित्य है उसमें पूजा की बात लिखी हो या नग्नता की बात लिखी हो, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। ये दावा करते हैं कि हमारी तुलना प्रसाद से होनी चाहिए और हम प्रसाद से ज्यादा ताकतवर कवि हैं। दरअसल इसे साहित्यिक आंदोलन के भीतर इसलिए लिया जाता है क्योंकि इनका अपना एक घोषणा पत्र है, इनके अपने कुछ दावे हैं। ये अपने को इतिहास की एक अनिवार्य धारा के रूप में देखते हैं।

राजकमल चौधरी बहुत गम्भीर रचनाकार भी हैं। इसलिए अकविता के उस दौर को छोड़ कर फिर गंभीर धारा में वापस लोग लौट आए। तो इस धारा का नोटिस इसलिए लिया गया है कि इसको छोड़ कर बाद में गम्भीर साहित्य में और बहुत रेखांकित करने योग्य साहित्य में लोग लौट आए।

अकविता से जनवादी कविता की ओर

दरअसल अकविता आंदोलन की विकृतियों को छोड़ कर कविता को एक बेहद गंभीर दिशा की ओर मोड़ने का ऐतिहासिक कार्य धूमिल के द्वारा शुरू हुआ। इसलिए धूमिल कविता से भी और आंदोलन से भी जुड़े हुए हैं। इसलिए धूमिल में कई जगह अकविता के अवशेष दिखाई देते हैं। जैसे औरतों को लेकर उनकी टिप्पणियां और रवैया बिल्कुल साफ नहीं है। आरंभिक तौर पर 'संसद से सड़क तक' बहुत चर्चित पुस्तक है। इन्होंने 3 पुस्तकें लिखी हैं – 'संसद से सड़क तक', 'कल सुनना मुझे' और 'सुदामा पाण्डे का लोकतंत्र'। 'संसद से सड़क तक' में जो भाषिक मुहावरा है उस मुहावरे पर आंदोलन की छाप देखी जा सकती है। लेकिन जैसे धूमिल अपनी काव्य नीति को संसद से सड़क तक में बदलने की कोशिश करते हैं। कविता को उन्होंने एक नयी परिभाषा दी कि कविता भाषा में आदमी होने की तमीज है। इसका अर्थ है कि कविता और आदमी होने के बीच में एक अनिवार्य संबंध है। दरअसल कविता का होना आदमी के बने रहने का प्रमाण है और इस कविता के खिलाफ दो शक्तियां बहुत सक्रिय हैं। एक शक्ति सत्ता की है और दूसरी शक्ति बाजार की है। धूमिल की कविता दरअसल इन्सान की परिभाषा को क्षतिग्रस्त करने वाले राजनैतिक चरित्र पर प्रहार करती है। इसलिए धूमिल के लिए कविता आदमी को बचाए रखने की आखिरी लड़ाई है और इस संदर्भ में उन्होंने राजनीति और बाजार की भूमिका की ओर संकेत किया है।

राजनीति भाषा की प्रामाणिकता को नष्ट कर डालती है। वह भाषा के अर्थों का विध्वंस करती है, वह भाषा को अविश्वसनीय बनाती है। भाषा की प्रामाणिकता और अविश्वसनीयता का प्रश्न आदमी होने से जुड़ा हुआ प्रश्न है। इसलिए जहां इस बहुत प्रतिकूल मौसम में पूरी राजनीतिक सत्ता भाषा के अर्थ संसार को नष्ट–भ्रष्ट कर रही हो हो भाषा, अर्थ और आदमी के वजूद को कविता में ही बचाया जा सकता है। इसलिए बहुत गंभीर कर्म के रूप में उन्होंने कवि कर्म को अपनाया। इसलिए यह बात महत्वपूर्ण है कि कविता भाषा में आदमी होने की तमीज है। कई लोगों का ऐसा मानना है कि धूमिल की तरह ताकतवर रचनाकार 60 के बाद

अभी तक कोई नहीं हुआ है। धूमिल ने एक नये और उत्तेजित मुहावरे का निर्माण किया कविता के लिए। एक नया उत्तेजित मुहावरा, जिसने कविता के मिजाज को, उसकी प्रकृति को, उसकी सार्थकता को नये सिरे से बदला। इसलिए एक जगह कहा भी गया है कि धूमिल की कविता की सारी शब्दावली राजनीति, सामाजिक संसार की शब्दावली है। प्रकृति से बहुत कम लेते हैं। बहुत कुछ परम्परा से नहीं लेते, उसमें मिथक का प्रयोग नहीं किया जाता। दरअसल वे राजनीतिक संसार से ही शब्दों का चुनाव करते हैं और कविता को एक नई दिशा, नई भाषा, नया मिजाज प्रदान करते हैं।

धूमिल को सही मायनों में मोह भंग का कवि कहा जा सकता है। लेकिन ऐसा मोह भंग जो आक्रोश की पवित्रता उत्पन्न करता है। भाषिक अभिधात्मकता के द्वारा व्यवस्था के यथार्थ पर इतना सीधा प्रहार आधुनिक युग में सिर्फ धूमिल के द्वारा संभव हो पाया है। इसलिए दोटूकपन जिसे काव्यशास्त्रीय शब्दावली में अभिधा कहा जाता है, आक्रोश और प्रहारात्मकता से धूमिल की कविता की कुछ दिशाएं हैं। इस दृष्टि से धूमिल की काव्यचेतना के कुछ बिन्दुओं का निर्धारण किया जा सकता है।

सबसे पहले राजनीति। 'भाषा की एक रात' में उन्होंने लिखा है कि युवा लेखन के लिए राजनीतिक समझदारी जरूरी है, बिना इस राजनीतिक समझदारी के आज का लेखन संभव नहीं है। इसलिए धूमिल यह मानकर चलते हैं कि राजनीतिक चेतना ही काव्य चेतना का बुनियादी आधार हो सकती है। दरअसल कविता एक मुकम्मल और प्रामाणिक राजनीतिक परिवेश की मांग करती है और उन्होंने कहा कि जिस तरह का राजनीतिक तंत्र है उस तंत्र में सार्थक और आर्द्र कविताओं की रचना संभव नहीं है जिसमें भावना हो, जिसमें अनुभूति हो, जिसमें मानवीय संबंधों की तरलता हो। इसलिए 'संसद से सड़क तक' काव्य की एक पंक्ति है– 'मुझे अपनी कविताओं के लिए दूसरे प्रजातंत्र की तलाश है।' आन्दोलन में लिखने वालों में एक नाम कैलाश वाजपेयी का भी है जिन्होंने कविता में स्वतंत्रता के बारे में टिप्पणी की थी कि 'एक सिल की तरह गिरी है स्वतंत्रता और पिचक गया है पूरा देश।' तो कविता को राजनीतिक चेतना की ओर मोड़ने का ऐतिहासिक कार्य धूमिल ने किया था। इसलिए उन्होंने राजनीतिक परिस्थितियों पर, शब्दों पर, स्थितियों पर काव्यात्मक टिप्पणी की हैं।

जिनमें सबसे पहले जनतंत्र क्योंकि स्वतंत्र भारत की राजनीतिक प्रणाली है – 'जनतंत्र एक तमाशा है जिसकी जान मदारी की भाषा है।' धूमिल बहुत बेलाग, स्पष्ट, दो टूक

शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिसमें कहीं कोई घुमाव नहीं है, कोई बिम्ब नहीं है। यह प्रजातांत्रिक प्रणाली चूंकि संसद के द्वारा संचालित होती है इसलिए धूमिल के आक्रमण का या धूमिल की टिप्पणी का दूसरा केन्द्र संसद है। 'अपने यहां संसद तेली की वह घानी है जिसमें आधा तेल है और आधा पानी है।' इस तरह से संसद और राजनीतिक चरित्र की जो वास्तविकताएं हैं उन पर टिप्पणी करने के बाद आजादी पर भी सवाल धूमिल ने उठाया है। दरअसल आजादी हिन्दुस्तान का सबसे त्रासद शब्द, सबसे अप्रामाणिक और सबसे दुखदायी शब्द है। इस आजादी को मात्र कुछ सरकारी समारोहों में तबदील कर दिया गया है। इस पर एक बहुत मार्मिक टिप्पणी आजादी की परिभाषा के संदर्भ में की है – 'क्या आजादी तीन थके हुए रंगों का नाम है जिसे एक पहिया ढोता है, या इसका कोई खास अर्थ होता है।' प्रश्न अपने आप में बहुत सारगर्भित है और इस प्रश्न का विस्तार बाद के बहुत लोगों ने किया है। इस तरह धूमिल एक मुकम्मल सवाल राजनीतिक संदर्भ में उठाते हैं।

इस व्यवस्था का संकेत उन्होंने अपनी एक कविता 'मोचीराम' में दिया है। दरअसल यहां पर मोची की एक दुकान है और दुकान और आदमी के बीच में किस तरह का रिश्ता है। दुकान में आदमी आदमी नहीं होता खरीददार होता है। मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है, जो मेरे सामने मरम्मत के लिए खड़ा है। आने वाले हिन्दुस्तान में व्यक्ति की अब स्वतंत्र हैसियत नहीं है, बल्कि वह खरीददार है, वह टिकट है, वह एक संख्या है या वह एक वोट है। इससे अधिक आने वाले समय में राजनीति और बाजार के संदर्भ में आदमी की हैसियत नहीं रहने वाली है।

अगर इस सत्ता और बाजार का प्रबल प्रतिरोध न किया गया तो हमारी समूची परम्परा, पहचान और सपने नष्ट हो जायेंगे। इसलिए वे अपनी कविता में अपील करते हैं – 'वक्त बहुत कम है, इसलिए कविता पर बहस शुरू करो और शहर को अपनी ओर झुका लो।' शहर दरअसल यहां पूरे देश का ही पर्याय है। अगर संस्कृति कर्मी, कलाकार और प्रतिबद्ध लोग शहर को अपनी शर्तों पर नये तरीके से नहीं बनाते तो शहर अपसंस्कृति का, बाजार के भोंडेपन का, मूल्यहीनता का केन्द्र बन जाएगा। इसलिए एक तरह से धूमिल की कविता एक चेतावनी भी है, एक तना हुआ परामर्श है और बेहद बेचैन तकलीफ भी। इसलिए धूमिल ने अपनी कविता के माध्यम से कविता के आस्वाद के धरातल को बदल दिया और इस तरह से

जिस जनवादी कविता का सूत्रपात हुआ उस जनवादी कविता के आरंभिक रचनाकारों में से एक महत्वपूर्ण कवि के रूप में उनकी गणना या उनकी पहचान हुई।

दरअसल धूमिल कम्यूनिस्ट पार्टी में नक्सलबाड़ी से जुड़े हुए रचनाकार थे। आरंभिक जीवन बनारस में बीता और फिर कम उम्र में उनका देहांत हुआ। इसलिए जो सांगठनिक मार्क्सवाद है उस पर भी बड़ी गहरी टिप्पणियां हैं। कविता को एक तरह से गहरे सामाजिक बदलाव और क्रांति के हथियार के रूप में उन्होंने लगातार पेश किया और इस तरह से नयी कविता के बाद जो जनवादी काव्यधारा फूटी उसके आरंभिक प्रस्तावकों में से एक हुए।

जनवादी कविता

जनवादी कविता में वे सभी कवि शामिल हैं जो प्रगतिवाद से जुड़े हुए हैं। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अगवाल और शमशेर बहादुर सिंह, इन सभी का काव्य संग्रह 1977 के बाद आया है। 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' 1979 में आया है। इसलिए जनवादी कविता में नागार्जुन, त्रिलोचन, अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह का नाम लिया जाता है। इसलिए जनवादी कविता की अधिकांश प्रवृतियां प्रगतिवादी कविता की प्रवृतियां हैं लेकिन उनमें थोड़ा सा बदलाव है।

प्रगतिवादी कविता का एक सुविचारित सांस्थानिक आधार है। वह पार्टी द्वारा निर्देशित और निर्धारित है। इसका अर्थ है प्रगतिवादी कविता रचनाकार को अपने अनुभव की स्वाधीनता की इजाजत नहीं देती। ऐसा जानकारों का मानना है कि आंदोलनों की मांग के अनुसार पार्टी से निर्देश आते थे कि अब आप इस विषय पर लिखिए। इसका अर्थ है कि रचना की समूची प्रक्रिया कविता की शर्तों पर आधारित न होकर पार्टी की मांग के अनुसार संपादित होती थी। इसलिए एक खास तरह की एकांगिता, जड़ता इस कविता के भीतर दिखाई देती है।

कविता की इन सीमाओं का अनुभव स्वयं कवियों को हुआ और इसलिए बाद में चलकर कवि के अनुभव की स्वाधीनता को महत्व दिया गया। आरंभ में जो लोग सीधे–सीधे कम्यूनिस्ट पार्टी से जुड़े हुए थे उनमें से कई लोगों ने त्याग पत्र दिये। इसलिए जिस प्रकार की सपाटता और इकहरापन प्रगतिवादी कविता में दिखाई देता है जनवादी कविता में खत्म हो जाता है। इसलिए जनवादी कविता प्रकारांतर से अपनी परिधि का और अपने क्षेत्र का विस्तार करती है और इस संदर्भ में केदारनाथ अग्रवाल की कुछ पंक्तियां हैं : हम लेखक हैं, कथाकार

हैं, हम जीवन के भाष्यकार हैं, हम कवि हैं जनवादी।' 'समता के शाश्वत विधान के हम हैं, मानववादी, हम कवि हैं जनवादी।'

इसमें दो बातें साफ कही गई हैं – रचनाकार जीवन का भाष्यकार होता है। जीवन का भाष्यकार होने का अर्थ है कि वह जीवन के यथार्थ और जीवन के सच का व्याख्याता होता है। एक बदलाव बिल्कुल साफ है कि रचनाकार की जवाबदेही किसी संगठन की जवाबदेही न होकर जीवन की जवाबदेही है, जीवन को विश्लेषित करने की जवाबदेही है और जीवन के विश्लेषण के माध्यम से वह समता के शाश्वत विधान की स्थापना करता है। जीवन के भाष्य का अर्थ है उस मूल्य की खोज। इसका अर्थ है कि जनवादी कविता की मूल प्रतिज्ञा जीवन के भाष्य के द्वारा समानता की खोज है और जो इस समानता की खोज करता है या कर सकता है वही मानववादी हो सकता है। मानववादी का अर्थ है मानवीय पक्षधरता। इसलिए सीधे सीधे नहीं लेकिन बहुत संकेत रूप में यह बता दिया गया कि यह जो नयी जनवादी परम्परा है, जो जीवन का भाष्य करती है, इस भाष्य के द्वारा वह समानता के मूल्यों की पहचान करती है और इस तरह से उसकी प्रकृति मानवतावादी होती है। इसलिए कविता जीवन का भाष्य है, समानता की पक्षधर है और मानवीय मूल्यों का निर्धारण करती है। यह लगभग एमरजैंसी के बाद से शुरू होती है और यह कविता नये तरह के मुहावरे का, एक नई तरह की दिशाओं का संधान करती है।

प्रगतिवादी कविता में एक खास तरह की सपाटता दिखाई पड़ती है। जनवादी कविता उस सपाटता की जमीन को छोड़ कर कई बार **व्यंजनात्मकता** का वरण करती है। इसलिए जो बात कही जा रही है उसके पीछे और कोई बात है। इस दृष्टि से वेणु गोपाल की कविता की पंक्ति : 'होना तो यही चाहिए कि स्विच इधर ऑन हो, और उधर खट से लाइट जल जाये, लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है, गड़बड़ी कहां है फ्यूज में, लाइन में या पावर हाउस में, क्या पता करंट पूरे शहर में न हो?'

यह जो करंट है यह अदरअसल **बदलाव की चेतना** है। प्रगतिवादी दौर में यानी 1936–38 में इस तरह की बात नहीं कही जा सकती थी। इसलिए कविता एक तरह से अपने मुहावरे में परिवर्तन करती है। यह पहली पहचान है। वह अभिधात्मकता या अभिधा के सपाट ढांचे को छोड़ कर अर्थ की सूक्ष्म व्यंजनाओं को प्राथमिकता देती है।

प्रगतिवादी कविता की विरासत का यह निर्वाह भी करती है और उस प्रक्रिया में 'समूह में या संगठन में आस्था' इस जनवादी कविता का उल्लेखनीय आधार है। मुक्तिबोध उस जमाने में कह रहे थे कि मुक्ति अकेले की नहीं होती मुक्ति हमेशा सामूहिक होती है। लेकिन उदय प्रकाश की कविता है जो समूह और संगठन में कवि और पाठक की आस्था को दृढ़ करती है। "यह अकेले का सफर नहीं है जीवनदास'। तुम अपनी साइकिल के अकेले अनोखे सवार नहीं हो। जहा एक बार ठीक से सोच के तो देखो।"

इस तरह सामुहिकता की शक्ति और सामुहिकता में संभावना देखने की प्रवृति यह नई कविता और अकविता से बिल्कुल भिन्न सोच और धारा है। इसलिए जो भी परिवर्तन आएगा वह सामूहिक संघर्ष के द्वारा ही संपादित हो पायेगा। इसलिए यह कविता व्यक्ति को सम्बोधित करती है और उसे यह बताने की कोशिश करती है कि कोई भी व्यक्ति या किसी भी व्यक्ति की मुक्ति इकाई में नहीं होती है। हमेशा समूह और संगठन और सामूहिक संघर्ष में ही मुक्ति संभव है।

यह भाग्यवादी आस्था नहीं है यह आशीर्वादी आस्था भी नहीं है। यह आस्था इसलिए है क्योंकि जहां भी संघर्ष है वहां बदलाव की संभावना है। यह मार्क्सवाद की मूल स्थापना है कि दुनिया को एक खूबसूरती के लोक में पहचानने के लिए संघर्ष अनिवार्य है और यह संघर्ष सामूहिक होगा। इसलिए समूह और संगठन में आस्था है। समूह और संगठन के द्वारा किए जाने वाले संघर्ष के कारण एक उम्मीद बनती है, एक आस्था बनती है, इसलिए आस्था और उम्मीद का स्वर इस नयी जनवादी कविता का एक स्वर है। स्वप्निल की एक कविता है : 'वसंत आएगा इस वीरान जंगल में, जहां वनस्पतियों के सिर उठाने के जुर्म में, पूरे जंगल को आग को सौंप दिया गया था।'

यह वसंत के आने की उम्मीद औसत आदमी की खुशियों के लौट आने की उम्मीद है। इसलिए वस्तुतः व्यवस्था पूरे जंगल को आग को सौंपती है। यानी जो कुछ सृजनात्मक है, नवीन है, जीवंत है, प्राणवान है और मानवीय है, व्यवस्था इन सब को नष्ट कर देती है। लेकिन इस संघर्ष के द्वारा 'वसंत आएगा इस वीरान जंगल में।' वीरान जंगल मूलतः एक भूतहा समाज है जिसमें न चेतना है और न जागरूकता है, न स्वप्न है, न उम्मीद है। लेकिन संघर्ष से उम्मीद बंधेगी और एक दिन एक जंगल लहलहाएगा। इस आस्था को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

इसी पैटर्न पर एक और कविता केदारनाथ सिंह की है : "मुझे आदमी को सड़क पार करते देखना अच्छा लगता है। क्या पता सड़क के उस पार की दुनिया बेहतर हो, सड़क के इस तरफ की दुनिया से।" दरअसल यहां पर सड़क वही नहीं है जो आप यहां कैम्प में पार करते हैं। सड़क एक प्रतीक के रूप में आ गई है। हम व्यवस्था के एक किनारे खड़े हैं। बीच में एक समय है। दरअसल यह समय की सड़क है। इस तरफ जो है वह तो संतोषजनक नहीं है। इसलिए समय की सड़क के उस तरफ जो हो, हो सकता है कि वह बेहतर हो। ऐसा तभी हो सकता है जब हम सड़क पार करेंगे। इसलिए जो गतिशील समय है, उसकी गति में एक आकर्षण है, उसके संघर्ष में, उसकी कोशिशों में एक आकर्षण है। इस तरह से इस कविता का एक दूसरा स्वर आस्था का स्वर है।

जनवादी कविता की तीसरी प्रवृति है उद्बोधन की। यह कविता उद्बोधित करती है। हमारे यहां उद्बोधन की बड़ी परम्परा है। मैथिलीशरण गुप्त और द्विवेदी जी की कविताओं में भी उद्बोधन है। खासतौर पर छायावाद के बाद जो राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता पैदा हुई है उसमें भी उद्बोधन है। दिनकर उद्बोधन के बहुत प्रभावशाली रचनाकार हैं लेकिन यहां उद्बोधन नारेबाजी के स्तर पर नहीं है। यह उद्बोधन प्रगतिवाद में भी है। लेकिन यहां उद्बोधन संवाद के स्तर पर है और बहुत प्रतीकात्मक और संकेतात्मक विधान में इस उद्बोधन को विन्यस्त किया गया है।

केदारनाथ सिंह की कविताओं की छोटी छोटी पंक्तियां हैं : 'प्रश्न' पूछो हर बार, पूछो कि गाड़ी कितनी लेट है।' लेकिन गाड़ी यहां पर गाड़ी नहीं है, यहां गाड़ी दरअसल व्यवस्था परिवर्तन का प्रतीक है। और बार बार सत्ता से यह सवाल पूछना पड़ेगा कि समानता की गाड़ी कितनी लेट है। जब तक प्रश्न नहीं होगा, चेतना नहीं होगी, असहमति नहीं होगी, असंतोष नहीं होगा तब तक गाड़ी लेट चलेगी। इसलिए उद्बोधन है। वस्तुतः प्रश्न, असंतोष, जागरूकता, इनसे युक्त हो कर ही नई व्यवस्था के आगमन को सम्भव बनाया जा सकता है। इसलिए सीधे मशाल लेकर बात नहीं कही गई है, संकेतों में बात कही गई है। धागों को संबोधित करके धागों के माध्यम से – 'उठो, उठो मेरे सोए हुए धागो, उठो कि बुनने का समय हो रहा है, लगता है कि सारी दुनिया को एक बार फिर नए सिरे से बुनना होगा।' यहां धागा सामान्य जनता का प्रतीक है। इस तरह से यह वही नई दुनिया को बुनने का सपना है।

लेकिन आप देखते हैं कि किस तरह से भाषा में व्यंजना आ रही है। संकेतों से स्थूलता को छोड़ती है कविता। एक व्यंजनात्मक स्तर पर आती है कविता।

जनवादी कविता में प्रेम का निषेध नहीं है। प्रेम प्रगतिवाद में भी है और बहुत गार्हस्थिक प्रेम है, जिसे पारिवारिक प्रेम कह सकते हैं। इस प्रेम चेतना को जनवादी कविता एक बहुत कोमल स्पर्श देती है। प्रेम और जीवन के सौन्दर्य में एक अद्वैत स्थापित करती है जनवादी कविता।

केदारनाथ सिंह दरअसल इस दौर के सर्वाधिक सृजनात्मक रचनाकार हैं। "तुम्हारे हाथों को अपने हाथ में लेते हुए, मैंने सोचा, इस दुनिया को तुम्हारे हाथों की तरह गर्म, सुन्दर और मुलायम होना चाहिए।" यह अपने आप में एक बहुत अद्भुत अभिव्यक्ति है। एक नितांत वैयक्तिक प्रेमानुभूति को सामाजिक समानता और सामाजिक सौन्दर्य की अनुभूति में बदलने की कोशिश है, जो जनवादी कविता के भीतर मौजूद है।

इसके अतिरिक्त जनवादी कविता की एक और खासियत कही जा सकती है कि जनवादी कविता 'कविता के नये खतरों के प्रति बहुत सचेत है।' आरंभिक दौर में ऐसा महसूस हो रहा था कि कविता का खलनायक राजनेता है या राजनीति। जनवादी कविता यह महसूस करती है कि आने वाले समय में कविता का खलनायक 'बाजार' होगा। इसलिए कविता बाजार के द्वारा उत्पन्न किए जाने वाले संकटों से पाठक को आगाह करती है।

बेणुगोपाल की कविता की 3 पंक्तियां हैं – 'खतरे पारदर्शी होते हैं, खूबसूरत, अपने पार भविष्य दिखाते हुए।' ये जो पारदर्शी खतरे हैं और खूबसूरत हैं और एक दूसरी दुनिया का सपना दिखा रहे हैं, इन्हीं खतरों की सामूहिकता का नाम है बाजार। इसलिए पारदर्शिता का अर्थ ईमानदारी नहीं, पारदर्शिता का मूल अर्थ है एक चिकनाई, एक व्यवस्था। जीवन कभी पारदर्शी नहीं होता, कृत्रिमता पारदर्शी होती है, इसलिए कृत्रिम पारदर्शिता जो बहुत खूबसूरत है और अपने शब्दों और दृश्यों से भविष्य का नक्शा और भविष्य की दुनिया दिखाती है, यह बाजार की शक्ति है। इसलिए बाजार की शक्ति के प्रति सचेत करने की प्रवृति भी जनवादी कविता में दिखाई देती है।

जनवादी कविता की एक और बड़ी प्रवृति है। वह साम्प्रदायिकता की समस्या है। पंजाब में जो आतंकवाद चल रहा था, उस दौर में कई महत्वपूर्ण कविताएं आई हैं। जनवादी

कविता पंजाब के आतंकवाद को राजनीतिक आंदोलन के रूप में नहीं बल्कि एक मजहबी उन्माद के रूप में देखती है। देवी प्रसाद मिश्र की एक कविता है : 'हसन नाम जानलेवा हो सकता है, बलबीर सिंह नाम के साथ भी सुरक्षित नहीं हैं आप, महमूद नाम के खतरे तमाम हैं।' इस तंत्र में सिर्फ आपका नाम हत्या का सबब हो सकता है। ध्यान दीजिए, यह वह दौर है जब 84 में सिक्ख विरोधी दंगा हुआ था। यह एक नई प्रकार की राजनीतिक त्रासदी है, एक नए प्रकार का भय है। इसलिए आप देखेंगे कि अपने समय के नये प्रकार के भयों की बहुत सार्थक पहचान यह कविता करती है।

कुमार विमल की एक कविता का भावार्थ है 'स्कूल से बच्चे लौट रहे हैं और रास्ते में दंगा है। जिसमें बहुत सारे बच्चे मारे गये हैं। कविता में यह सवाल उठाया गया है कि सड़क पर बिखरे हुए जो रोटी के टुकड़े हैं, चावल हैं, सब्जियां हैं, उसमें क्या बता सकते हैं कि कौन टुकड़ा हिन्दु का है और कौन टुकड़ा मुसलमान का है? इसलिए साम्प्रदायिकता राजनीतिक समस्या नहीं है, यह सबसे बड़ी मानवीय समस्या है। इसलिए जनवादी कविता, कविता की जो पारम्परिक प्रणालियां और दिशाएं थीं, उनके साथ साथ वह जीवन की नयी समस्याओं के साथ सीधा संबंध स्थापित करती है।

जनवादी कविता के बहुत महत्वपूर्ण लेखकों में कुछ कवियों के नाम हैं : शेखर जोशी, मंगलेश डबराल, ज्ञानेन्द्र पति, अरुण कमल, असद जैदी, विष्णु खरे, कात्यायनी। लेकिन एक प्रगतिशील चेतना इनकी कविताओं में दिखाई देती है। कात्यायनी की एक कविता है : 'दो कवि थे अभी तक बचे हुए पुरस्कारों से, इस वर्ष वे भी पुरस्कृत हो गये और इस तरह कविता ने खो दिया जनता का विश्वास।' एक अजीब तरह का पुरस्कारों का वायरल है। इसमें देवीप्रसाद मिश्र ने एक स्थान पर लिखा है कि आज के जमाने में आदमी इतनी तरफ से और इतने लोगों द्वारा अपमानित है कि जो सम्मानित है वह संदिग्ध है। आप जब तक संदेहास्पद नहीं होंगे, जब तक आपके चरित्र में कोई खोट नहीं होगी, आप सम्मानित नहीं हो सकते। जब व्यवस्था सम्मानित करती है तो कहीं न कहीं कोई समझौता परस्ती उसके भीतर मौजूद है।

स्त्री कवयित्रियों में महत्वपूर्ण हैं – गगन गिल और अनामिका। 'एक दिन लौटेगी लड़की' और दूसरा संग्रह भी आ गया है 'अंधेरे में बुत'। देवी प्रसाद मिश्र का एक काव्य संग्रह आया है, 'प्रार्थना के शिल्प में नहीं'। तो ऐसा कहा जा सकता है कि जो हिन्दी कविता की वर्तमान दशा है उस पर जनवादी चेतना का प्रभुत्व है। जो भी अच्छा लिख रहा है वे सभी

जनवादी हैं। कुछ पुरानी धारा के लोग भी लिख रहे हैं – जैसे अशोक वाजपेयी, मदन सोनी, ध्रुव शुक्ल, रमेश चन्द्र शाह। इसलिए जनवादी कविता समकालीन रचनाशीलता की प्रतिनिधि धारा है।

हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास एवं प्रमुख नाटककार

हिन्दी क्षेत्र में नवजागरण की पहली सशक्त अभिव्यक्ति नाटकों के माध्यम से हुई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को थोड़ा सा आश्चर्यजनक लगा कि जिस विधा की परम्परा लगभग एक हजार वर्षों से स्थगित थी उस विधा से आधुनिक साहित्य की आधुनिक चेतना का सूत्रपात हुआ। शुक्ल जी ने लिखा है कि "विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन नाटक में हुआ।" गद्य की शुरूआत नाटक से होने के ऐतिहासिक कारण हैं। इतिहासकारों ने इसके कारण की खोज उन ऐतिहासिक परिस्थितियों में की है जिसे हम आधुनिक काल कहते हैं। नवजागरण की चेतना की वास्तविक चुनौती हिन्दु जाति की एकांतिक भावना का निरसन कर उसे एक सामाजिक चेतना के बिन्दु पर संगठित करना था। भारतीय साधना की प्रकृति एकांतिक रही है। ज्ञान और सार्थकता की उपलब्धि एकांत में ही हो सकती है ऐसा माना जाता है। इसलिए भारतीय साधना कभी भी सामूहिक प्रार्थना का प्रावधान नहीं करती। अर्थ, भक्ति, ज्ञान इन सभी की अनुभूति निजता के स्तर पर होती है ऐसा माना गया है।

इसलिए नवजागरण की वास्तविक चुनौती इस धारणा को हटा कर पूरे भारतीय समाज को एक संगठन के स्तर पर, सामूहिकता के स्तर पर संगठित करना था। यही कारण है कि नवजागरण के दौर में जो नाम रखे गये हैं वे समूहवाची नाम हैं जैसे प्रार्थना समाज, ग्राम समाज, आर्य समाज। इन सभी के अंत में जो समाज लगा हुआ है वह एक तरह से भारतीय समाज को समूह के स्तर पर संगठित करने का संकेत है।

साधना की एकांतिकता को हटाकर सामूहिक स्तर पर समाज का संगठन नवजागरण की एक बुनियादी समस्या है और इसी नवजागरण की चेतना की अभिव्यक्ति नाटक में होती है। नवजागरण की सामूहिक चेतना और नाटक की प्रकृति में एक साम्य है, उसमें एक संबंध

दिखाई देता है। क्योंकि नाटक भी एक प्रकार का सामूहिक कर्म है। कविता अकेले में पढ़ी जा सकती है नाटक के लिए एक दर्शक वर्ग चाहिए, अभिनेता वर्ग चाहिए। एक तरह से नाटक की समूची प्रकृति ही सामाजिक है। इसलिए नवजागरण के उस दौर ने अपनी सशक्त अभिव्यक्ति नाटकों के माध्यम से की। यही कारण है कि आधुनिक भाव बोध को अभिव्यक्त करने वाली भाषा यानी गद्य का आरम्भ नाटकों से हुआ।

कुछ लोगों का मानना है कि रीवानरेश विश्वनाथ प्रसाद सिंह का नाटक 'आनन्द रघुनंदन', जिसका रचनाकाल 1700 ई0 के आसपास, हिन्दी का पहला नाटक है। लेकिन इस मान्यता के पीछे कोई ठोस और मजबूत तर्क नहीं है। एक तो यह ब्रजभाषा में लिखा गया है और दूसरे इसकी प्रकृति मंचीय नहीं है। यह कविताओं में लिखा गया है, गद्य का इस्तेमाल नहीं किया गया है। साथ ही यह रामलीला शैली में लिखा गया है। इसके कारण इसे हिन्दी का पहला मौलिक नाटक स्वीकार नहीं किया गया।

1859 में भारतेन्दु के पिता बाबू गोपाल चन्द्र ने 'नहुष' नाटक लिखा और उसका मंचन भी किया गया। इसको कई लोगों ने हिन्दी का पहला नाटक कहा है। यानी ऐतिहासिक स्तर पर 'नहुष' हिन्दी नाटक का प्रस्थान बिन्दु है।

लेकिन व्यावहारिक स्तर पर हिन्दी नाटक की वास्तविक शुरूआत भारतेन्दु से होती है। भारतेन्दु हिन्दी नाटक के प्रणेता रचनाकार हैं। भारतेन्दु के समय के कुछ रचनात्मक परिदृश्यों पर ध्यान देना जरूरी है। भारतेन्दु जब नाटक के क्षेत्र में आए उस समय नाटक के क्षेत्र में कई पारसी कंपनियां सक्रिय थीं और ये कंपनियां मनोरंजन के घटिया स्तर से ग्रस्त थीं। इसलिए नाटक का अर्थ नाच गान और सस्ते मनोरंजन पर आधारित एक मंचीय व्यवस्था थी और इन नाटकों का मूल विषय रोमानी था।

इसलिए भारतेन्दु के सामने दो तरह की समस्याएं थीं एक तो नाटक की रचना के स्तर पर समस्या थी और दूसरी समस्या रंगमंच को लेकर थी। इसलिए भारतेन्दु ने नाटक को एक सार्थक विधा के रूप में ढालने की कोशिश की। उन्होंने नाटकों का मूल उद्देश्य स्वस्थ मनोरंजन के साथ साथ जनमानस में जागृति, आत्मविश्वास और सुधार की भावना से जोड़ा। इसलिए भारतेन्दु युग में सत्य, न्याय, त्याग जैसे मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था तथा प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम जगाने वाले ऐतिहासिक, पौराणिक, सांस्कृतिक नाटकों की रचना हुई।

इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए नाट्य पाठों की रचना आरम्भ हुई। इसलिए **भारतेन्दु युग के नाटकों** की दो दिशाएं साफ तौर पर देखी जा सकती हैं, एक नाटक को **सामाजिक सुधार और सामाजिक नवनिर्माण** के माध्यम के रूप में ग्रहण किया गया और दूसरे स्तर पर उसे **भारतीय संस्कृति के महान मूल्यों से जनता को अवगत** कराने का माध्यम भी बनाया गया। इसलिए नवजागरण में जो सामाजिक मुद्दे थे, मसलन कि विभिन्न नारी–समस्याओं को भारतेन्दु ने उठाया। नवजागरण के सामाजिक मुद्दों के साथ साथ इतिहास, पुराण और संस्कृति के महान प्रसंगों को भी इस युग में नाटकों का विषय बनाया गया। भारतेन्दु इस युग के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। उन्होंने मौलिक नाटकों के साथ साथ बंगला और अंग्रेजी के अनेक नाटकों का अनुवाद भी किया। भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में "वैदकी हिंसा हिंसा ना भवति", "भारत दुर्दशा" और "अंधेर नगरी" ख्याति प्राप्त नाटक हैं।

इन तीनों नाटकों की विषय वस्तु अलग अलग है। "वैदकी हिंसा हिंसा ना भवति" में भारतीय समाज में स्वीकृत और प्रचलित धार्मिक कर्मकाण्ड पर व्यंग्यात्मक प्रहार किया गया है किस प्रकार यह समाज धर्म के नाम पर सभी प्रकार की हिंसाओं को स्वीकार करता है यही इस नाटक का मूल विषय है। एक तरह से समूचा भारतीय नवजागरण आत्ममंथन की प्रक्रिया है। अपनी संस्कृति, अपने इतिहास और अपनी परम्परा का आत्ममंथन ताकि एक नये समाज का निर्माण किया जा सके। इस दृष्टि से आत्मस्वीकृति भी नवजागरण चेतना का एक मूल लक्षण है और वैदकी हिंसा हिंसा ना भवति इसी आत्मस्वीकृति की प्रक्रिया के अन्तर्गत धर्म के नाम पर चलने वाले सामाजिक पाखंड और मूल्यों की द्वैतता पर प्रहार करता है।

दूसरा नाटक 'भारत दुर्दशा' भारतीय परम्परा के श्रेष्ठ मूल्यों के पतन को केन्द्र बनाकर लिखा गया है। कर्मठता, साहस, संयम, सदाचार, ज्ञान, इन्हीं भारतीय जीवन मूल्यों को भारतीय जीवन परम्परा का महत्वपूर्ण अंग माना गया है लेकिन अंग्रेजों के आगमन और अंग्रेजी सभ्यता के परिणामस्वरूप ये मूल्य नष्ट हो गये हैं या प्रभावहीन हो गये हैं। दरअसल पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में नष्ट होती हुई भारतीय अस्मिता, निष्क्रिय होते हुए मानवीय मूल्यों और इन परिस्थितियों में एक समूची जाति के पराभव के प्रति प्रतिक्रिया ही इस नाटक का मूल कथ्य है। इसलिए इस नाटक में दो तरह के पात्र हैं एक वह पात्र है जो भारत दुर्दैव के नाम से है और दूसरा भारतीय सौभाग्य के नाम से है। भारतीय दुर्दैव अनेक प्रकार की विपत्तियां, कुप्रवृत्तियां, अनेक प्रकार के दुराचरण, भारतीय समाज में फैलाता है। भारत सौभाग्य भारत को

सावधान करना चाहता है। अन्ततः तमाम प्रकार के जगाने के अनुरोध और कोशिशों के बावजूद भारत की नींद नहीं टूटती और एक ट्रेजिक बिन्दु पर नाटक खत्म होता है जिसमें भारत सौभाग्य आत्महत्या करता है। एक तरह से भरतीय परम्परा और मूल्यों के पराभव के त्रासद बिन्दु पर यह नाटक खत्म होता है।

तीसरी कृति 'अंधेर नगरी' सत्ता के अन्धत्व को केन्द्र बनाकर लिखी गयी है। यह नाटक समकालीन युग संदर्भों में भी प्रासंगिक बना हुआ है। 1884 में लिखा गया यह नाटक राजनीति और बाजार के दुरभिसंधि के परिणामों की ओर संकेत करता है। दुरभिसंधि एक षडयंत्र है राजनीति और बाजार का जिसने समाज को एक सीमाहीन अंधता में कैद किया है। उसमें दो ऐसे दृश्य हैं जिन पर ध्यान दिया जाना चाहिए, एक दृश्य बाजार का है और दूसरा दृश्य राजा के दरबार का है।

बाजार में एक ही नियम है और बाजार का एक ही लक्ष्य है वह है चीजों को बेचना। इसलिए बाजार की पूरी भाषा लालच को उत्तेजित करने वाली भाषा है। दरअसल बेचे जाने के प्रति ललक उत्पन्न करने में ही बाजार की साँस सुरक्षित रहती है। चीजों के बेचे जाने में ही बाजार की सार्थकता निहित है इसलिए बाजार की एक बहुत दमदार मोहाविष्ट करने वाली भाषा का प्रयोग भारतेन्दु ने उस पूरे प्रकरण में किया है। वही भाषा थोड़ा सा रूप बदल कर अलग माध्यम से आज की दुनिया को अपनी गिरफ्त में रखे हुए है। उस समय चूंकि टेलीविजन नहीं था, अखबार उस तरह कायदे के नहीं थे, रंगीन प्रिंटिंग का सवाल ही नहीं था। अगर यह सब होता तो भारतेन्दु के नाटक का रूप विधान वैसा ही होता जैसा कि आज टेलीविजन में दिखाई देता है। एक तरह से बाजार की जो मूल प्रकृति है उसकी पहचान भारतेन्दु कर रहे हैं और इस बाजार की गिरफ्त में वह है जो विवेक से काम नहीं लेता।

जब नाटक में नगर में प्रवेश हो रहा है तो तीन लोग आ रहे हैं – एक गुरू है और उसके साथ साथ दो चेले हैं। एक नाम है गोवरधन दास और दूसरे का नाम है नारायण दास। उसमें गुरू कहता है कि बहुत थक गये हैं, कुछ भिक्षा आदि मिले तो ठाकुर जी को भोग लगे और भोजन पानी हो और दोनों शिष्यों को अलग अलग दिशाओं में भेजता है। जो गोवरधन दास है उसे पश्चिम में भेजा गया है। बाजार पश्चिम में है इतनी सावधानी भारतेन्दु ने बरती होगी, क्योंकि वे पूर्व में भी भेज सकते थे लेकिन पूर्व में नहीं भेजा गया है। वह

पश्चिम की तरफ आता है और देखता है कि इतना मोहक बाजार है और इतनी चीजें उपलब्ध हैं। पकड़ने वाली भाषा का इस्तेमाल बाजार में हो रहा है और वह इसके चक्रव्यू में फंसता है।

इसलिए जब वह जलेबी वगैरह सब लेकर आता है तो कहता है कि गुरू जी ऐसा शहर तो मैंने देखा ही नहीं है, यही जिन्दगी भर रहने लायक है। लेकिन गुरू सावधान करता है – 'सेथ सेथ सब एक थे जहां कपूर कपास', जहां चीजें सिर्फ उपरी रंग रूप के आधार पर समान समझी जाएं ऐसे राज्य में अगर सोने की भी वर्षा हो तो वह रहने लायक जगह नहीं है। वह सोचता है कि गुरू जी बूढे हो गये हैं, मति खराब हो गई है।

दूसरा दृश्य है राज दरबार का। ऐसा राजा न्यायाधीश भी है जो शब्द का ठीक से उच्चारण नहीं कर सकता। लड़की के लिए और बकरी के लिए उसने कम से कम 12–13 शब्दों का इस्तेमाल किया है। जो भाषा का इस्तेमाल कायदे से नहीं करता, अफीम और शराब के नशे में है। पूरे का पूरा जो न्याय तंत्र है वह हास्यास्पद है। न्याय पूर्वनिर्धारित है। एक जगह कहता है कि जब अपराध हुआ है तो दण्ड तो किसी न किसी को तो मिलना चाहिए। इस तरह से न्याय की हास्यास्पदता, सत्ता की हास्यास्पदता, यह भारतेन्दु उस समय भी दिखा रहे थे। पूरी सत्ता जिसमें न्यायालय भी है, राजतंत्र भी है और प्रजातंत्र भी है, में समूची अंधता किस स्तर पर है। भारतेन्दु इसे पकड़ने की कोशिश कर रहे हैं। नाटक का बहुत चर्चित वाक्य है 'अंधाधुंध मचऊ चहुंदेशा'। इस देश में अंधाधुंध मचा हुआ है ऐसा लगता है कि राजा विदेश में रहता हो 'मानो राजा रहत विदेशा।' तो एक तरह से इस अंधता का जो तात्कालिक संदर्भ है वह ब्रिटिश राज्य है और ब्रिटिश साम्राज्यवादी बाजार भी है।

इसलिए भारतेन्दु का यह नाटक तब तक सार्थक बना रहेगा जब तक कि सत्ता और बाजार का प्रकोप बना रहेगा। इसलिए हास्य और प्रहसन शैली में लिखे जाने के बावजूद इस नाटक की सार्थकता हमेशा बनी रहेगी। इस प्रकार भारतेन्दु ने सामयिक और सनातन विषयों पर भी लिखा। इस तरह से भारतेन्दु अपने समय के एक प्रामाणिक गवाह के रूप में अपने नाटकों में देखे जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों का अनुवाद किया और ये अनुवाद इतने मौलिक और प्रभावशाली हैं कि कई लोगों ने इन्हें मौलिक नाटक की श्रेणी में रख दिया है। इस तरह के नाटकों में दो नाटक बहुत चर्चित हैं, एक 'नील देवी' और दूसरा है 'सत्य हरिश्चन्द्र'। 'नील देवी' का मूल विषय अंग्रेजों के शासन से मुक्ति की

चेतना है। अंग्रेजों के शासन से देश की मुक्ति की कामना ही 'नील देवी' में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उभरती है। पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है लेकिन देश की मुक्ति की कामना उसकी मूल विषय वस्तु है। साथ ही तत्कालीन समाज में तीव्रता से उठ रहे नारी स्वातंत्र्य के पक्ष और विपक्ष में द्वन्द्व को भी इस नाटक में प्रस्तुत किया गया है।

सत्य हरिश्चन्द्र पूरी भारतीय जातीय परम्परा का प्रतिनिधि चरित्र है। व्यक्तित्व की दृढ़ता और सत्यनिष्ठा भारतेन्दु के अनुसार भारतीय चरित्र के स्तंभ बिन्दु हैं इसलिए सत्य हरिश्चन्द्र में एक पंक्ति आती है 'चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार', पैदृढ़ श्री हरिश्चन्द्र के टरै न सत्य विचार। लेकिन हरिश्चन्द्र के जो सत्य विचार हैं वह टल नहीं सकते। उनमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता यह सत्यनिष्ठा है दृढ़ता है जो इस पात्र के व्यक्तित्व में दिखाई देती है। इस तरह से भारतेन्दु ने अपने नाटकों के माध्यम से उस विषय वस्तु को प्राथमिकता दी जिस विषय–वस्तु के माध्यम से भारतीय समाज के नवनिर्माण की प्रक्रिया संपादित की जा सकती थी।

हिन्दी नाटक का दूसरा चरण प्रसाद से शुरू होता है। भारतेन्दु युग के बाद हिन्दी नाटक की विकास प्रक्रिया में जो अवरोध आ गया था उसे प्रसाद ने तोड़ा। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में जिन सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया और भारतीय गौरव और भारतीय संस्कृति के जीवन मूल्यों को प्रस्तावित किया, प्रसाद के नाटक उससे भिन्न दिशा में रचे गए। प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं इसलिए आरम्भ में कुछ लोगों को लगा कि प्रसाद पुनरोत्थानवादी नाटककार है। यह विचारणीय प्रश्न हो सकता है कि क्या प्रसाद के नाटकों की चेतना पुरोत्थानवादी है या नहीं ?

इस प्रश्न के उत्तर में यह देखा जाना चाहिए कि प्रसाद के नाटकों के केन्द्र में क्या है? प्रसाद के नाटक स्वाधीनता आन्दोलन की चेतना और स्वाधीनता आंदोलन की चुनौतियों से निर्मित हुए हैं। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक अतीत के गौरव पर नहीं बल्कि वर्तमान के विश्लेषण और वर्तमान में राह निकालने की कोशिश के प्ररिणाम कहे जा सकते हैं। इसलिए प्रसाद की वास्तविक समस्या वर्तमान भारत की समस्या है। अतीत और वर्तमान के बीच पारिस्थितिक एकता का उद्घाटन प्रसाद के नाटकों का यथार्थ कहा जा सकता है।

इस देश के विघटन के वास्तविक कारण कहां हैं, इसका उद्घाटन प्रसाद ने 'स्कन्दगुप्त' में किया है। महत्वाकांक्षाएं, फूट, निजी प्रतिशोध की भावना और एक अखंड राष्ट्रीयता की चेतना का अभाव ये आधारभूत राष्ट्रीय समस्याएं हैं। ये स्कंदगुप्त के समय में भी हैं और स्वाधीनता आंदोलन के समय में भी। इसलिए प्रसाद के नाटकों में इतिहास वर्तमान से असंपृक्त अतीत का कोई अछूता छोर नहीं है। बल्कि अतीत और वर्तमान की सम्बन्ध परम्परा में वे भारत की वर्तमान समस्या यानी स्वाधीनता की समस्या एंकता की समस्या के रचनात्मक दस्तावेज हैं।

प्रसाद के नाटकों की प्रकृति स्वच्छंदतावादी है। **अतीत के प्रति प्रेम, वैयक्तिकता, आवेगमयता, नियतिबद्धता और उल्लास** ये स्वच्छंदतावादी आंदोलन की विशेषताएं हैं। इन्हीं विशेषताओं से प्रसाद के नाटकों की चेतना निर्मित होती है। प्रसाद के नाटकों के विकास की गई दिशाएं हैं या कई स्तर हैं। आरम्भ में प्रसाद ने 'कल्याणी परिणय', विशाख, अजात शत्रु और जनमेजय का नाग यज्ञ' आदि नाटक लिखे।

दूसरे चरण के महत्वपूर्ण नाटक हैं स्कंदगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुव स्वामिनी। इस स्तर पर आकर प्रसाद के नाटकों में एक परिपक्वता दिखाई देती है। स्कंदगुप्त को दो मोर्चों पर लड़ना होता है -- घरेलू स्तर पर भी क्योंकि गृह कलह की स्थितियां हैं और बाहरी मोर्चे पर भी। दूसरी तरफ चंद्रगुप्त नाटक है जो स्वतंत्र राज्यों में बंटे हुए हिन्दुस्तान का एकीकरण करता है और भारत के एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में स्थापित करता है। चाणक्य का वास्तविक स्वप्न यही है। इसलिए अंतर्कलह और बाहरी आक्रमण से जूझते हुए देश को जोड़ना और स्वाधीन करना ये प्रसाद के समय की वास्तविक राष्ट्रीय समस्या है जिसके लिए वे इतिहास के स्वर्ण युग के इन दो पात्रों को चुनते हैं स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त। प्रसाद की अंतिम नाट्य कृति है ध्रुवस्वामिनी। इसमें उन्होंने सामाजिक जीवन की ज्वलंत समस्या स्त्री की स्वाधीनता की समस्या परविचार किया है। इस समस्या के प्रति आकर्षण का मूल कारण नारी आंदोलन है।

आज के समाज में स्त्री की स्थिति, दासता की शृंखला से उसकी मुक्ति का प्रश्न और विशिष्ट परिस्थितियों में जीवन निर्वाह की संभावना या विशिष्ट परिस्थितियों में पुनर्विवाह का प्रश्न, ये कुछ स्थितियां हैं जो ध्रुवस्वामिनी में उठाई गई हैं। एक तरह से ध्रुवस्वामिनी आधुनिक नारी की तेजस्विता, वरण की स्वतंत्रता और निर्णय क्षमता की चेतना का प्रतिनिधित्व करती है।

इसलिए प्रसाद का यह नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' भारतीय स्त्री की परम्परागत छवि को तोड़ने वाला है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि एक तो प्रसाद इतिहास की पीठिका में वर्तमान की समस्याओं एवं प्रश्नों का चित्रण करते हैं। यह प्रसाद के नाटकों की बुनियादी विशेषताएं कही जा सकती है। स्त्री के स्वाधीन और सम्मानित व्यक्तित्व की स्थापना, ये प्रसाद के नाटकों की दूसरी विशेषता है। प्रायः प्रसाद के नारी पात्र ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया में बनते हुए नये व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। आचरण की दृढ़ता, निष्ठा, त्याग की भावना, इन गुणों के कारण प्रसाद के नारी चरित्रों का व्यक्तित्व पुरुषों की तुलना में अधिक प्रखर, तेजस्वी और उदात्त दिखाई देता है।

भारतीय परम्परा में नारी के व्यक्तित्व के महान गुणों की भी चर्चा की गई है, अवगुणों की भी चर्चा बहुत है। लेकिन एक परम्परा यह भी है कि नारी को शक्ति के रूप में देखा गया है, प्रकृति के रूप में देखा गया है, सृजना के संदर्भ के रूप में देखा गया है। व्यवहारिक स्तर पर चाहे स्त्री नरक की खान हो लेकिन सैद्धांतिक धरातल पर स्त्री के व्यक्तित्व को जो गरिमा दी गई है प्रसाद के नाटक उसी गरिमा को एक रचनात्मक आयाम देते हैं। इसलिए स्त्री के प्रति एक नितांत आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रसाद के नाटकों में दिखाई देता है।

प्रसाद के नाटकों के सम्बन्ध में तीसरी बात यह कही जा सकती है कि प्रसाद की नाट्य प्रतिभा का सबसे सबल रूप अपने पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं के उद्घाटन में दिखाई देता है। भारतेन्दु युग में पात्रों के चरित्र का स्वतंत्र उद्घाटन नहीं दिखा देता। वे रचनाकार के कथ्य के संवाहक मात्र हैं। लेकिन प्रसाद ने पहली बार अपने पात्रों को व्यक्तित्व प्रदान किया और चरित्र चित्रण में उन्होंने पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व और बाहरी संघर्ष का समावेश किया।

इसलिए प्रसाद के नाटकों के पात्र घटना अथवा कथा के संवाहक मात्र नहीं हैं। उन पात्रों को एक चरित्र देने या उन पात्रों को एक व्यक्तित्व देने की अद्भुत कला प्रसाद के पास मौजूद है। इसलिए चरित्र केन्द्रित पात्रों का निर्माण और विकास प्रसाद की नाट्य प्रतिभा और नाट्य कर्म की ऐतिहासिक देन कही जा सकती है और इस दृष्टि से जो प्रसाद के पात्र जो मात्र नाटक के पात्र मात्र नहीं हैं बल्कि नाटक से बाहर भी अपनी एक पहचान बनाते हैं। वैसे पात्रों में स्कन्दगुप्त, 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य और ध्रुवस्वामिनी, ये महत्वपूर्ण पात्र सृष्टियां हैं जिनका हिन्दी साहित्य की परम्परा में अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है।

अगर विकास की दृष्टि से देखें तो भारतेन्दु युग का महत्व इस बिन्दु पर है कि नाटक और जीवन के बीच, वर्तमान और रचना के बीच एक गहरे और दायित्वपूर्ण संबंध की शुरूआत भारतेन्दु ने की। यानी भारतेन्दु के नाटक अपने समय की सामाजिक और ऐतिहासिक समस्याओं को धारण करते हैं लेकिन उसमें अभी कोई चरित्र निर्माण की कोशिश नहीं दिखाई देती।

प्रसाद के नाटकों में पात्र चरित्र भी बन सके हैं और ऐसा **पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व और पात्रों के बाहरी संघर्ष** के माध्यम से सम्भव किया गया है। प्रसाद के इन नाटकों के चरित्र कई बिन्दुओं पर अन्तर्द्वन्द्वों से ग्रस्त दिखाई देते हैं। चाणक्य जैसा दिखाई देता है वैसा नहीं है। उसका एक आन्तरिक जीवन भी है जिसमें द्वन्द्व चलता है। एक स्थान पर वह कहता है कि मैं ब्राह्मण आकाश के नीचे सोने वाला सूर्य और चन्द्रमा के सान्निध्य और प्रकाश में जीवन बिताने वाला, सरल और सहज, किन्तु दुश्चक्रों में फंस गया। राजनीतिक जीवन या राजनीतिक षडयंत्र और सहज जीवन के बीच में वह अपने व्यक्तित्व को विघटित होता हुआ महसूस करता है। अन्तर्द्वन्द्वों का सूत्रपात प्रसाद ने पहली बार चरित्रों में किया। इसलिए चरित्र योजना की ऐसी प्रभावशाली अभिव्यक्ति प्रसाद के नाटकों का एक अप्रतिम योगदान कहा जा सकता है। प्रसाद के नाटकों के पात्रों को पारम्परिक शास्त्री शब्दावली में परिभाषित नहीं किया जा सकता क्योंकि शास्त्रीय शब्दावली में पात्र धीरोदात्त होते हैं, या तो महान होते हैं या दुष्ट होते हैं।

प्रसाद की चरित्र योजना ने काव्यशास्त्र की इन श्रेणियों को निरर्थक सिद्ध कर दिया। चाणयक्य के बारे में कहना मुश्किल है कि वह किस प्रकार का पात्र है। एक इस दृष्टि से लगता है कि बहुत महान पात्र है लेकिन दूसरी दृष्टि से लगता है कि वह बहुत दुष्ट पात्र है। हत्या करवाना राजनीतिक उद्देश्यों के लिए उसके लिए दिनचर्या का विषय है। इसलिए कोई भी पात्र मूल निर्णय की सुविधा नहीं देता है।

अभिनेयता की दृष्टि से प्रसाद के नाटक प्रश्नचिन्ह के घेरे में हैं। यह तो लगभग सभी लोगों ने स्वीकार किया है कि प्रसाद के नाटकों ने हिन्दी नाटक की परम्परा में साहित्यिक नाटकों के अभाव को पूरा किया। भारतेन्दु के युग में कोई साहित्यिक नाटक नहीं लिखा गया। उनकी प्रकृति हल्की फुल्की थी। गम्भीर साहित्यिक नाटकों के अभाव को प्रसाद ने पूरा

किया। लेकिन क्या वे उसी सीमा तक अभिनेय भी हैं जिस सीमा तक भारतेन्दु युग के नाटक अभिनेय है?

आरम्भ में बहुत दिनों तक यह कहा गया है कि प्रसाद के नाटक गंभीर साहित्यिक प्रवृंति के होते हुए भी अभिनेयता की दृष्टि से कमजोर नाटक हैं और कारण बताया गया है कि प्रसाद के नाटकों में अभिनेयता की संभावना की कमी की वजह एक तो घटना विस्तार है जैसे चन्द्रगुप्त का घटना विस्तार 25 वर्षों में फैला हुआ है। घटना विस्तार, दृश्यों की बहुलता, लम्बे लम्बे दार्शनिक संवाद, भाषा की क्लिष्टता और स्वगत कथन, इन कारणों से प्रसाद के नाटक रंगमंच पर अभिनीत नहीं हो सकते। उन्होंने कई ऐसे दृश्यों की योजना की है जो उस समय के रंगमंच पर घटित नहीं हो सकते थे जैसे जंगल का दृश्य है या मंच पर बाढ़ और चिता का प्रगट होना है। नदी, नदी में चलती हुई नाव, नावों से उतरते सैनिक, रणक्षेत्र, समुद्र, सेनाओं के द्वारा किए जाने वाले युद्ध, इस तरह के परिदृश्य हैं जिन्हें मंच पर घटित नहीं किया जा सकता। लेकिन बाद के निर्देशकों ने जिसमें बा.बा. कारंत का नाम बहुत महत्वपूर्ण है कहा कि प्रसाद के नाटक ज्यों के त्यों तो अभिनीत नहीं हो सकते लेकिन उनमें संशोधन करके इन नाटकों का मंचन किया जा सकता है, और स्कंदगुप्त और चंद्रगुप्त का मंचन भी किया गया।

दृश्य और घटना के विस्तार के साथ साथ प्रसाद के नाटकों की नाटकीयता में एक बड़ी बाधा भाषा को लेकर भी है। प्रसाद के नाटकों की भाषा काव्यात्मक भाषा है। प्रसाद की भाषा संवाद की भाषा नहीं है, भावना की भाषा है। उसमें एक खास तरह की तरल आर्द्रता दिखाई देती है। हालांकि चन्द्रगुप्त में बहुत हद तक इस भाषा की प्रकृति को सुधारा गया है। ध्रुवस्वामिनी में यह नहीं के बराबर है। लेकिन मोटे तौर पर प्रसाद के नाटकों की भाषा को काव्यात्मक और बिम्ब बहुला माना गया है। तर्क के स्थान पर भावना का आवेग प्रसाद की नाट्य भाषा का मिजाज है। लेकिन प्रसाद की भाषा के अनाटकीय होने के तर्क को बाद के रंगकर्मियों ने अस्वीकार किया है। प्रसाद की भाषा की प्रकृति मूलतः क्लासिकल कही जा सकती है। भारतीय नाट्य परम्परा का जो श्रेष्ठत्व है, भाषा की भंगिमा की जो महानताएं हैं, उन महानताओं की दृष्टि से प्रसाद के नाटक अप्रतिम हैं। स्वयं प्रसाद की भी एक अपनी दृष्टि थी नाट्य भाषा को लेकर।

पारसी थिएटर की भाषा की जो फूहड़ता थी जो उसका सस्तापन था, उस फुहड़ता, अश्लीलता और सस्तेपन के विकल्प के रूप में एक गहरी सांस्कृतिक चुनौती के रूप में प्रसाद ने अपने नाटकों की भाषा का निर्माण किया। इसलिए प्रसाद की जिस नाट्य भाषा को अभिनेयता के मार्ग में सीमा माना गया था, बाद के नाट्य कर्मियों ने, निर्देशकों ने कहा कि प्रसाद की नाट्य भाषा एक सम्पत्ति है, अभूतपूर्व क्षमताओं से लैश। इस तरह से प्रसाद ने हिन्दी नाटक के विकास को एक बहुत सम्मानित शिखर तक पहुंचाया। लेकिन इसके बावजूद प्रसाद के नाटकों की कुछ सीमाएं हैं। अपने कथ्य और कलात्मक वैशिष्ट्य के बावजूद, दरअसल प्रसाद ने पारसी थियेटरों की अतिरंजना के खिलाफ नाटक लिखने की प्रतिज्ञा की थी, लेकिन प्रसाद के नाटकों की विचित्र विडम्बना है कि उनके नाटकों पर पारसी थिएटर की अतिरंजना के बहुत सारे प्रभाव दिखाई देते हैं। जैसे कि संगीतात्मकता और गीतों का अत्यधिक प्रयोग।

इसके अतिरिक्त आकस्मिकता पारसी थिएटर की एक रंग रूढ़ि है। **संयोग** और **आकस्मिकता** प्रसाद के नाट्य संयोजन के सूत्र बिन्दु कहे जा सकते हैं। एक तीसरी नाट्य रूढ़ि का प्रयोग भी उन्होंने किया है और वह है पात्रों के व्यक्तित्व को यथार्थ के स्तर पर न गढ़कर उसमें **अतिरंजित परिस्थितियों का समावेश** करना। कुछ आलोचकों का कहना है कि प्रसाद के नाटकों के जो पात्र हैं उनकी प्रकृति वस्तुतः **गीतात्मक** है। अपवाद में स्कंदगुप्त के पात्र, चन्द्रगुप्त के पात्र या ध्रुवस्वामिनी के पात्र कहे जा सकते हैं। प्रसाद के नाटकों की कुछ सीमाएं हैं जिन पर विचार किया जाना चाहिए लेकिन इसमें संदेह नहीं है कि प्रसाद ने नाटक के विषय, उनकी भाषा और उनकी कलात्मकता में अभूतपूर्व विकास किया है। दरअसल हिन्दी नाटक को साहित्यिक प्रौढ़ता से जोड़ने का ऐतिहासिक कार्य प्रसाद के द्वारा संपन्न हुआ है।

इस युग के अंतर्गत आने वाले कुछ और नाटककार हैं जिनमें दो लोगों का नाम महत्वपूर्ण कहा जा सकता है – **हरिकृष्ण प्रेमी** और **लक्ष्मीनारायण मिश्र**।

प्रसाद ने अपने नाटकों में जहां भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग कहे जाने वाले गुप्तकाल के इतिवृत्त को ग्रहण किया वहीं प्रेमी जी ने मध्यकालीन इतिहास के इतिवृत्त को

ग्रहण किया। इतिहास दोनों नाटककारों के केन्द्र में है लेकिन काल की भिन्नता है। प्रसाद में प्राचीन भारत है और हरेकृष्ण प्रेमी में मध्यकालीन भारत।

एक ऐसी स्थिति में जब मुसलमानों पर एक प्रकार संदेह घिरने लगा था कि इनकी राष्ट्रीयता प्रामाणिक नहीं है, इनकी राष्ट्रीयता संदिग्ध है, प्रेमी जी ने भारतीय मुसलमानों की राष्ट्रीयता या उनके राष्ट्रीय चरित्र के पक्ष में अनेक महत्वपूर्ण नाटकों की रचना की। 'प्रतिशोध' नाटक का बकी खां नामक एक चरित्र का कथन है – 'बुंदेलखंड क्या सिर्फ बुंदेलों का है, क्या यह जमीन सिर्फ हिन्दुओं को दाना पानी देती है, हम मुसलमानों को नहीं, मजहब के नाम पर मुल्क के टुकड़े न करो सुजान सिंह, जिस मुल्क में हम पैदा हुए, जिसकी मिट्टी में हम खेले कूदे, जिसके आबो दाना में हम पले, उसकी आजादी से क्या हमारा कोई ताल्लुक नहीं।' **हरिकृष्ण 'प्रेमी'** के कई नाटक हैं – रक्षा बंधन, पाताल विजय, प्रतिशोध, स्वर्णविहीन आदि। प्रेमी जी ने प्रसाद काल में लिखना शुरू किया था और प्रसाद के नाटकों की सीमाएं उनकी निगाहों में थी। इसलिए उन्होंने नाट्य लेखन में साहित्यिकता और रंगमंचीयता के समन्वय को ध्यान में रखा। कहा जा सकता है कि **साहित्यिकता और रंगमंचीयता का समन्वय** उनके नाटकों की विशेषता है। संस्कृत नाट्य परम्परा को छोड़कर उन्होंने अपने नाटकों में **पश्चिमी नाट्य कला को अपनाने पर जोर** दिया है। उनके नाटकों का कथानक संक्षिप्त और सुगठित है, चरित्र सरल और स्पष्ट है, संवाद योजना, बहुत हद तक पात्रानुकूल है, लेकिन प्रसाद के नाटकों की तुलना में प्रेमी जी के नाटकों का कद अपेक्षाकृत छोटा है। उनके नाटकों में वह गरिमा और औदात्य नहीं है जो प्रसाद के नाटकों में दिखाई देती है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रसाद युग के दूसरे बड़े नाटककार हैं और नाट्य आलोचकों की मान्यता है कि हिन्दी में **समस्या नाटकों का सूत्रपात** लक्ष्मीनारायण मिश्र से होता है। दरअसल प्रसाद के नाटकों की दिशा का विरोध करते हुए उन्होंने अपने नाटकों में **भाव के स्थान पर बुद्धि को प्राथमिकता दी**, यानी बुद्धि के विनियोग के द्वारा या समावेश के द्वारा मिश्र जी ने हिन्दी में समस्या नाटकों का सूत्रपात किया। उनके कुछ नाटक हैं – संन्यासी, मुक्ति का रहस्य, राक्षस का मंदिर। मिश्र जी के समस्यामूलक नाटकों पर पश्चिमी समस्या नाटकों का सीधा प्रभाव देखा गया है। पश्चिम में डार्विन, मार्क्स और फ्रायड के सिद्धांतों से

जिस नवीन चेतना का सूत्रपात हुआ था उसके कारण आस्था और श्रद्धा के स्थान पर तर्क की चेतना प्रबल हुई थी। इस तरह से इस तर्क चेतना ने पश्चिम में समस्या नाटकों का सूत्रपात किया था। इसलिए पश्चिम में दो महत्वपूर्ण समस्या नाटककार माने जाते हैं इब्सन और बर्नार्ड शाह। इनके नाटकों का बहुत गहरा प्रभाव लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों पर दिखाई देता है। समस्याओं के प्रति बुद्धिवादी दृष्टिकोण के कारण मिश्र जी की नाट्यभाषा प्रसाद से बिल्कुल भिन्न है। वह जीवन व्यवहार और तर्क चेतना पर आधारित भाषा है।

प्रसाद के नाटकों में जहां काव्यात्मक तरलता दिखाई देती है वहीं मिश्र जी की भाषा में एक तर्क है, ठहराव है, एक बौद्धिकता है, संवादों में स्फूर्ति है, लघुता है और तीव्रता भी है। ये मिश्र जी की संवाद योजना की विशेषताएं हैं। बौद्धिकता को सर्वोपरि प्रश्रय दिया गया है। लेकिन मिश्र जी के नाटकों का एक अजीब अंतर्विरोध है। वह बौद्धिक होते हुए भी भावुकता से मुक्त नहीं हो पाते। दरअसल वे बौद्धिक होकर भी रूढ़ि और परम्परा का समर्थन करते हैं। जैसे उनकी एक स्थापना है कि स्त्री और पुरुष में प्रेम संबंधों के लिए सबसे अधिक घातक हो सकता है। मिश्र जी की धारणा है कि प्रेम जीवन को और जीवन की समझ को अवास्तविकता के लोक में ले जाता है। प्रेम हमारी जिन्दगी की जमीनी सच्चाईयों पर एक पर्दा डालता है। प्रेम एक अवास्तविक संसार का निर्माण करता है, इसलिए प्रेम नहीं होना चाहिए। इसलिए वे **प्रेम का निषेध करते हुए विवाह का समर्थन** करते हैं जो परम्परागत विवाह है। वह बुद्धि से और तर्क से यह सिद्ध करते हैं कि प्रेम यथार्थ विरोधी चेतना है, इसलिए इस बिन्दु पर बाधक होते हुए भी वह समर्थन विवाह का करता है जो एक रूढ़ि प्रधान परम्परा है।

इसलिए ऊपर से ऐसा दिखाई पड़ता है कि इब्सन और शॉ का प्रभाव है क्योंकि वह तर्क के आधार पर, बुद्धि के आधार पर अपनी स्थापनाएं रखते हैं। लेकिन इब्सन और शॉ ये दोनों मूलतः रूढ़ि विरोधी रचनाकार हैं। वे बुद्धि से रूढ़ियों को ध्वस्त करते हैं जबकि लक्ष्मी नारायण मिश्र बुद्धि से रूढ़ियों का समर्थन करते हैं। इसलिए उनके नाटकों में बौद्धिकता और परम्परा निर्वाह का एक अद्भुत द्वन्द्व दिखाई देता है। एक तरफ बौद्धिकता भी है और दूसरी तरफ भारतीय परम्परा के निर्वाह की कोशिश भी उनके नाटकों में दिखाई देती है। इसलिए युगीन अंतर विरोधी मूल्यगत चेतना उनके नाटकों में देखी जा सकती है। क्योंकि उस समय के अंग्रेजी पढ़े लिखे मध्य वर्ग का दिमाग एक तरफ बौद्धिक था और दूसरी तरफ उसे अपनी

परम्परा के प्रति भी बहुत लगाव था। यह हिन्दुस्तान के मध्य वर्ग का बंटा हुआ मन है जो उनके नाटकों में दिखाई देता है।

इस तरह से प्रसाद युग के नाटकों की मूल प्रकृति स्वच्छंदतावाद की है और स्वच्छंदतावाद के विरोध में भी जो लोग दिखाई देते हैं वे स्वच्छंदतावाद की कई प्रवृतियों से आवेशित हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र इसके सबसे बड़े उदाहरण कहे जा सकते हैं।

हिन्दी नाटक के विकास का **तीसरा चरण** भिन्नता का संदर्भ लेते हुए प्रसाद के बाद शुरू होता है। अगला चरण जिस नाटककार की रचनाओं में दिखाई देता है वह है **उपेन्द्रनाथ अश्क**। इसलिए प्रसादोत्तर हिन्दी नाट्य चेतना के सर्वप्रथम संवाहक उपेन्द्रनाथ अश्क को माना गया है। वे प्रसादोत्तर नाट्य परम्परा के निर्भीक और बुनियादी यथार्थ के प्रस्तावक हैं। हरिकृष्ण प्रेमी और लक्ष्मी नारायण मिश्र ने हिन्दी नाटक को रंगमंच से जोड़ने की कोशिश जरूर की थी लेकिन वह सैद्धांतिक कोशिश थी। व्यवहारिक स्तर पर वे नाटक बहुत रंगमंचीय नहीं हो सके। अश्क के सामने एक समस्या तो हिन्दी रंगमंच को लेकर थी नाटकों की रंगमंचीयता को लेकर और दूसरी भाववादी मुद्रा से मुक्ति को लेकर समस्या थी। एक तरह से नाटक को भाववाद या रोमासंवाद से बाहर निकाल कर उसे आधुनिक भावबोध से जोड़ने की समस्या थी। इन दोनों समस्याओं का सामना अश्क ने अपने तरीके से किया।

दरअसल उपेन्द्रनाथ अश्क एक नई नाट्य पीढ़ी के पहले समर्थक नाट्यकार हैं। इस नई नाट्य पीढ़ी में अश्क के अतिरिक्त **जगदीश चन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, लक्ष्मी नारायण लाल, मोहन राकेश** अनेक लोगों के नाम लिये जा सकते हैं। अश्क जी के कई नाटक बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। उनका पहला चर्चित नाटक था 'छठा बेटा'। इस नाटक में पिता और पुत्र के परिवर्तित संबंधों को व्यंग्यात्मक ढंग से चित्रित किया गया है। कथा बस इतनी है कि एक अवकाश प्राप्त पिता जब लौट कर आता है तो पिता के छः बेटे हैं लेकिन किसी भी बेटे के पास पिता को रखने के लिए जगह नहीं है। एक तरह से पिता और पुत्र के संबंधों में जो बदलाव आ गया है, पिता और पुत्र के हजारों वर्षों के पारम्परिक ढांचे में जो परितर्वन आ रहा है उस परिवर्तन को सूचित करने वाला या उस परिवर्तन की पीड़ा को झेलने वाला पहला नाटक है 'छठा बेटा।'। इसमें बताया गया है कि पिता और पुत्र का जो परम्परागत रिश्ता था वह भावात्मक रिश्ता था। **आज के सभी रिश्ते मात्र आर्थिक रिश्ते हैं।**

इसलिए पारिवारिक रिश्तों के केन्द्र में भावना, कर्तव्य और दायित्व के स्थान पर अर्थ संबंध आ गया है। यानी अब आर्थिक स्थितियां मानवीय और पारिवारिक संबंधों की प्रकृति को परिभाषित करेंगी। दूसरे दो नाटक हैं जो क्रम में हैं कैद और उड़ान। ये दो नाटक हैं लेकिन ये परस्परता में हैं। 1945 में 'कैद' की रचना हुई थी और 1946 में 'उड़ान' की । 'कैद' में सामाजिक रूढ़ियों और यंत्रणाओं की कैद में घुटती हुई स्त्री है तो 'उड़ान' में रूढ़ियों से मुक्त होकर स्वतंत्र हवा में सांस लेती हुई स्त्री। जिस एक नाटक के कारण वह सर्वाधिक चर्चित हुए वह नाटक था 'अंजु दीदी'। 1954 में यह कृति प्रकाशित हुई थी। यह अश्क जी की सर्वाधिक प्रौढ़ कृति है। अंजु बहुत अनुशासनप्रिय है, परिवार की मुखिया है, परिवार को चलाने वाली है। लेकिन उसका अनुशासन यांत्रिक है। ये परिवार और पारिवारिक संबंधों पर उतरती हुई यांत्रिकता है जिसकी आहट 'अंजु दीदी' में सुनाई पड़ती है।

आने वाले समय में संबंधों की यांत्रिकता, भावनाओं की यांत्रिकता जीवन की यांत्रिकता को अश्क ने इस नाटक में उठाया है। ऐसा अनुशासन है जिसमें परिवार के प्रत्येक सदस्य को उस अनुशासन में यंत्र की तरह काम करना होता है इसलिए इस यांत्रिकता की ओर संकेत करती हुई अंजु दीदी का एक पात्र कहता है, 'वह इस घर को घड़ी की तरह चलाना चाहती थी पर वह न जानती थी कि घड़ी मशीन है और इंसान मशीन नहीं। जब इंसान मशीन बन जाएगा तो वह दिन दुनिया के लिए सबसे बड़े खतरे का दिन होगा। लेकिन मैं समझता हूं कि आज अंजु दीदी की सनक, उसके तिलसम को तोड़ना जरूरी है ताकि इस घर के वासी अपनी अपनी जिंदगी जिएं।' दरअसल मशीनकरण के कारण टूटती हुई जिन्दगी और उसके भीतर यांत्रिकता का बढ़ता हुआ वर्चस्व नाटक का मूल कथ्य है जो एक पारिवारिक ढांचे में प्रस्तुत किया गया है। इस तरह से अश्क ने हिन्दी नाटक को एक परिपक्वता प्रदान की, उसे यथार्थवाद से जोड़ने की कोशिश की और भाषा और दृश्यों की योजना गंचीय आवश्यकताओं के अनुरूप की।

इस युग के दूसरे नाटककार **विष्णु प्रभाकर** हैं। 'डाक्टर' इनका बहुचर्चित नाटक है। विष्णु प्रभाकर एक तरह से मनोविज्ञान का इस्तेमाल करते हैं यह भी यथार्थवादी धारा का ही एक पक्ष है। वे पात्रों के मनोवैज्ञानिक संदर्भ को अपना मूल विषय बनाते हैं। 'डाक्टर' इस दृष्टि से एक बहुत महत्वपूर्ण नाटक है। यह एक मनोवैज्ञानिक सामाजिक नाटक है और नाटक के केन्द्र में दिखाया गया है कि पेशे से इंजीनियर एक व्यक्ति डा0 शर्मा अपनी पत्नी को एक

नर्सिंग होम में ले जाते हैं, बाद में पता चलता है कि जो डाक्टर है वह डा0 शर्मा की परित्यक्ता पत्नी है और डाक्टर को भी पता चलता है कि यह जो औरत है जिसका आपरेशन होना है यह किसकी पत्नी है। उसके पूर्व पति की पत्नी। एक अंतर्द्वन्द्व शुरू होता है। हालांकि इसे अतिवाद तक पहुंचाने की कोशिश की गई है जो आपरेशन कर रही होती है तब भी उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व है। यह नाटक क्लाईमेक्स पर आता है जब शर्मा को पता चलता है कि मेरी पहली पत्नी ही आपरेशन कर रही है तो वह उसका नाम लेता है मधु लक्ष्मी। क्योंकि वह डर रहा होता है कि कहीं प्रतिशोध काम करेगा और इसमें सब स्थितियां गड़बड़ हो सकती हैं। लेकिन उसमें एक पात्र है जो कहता है कि मधु लक्ष्मी मर गई है, अब जो स्त्री आपरेशन कर रही है वह डाक्टर है वह आपकी पत्नी नहीं है। तो एक तरह से भावना और कर्तव्य को लेकर जो द्वन्द्व है, यह एक मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व है, इसको विषय बनाया गया है।

प्रभाकर जी के नाटकों में इस आंतरिक अन्तर्द्वन्द्व को ही मुख्य विषय के रूप में रखा गया है। नवीनता इस बिन्दुपर है कि मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व को विषय बनाया गया है और चूंकि विष्णु प्रभाकर पर गांधीवादी नैतिकता का बहुत गहरा प्रभाव है, इसलिए मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों की परिणति गांधीवादी आदर्शों में होती है।

प्रसादोत्तर नाटककारों में तीसरा नाम है **जगदीश चन्द्र माथुर**। 'जगदीश चन्द्र माथुर अश्क' से भिन्न नाट्य दृष्टि विकसित करते हैं। उनके नाटकों का विषय सीधे सीधे सामाजिक समस्याओं से जुड़ा हुआ नहीं है। उनके तीन नाटक बहुत चर्चित हैं। पहला 'कोणार्क' जो 1951 में प्रकाशित हुआ और तीसरा नाटक है 'शारदीया' यह 1973 के आसपास प्रकाशित हुआ है।

इन तीन नाटकों के द्वारा जगदीश चन्द्र माथुर ने अपनी एक स्वतंत्र पहचान बनाई। कोणार्क में जगदीश चन्द्र माथुर इतिहास की तथ्यात्मकता का अतिक्रमण करते हैं। वे इतिहास को दरअसल मिथक में रूपांतरित करते हैं और इतिहास से मिथक में रूपांतरित होता हुआ नाटक व्यक्ति के मन से जुड़ता है। इसलिए जगदीश चन्द्र माथुर को हिन्दी नाटक को एक नई दिशा देने का श्रेय प्राप्त है। अगर थोड़ा पहले जायें तो हम पाते हैं कि प्रसाद के नाटकों का मूल विषय यद्यपि वर्तमान है लेकिन वे इतिहास का आश्रय लेते हैं। इतिहास एक ढांचा है जिसमें वे वर्तमान की बात करते हैं। इतिहास के उपयोग द्वारा वे राष्ट्रीय एकता की स्थापना, अपने सांस्कृतिक श्रेष्ठत्व की स्थापना, परम्परा के औदात्य और महानता की स्थापना करते हैं।

हरिकृष्ण प्रेमी हिन्दु मुस्लिम एकता के लिए इतिहास का सहारा लेते हैं। लेकिन माथुर जी के नाटकों में इतिहास इतिवृत्त के रूप में नहीं है। वे ऐतिहासिक तथ्य को भी मिथक में परिवर्तित करते हैं और इतिहास के मिथक में परिवर्तित होने का अर्थ है कि इतिहास तर्क और बुद्धि का विषय नहीं बल्कि जातीय विश्वास का विषय है।

इतिहास को मिथक में परिवर्तित करने की प्रक्रिया अधिक सूक्ष्म है और माथुर के नाटकों का विषय ऐसा लगता है कि ऐतिहासिक या पौराणिक है लेकिन वह गहरे और सूक्ष्म अर्थों में उसका मिथकीकरण करते हैं और उस मिथकीकरण के द्वारा अपने समय की चेतनागत समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं। इस तरह से इतिहास को मिथक में रूपांतरित करके जगदीश चन्द्र माथुर चेतना के बिन्दु पर उत्पन्न होने वाले संकटों को प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं। इसलिए 'कोणार्क' में कलाकार एवं सत्ता के संघर्ष की समस्या को उठाया गया है। जगदीश माथुर के नाटकों में समस्याएं एक दूसरे में गुंथी हुई हैं। कोणार्क में तीन तरह की समस्याएं हैं, तीन तरह के युग्म है जिनके बीच टकराहट दिखाई देती हैं, तीन जोड़े टकरा रहे हैं। सर्जना और विध्वंस के बीच पहली टकराहट है, पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी के बीच दूसरी और राज सत्ता और जनता की सत्ता के बीच, तीसरी टकराहट है। इस तरह से इतिहास को मिथक में रूपांतरित करता हुआ यह नाटक जीवन संघर्ष के अनेक आयामों को एक रचनात्मक दिशा देता है।

दूसरा नाटक है 'पहला राजा'। यह जगदीश चन्द्र माथुर का एक अति महत्वाकांक्षी नाटक है, जिसकी कथा उन्होंने अनेक स्रोतों से ग्रहण की है। वेद, महाभारत, भागवत पुराण, विष्णु पुराण आदि से लिया है। इसके अतिरिक्त हड़प्पा और मोहनजोदाड़ों के मिथकों, पुराकथाओं और ऐतिहासिक वृत्तों से इसकी कथा का निर्माण किया गया है। यह नाटक पृथु की कथा पर आधारित है और यह नाटक धरती की अनेक समस्याओं से जुड़ कर अपने युग का बहुआयामी नाटक बन गया है। विद्वानों की मान्यता है कि इस नाटक में उठायी गयी समस्याएं नेहरू युग की समस्याएं हैं। भारतीय मिथकों में पृथु को पहला राजा माना गया है और जवाहर लाल नेहरू स्वतंत्र भारत के पहले प्रधानमंत्री थे। पृथु की समस्याएं लगभग वही हैं जो नेहरू की समस्याएं हैं। जैसे प्रजातंत्र की व्यवस्था, उत्पादन की समस्या, जलाभाव के कारण कृषि उत्पादन में कमी, जातिभेद, संविधान का निर्माण और मंत्रिमंडल के गठन की

प्रक्रिया में पैदा होने वाला कलह। इन सारी समस्याओं के मूल में आर्थिक समस्या ही है, माथुर जी की पैनी दृष्टि ने इस यथार्थ को स्थापित किया है।

शारदीया तीसरा नाटक है जिसमें राज सत्ता की परिणति और प्रकृति पर प्रकाश डाला गया है। राज सत्ता किस प्रकार मानवीय भावनाओं को नष्ट कर देती है और संबंधों से बिल्कुल मुक्त, निर्मम, महत्वाकांक्षी मनुष्य का निर्माण करती है शारदीया का मूल विषय यही है। माथुर जी के नाटकों की विशेषता उसकी एक स्वतंत्र और प्रभावशाली रंगमंचीय दृष्टि है। उन्होंने अपने नाटकों के रंगमंच को एक बहुधरातलीय विधान प्रदान किया है। पश्चिम की नाट्य परम्परा से अनेक प्रभावों को ग्रहण करते हुए भी उन्होंने अपने रंगमंच में भारतीय नाट्य परम्परा के बहुत सारे प्रभावों और रूढ़ियों को स्वीकार किया है। गीतिवाद्य, मुखोटों का प्रयोग, जहां उन्हें लोकमंच से जोड़ता है, वहीं जट नटी और सूत्रधार का प्रयोग उन्हें भारतीय रंगमंच की परम्परा से भी जोड़ता है। दरअसल लोक नाट्य परम्परा, पश्चिमी परम्परा और भारतीय रंग परम्परा के श्रेष्ठ तत्वों को मिलाकर जगदीश चन्द्र माथुर एक प्रभावशाली रंगमंचीय परम्परा का सूत्रपात करते हैं।

धर्मवीर भारती हिन्दी के उन दुर्लभ रचनाकारों में से एक हैं जिन्होंने नाटक और कविता को एक दूसरे से विलयित करने में विलक्षण सफलता हासिल की। 'अंधा युग' 1954 की कृति है और इसमें महाभारत के 18वें दिन की कथा को विषय बनाया गया है। इस कथा को चुनने का मूल कारण युद्ध और युद्ध के बाद की परिस्थितियों और मानवीय त्रासदी का साक्षात्कार है। दरअसल युद्ध के तीन संदर्भ भारतीय मानस में मौजूद हैं। पहला विश्वयुद्ध, दूसरा विश्वयुद्ध और भारत–पाकिस्तान विभाजन। ये युद्ध की अलग–अलग त्रासदियां हैं जिनके संदर्भ में मूल्य और मूल्यहीनता को पहचानने की कोशिश 'अंधा युग' में की गई है। इसलिए नाटक युद्ध के बाद विघटित चेतना, मूल्यों और अकेलेपन का उद्घाटन करता है। इस नाटक में यह बिन्दु भी दिखाया गया है कि युद्ध के पहले और युद्ध के बाद शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। युद्ध के पहले जो शब्द का अर्थ है युद्ध के बाद वही अर्थ नहीं रह जाता।

इसलिए आस्था अनास्था में बदलती हैं, मूल्य निर्मूल्यता में बदल जाते हैं। पूरा समाज विभ्रमित होता है। इस नाटक का एक पात्र है युयुत्सु। युयुत्सु एकमात्र ऐसा पात्र है जो दुर्योधन का भाई है और पाण्डवों की तरफ से लड़ता है। युयुत्सु की यह धारणा है कि जो कौरव दल है वह अन्याय के पक्ष में है। दुर्योधन का आचरण अन्यायपूर्ण है। उसका कथन

अन्यायपूर्ण है। उसके दावे अन्यायपूर्ण हैं। अतः युयुत्सु न्याय के लिए पाण्डवों के साथ लड़ता है और जब महाभारत खत्म हो जाता है और पाण्डवों के शिविर में जश्न मनाए जा रहे होते हैं तब वह हस्तिनापुर लौटता है। गांधारी उससे मिलने से मना कर देती है। विदुर वहां पर खड़े हैं। गांधारी एक वाक्य कहती हैं कि विदुर इससे पूछो कि अपने भाइयों का वध करते करते उसकी बाहें तो नहीं थक गई हैं। लोग उसे प्रेत समझते हैं, बच्चे उसे पत्थर मारते हैं, कोई पागल कहता है, कोई पेशाचिक कहता है, कोई जादूगर कहता है। बाद में वह आत्महत्या करता है। लेकिन वह एक वाक्य कहता है कि पक्ष चाहे सत्य को हो या असत्य का, अपनी अंतिम परिणति में दोनों ही जर्जर करते हैं। युद्ध से पहले जो सत्य प्रतीत होता है युद्ध के बाद वह सत्य बना रहे इसकी कोई प्रामाणिकता नहीं होती। इसलिए युद्ध शब्दों और मूल्यों का अर्थ विपर्यय कर देता है। इस युद्ध के समाप्त-होने-पर शुरू होता है अन्तर्द्वन्द्व का सिलसिला। चेतना के भीतरी धरातल पर सभी अंधे हो जाते हैं, विवेकहीन हो जाते हैं, अकेले हो जाते हैं जैसे अपना ही अस्तित्व एक प्रेत-लोक में परिवर्तित हो जाता है।

इसलिए अश्वत्थामा एक स्थान पर कहता है कि मैं मनुष्य रूप में पैदा हुआ था, लेकिन महाभारत में जो घटित हुआ उसने मुझे पशु के रूप में तबदील कर दिया। इसलिए वह कहता है कि मैं मात्र पशु हूं मैं आदमी नहीं हूं और उसी प्रतिशोध में वह उत्तरा के गर्भ पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करता है। कई तरह की कथाएं इस संदर्भ में चलती हैं कि किस तरह से युद्ध एक भीतरी पागलपन पैदा करता है, उन्माद पैदा करता है जिसमें मूल्यों का, विश्वासों का, आस्थाओं का, मनुष्य बने रहने की शर्तों का नाश हो जाता है। युद्ध के खत्म होने के बाद अन्तर्द्वन्द्व की प्रक्रिया शुरू होती है। युद्ध बाहरी द्वन्द्व होता है पहले धरातल पर और दूसरे धरातल पर होता है अन्तर्द्वन्द्व। इसलिए युद्ध एक अपाहिज और कभी खत्म न होने वाली एक दंश चेतना को जन्म देता है। वह उत्पन्न करता है निराशा, पीड़ा, निरर्थकता और अकेलापन। 'अधा. युग' वस्तुतः **युद्धोत्तर समाज और मानवीय नियति का व्याख्यान** है। 'अंधा युग' की भाषा अपनी सरलता, उतार चढ़ाव, लय और क्रियात्मकता के कारण नाटक की संभावनाओं से भरपूर भाषा है। इसका पहला मंचन इब्राहिम अलकाजी ने फिरोजशाह कोटला के किले में किया था, बिल्कुल प्रकृत रूप में। कुछ लगाया नहीं गया था सीटिंग की गई थी लेकिन उस तरह से प्रकाश की व्यवस्था नहीं। यह हिन्दुस्तान के सबसे सफल मंचनों में से एक कहा जाता है। 'अंधा युग' दुनिया की सर्वश्रेष्ठ कही जाने वाली नाट्य कृतियों में से एक है। क्योंकि युद्ध एक सनातन शाश्वत सार्वभौमिक समस्या है और इसे एक मिथकीय और पौराणिक संदर्भ

में पुनर्रचित किया गया है, इसलिए रंगमंच की संभावनाओं का विस्तार अंधा युग करता है। एक बहुत सटीक और सार्थक योगदान हिन्दी नाटक की विकास परम्परा में 'अंधा युग' का है।

कई लोगों का ऐसा मानना है कि हिन्दी नाटक की वास्तविक शुरूआत मोहन राकेश से होती है। अभी तक जो नाटक है उसमें रंगमंच और पाठ का एक भेद बना हुआ था। लेकिन **मोहन राकेश ने रंगमंच और नाट्य पाठ के द्वैत को खत्म कर दिया।** नाटक ही जैसे रंगमंच हो गया या रंगमंच में ही नाटक आ गया, अपनी पूरी साहित्यिक प्रभुता के साथ। **मोहन राकेश एक तरह से प्रसाद की साहित्यिकता और भारतेन्दु की रंगमंचीयता को एक बिंदु पर संगठित करते हैं।** हिन्दी के रंगमंच की जिन संभावनाओं की खोज चल रही थी, उस खोज को उपलब्ध किया मोहन राकेश ने अपने नाटकों में। इसलिए मोहन राकेश के नाटक मंच की व्यवहारिक भाषा, संवाद की प्रभावशाली योजना और चरित्रों को अन्तर्द्वन्द्व के बिन्दु पर गढ़ने की अभूतपूर्व प्रतिभा से युक्त हैं। तीन नाटकों की सृष्टि मोहन राकेश ने की।

पहला नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' 58 में आया, 'लहरों के राजहंस' 63 में प्रकाशित हुआ, तीसरा नाटक आया 'आधे अधूरे' 1969 में। मोहन राकेश के समूचे साहित्य के बारे में यह कहा जाता है कि इनका पूरा साहित्य जिसमें कहानी, उपन्यास और नाटक तीनों शामिल हैं जिन्दगी की निजी परिस्थितियों की अभिव्यक्ति करते हैं। वस्तुतः निजता और रचनात्मकता के बीच बहुत गहरा सम्बन्ध मोहन राकेश में दिखाई देता है। मोहन राकेश के यहां जिन्दगी की दो समस्याएं बहुत महत्वपूर्ण समस्याएं हैं, **घर और स्त्री–पुरुष संबंध।** 'आषाढ़ का एक दिन' कालीदास के काल्पनिक जीवनवृत्त पर आधारित नाटक है। इस नाटक के माध्यम से मोहन राकेश ने साहित्यकार के उन संदर्भों की तलाश की है जो उसकी सर्जना के प्रेरक बिन्दु हैं। **व्यक्ति स्वातंत्र्य** एक मुख्य प्रेरणा बिन्दु हो सकता है। जब किसी रचनाकार को स्थापित मान्यताओं में, रूढ़ियों में बांधने की कोशिश की जाती है तो उसकी सृजनात्मकता खत्म होने लगती है।

इसलिए व्यक्ति स्वातंत्र्य वह प्रेरक बिन्दु है जिसके दबाव में या जिसके अनुसार वह साहित्य की रचना करता है। लेकिन इस प्रक्रिया को रखकर, ऐसा आरोप है, कि उन्होंने कालिदास के व्यक्तित्व को विघटित कर दिया है। कालिदास के रूप में यह मोहन राकेश का

आत्म प्रक्षेपण है, ऐसी कुछ आलोचकों की मान्यता है। इसलिए इस नाटक में कालिदास एक दुर्बल, आन्तरिक संघर्षों से शून्य, उत्तरदायित्व की चेतना से रिक्त और आत्मलीन व्यक्ति के रूप में दिखाई देते हैं। दरअसल कालिदास **कलाकार के व्यक्ति स्वातंत्र्य और राजाश्रय के बीच भटकती हुई चेतना का नाट्य बिम्ब है।** इसलिए उसके व्यक्तित्व में एक विशेष प्रकार का द्वैत और विभाजन दिखाई देता है। इस द्वैत और विभाजन ने कालिदास के चरित्र को निहायत कमजोर और अप्रामाणिक बना दिया है। दरअसल कथा इस तरह से बनाई गई है कि कालिदास एक गांव में रहता है और उसी गांव में एक स्त्री है जिसका नाम है मल्लिका। मल्लिका से वह बहुत प्यार करता है। मल्लिका जैसे उसकी सृजनात्मकता की प्रेरणा बिन्दु है, मल्लिका है और आसपास का पूरा परिवेश है। इस बीच एक प्रस्ताव आता है उज्जैनी से राजकवि बनने के लिए। इसलिए जो कालिदास अभी तक अपनी सृजनात्मकता के प्रति बहुत ईमानदार दिखाई देता है, वह बाद में राजाश्रय स्वीकार करता है। और धीरे–धीरे अपनी सृजनात्मकता को नष्ट कर लेता है। इसलिए बहुत दुर्बल व्यक्तित्व, जो अपनी प्रतिबद्धता और अवसरवादिता को साथ साथ निभाता है। इस तरह से रचनाकार के आचरण के द्वन्द्व या द्वैत का उद्घाटन ही इस नाटक की मूल विषय वस्तु है।

एक स्थान पर कालिदास कहता है कि "मैं अनुभव करता हूं कि यह ग्राम–प्रांतर मेरी वास्तविक भूमि है। मैं कई सूत्रों से इस भूमि से जुड़ा हुआ हूं।" मल्लिका से कहता है कि "उन सूत्रों में तुम हो, ये आकाश और मेघ हैं, यहां की हरितिमा है" .....एक दूसरे स्थान पर वह कहता है कि "मैं राजकीय मुद्राओं से कृत होने के लिए नहीं हूं।" लेकिन बाद में जो चरित्र का विकास दिखाया गया है, उसमें अपने सम्मान, अधिकार, सत्ता के मोह से ग्रस्त एक नितांत परिवर्तित व्यक्तित्व दिखायी देता है। इसलिए सृजनात्मकता और सत्ता के प्रलोभन में बंटा हुआ व्यक्तित्व, यही वह वास्तविक समस्या है जिससे 'आषाढ़ का एक दिन' का निर्माण हुआ है।

'लहरों के राजहंस' दूसरा नाटक है जिसमें काम और अध्यात्म के बीच की समस्या को उठाया गया है। यहां बुद्ध के सौतेले भाई आनंद की कथा है। जिसमें एक तरफ वह अपनी पत्नी सुन्दरी के प्रति अत्यधिक आकर्षित है और दूसरी तरफ वह पुत्र के व्यक्तित्व के प्रति भी उतना ही आकर्षित है। इसलिए वह बुद्ध और सुन्दरी के आकर्षण में दिग्भ्रमित है। वह द्वन्द्वों का समाधान पाना चाहता है कि वास्तविक सच कहां है। स्त्री का सौन्दर्य सच है या बुद्ध का

श्री उत्कर्ष क्लासेज (राजा) उत्कर्ष IAS Ph: 27659400 IAS/PCS: 9868448606

वैराग्य। मन को शांति नहीं मिलती इसलिए आनंद से पूछता है कि तुम तो बुद्ध के बहुत निकट हो, तुम बताओ कि मेरे जीवन की मुक्ति कहां है ? सौन्दर्य में है, स्त्री के सान्निध्य में है या बुद्ध के सान्निध्य में। व्यक्तिवादी रचना होने के नाते मोहन राकेश आनंद के माध्यम से एक वाक्य कहलवाते हैं। आनंद कहता है कि मुझसे पूछना चाहते हो, परन्तु जो व्यक्ति तुम्हारे किसी भी प्रश्न का उत्तर दे सकता है वह मैं नहीं हूं, उत्तर तुम्हें केवल एक व्यक्ति से मिलता है और उसका नाम है नंद। हमारे जीवन में जो सवाल आते हैं, हमारी जिन्दगी में जो प्रश्न उठते हैं उन प्रश्नों का उत्तरदाता स्वयं वही व्यक्ति हो सकता है, इसलिए जो व्यक्ति की द्वन्द्वात्मकता है, दो विरोधी शक्तियों के बीच पैंडुलम की तरह घुलने की चेतना और स्थिति है, यह द्वन्द्व और इस भटकाव का समाधान बाहर नहीं बल्कि स्वयं के निर्णय में निहित है। इसलिए नाटक अन्त तक पता नहीं चलने देता कि निष्कर्ष क्या हो सकता है। लेकिन इसमें सुन्दरी का एक बहुत महत्वपूर्ण कथन है, जब वह कहती है कि **नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है और उसका अपकर्षण उसको बुद्ध बना देता है।** नारी का आकर्षण ही केन्द्र में है। दो तरह के रिश्ते बनते हैं यदि वहां आकर्षण है तो वह पुरुष बना रहेगा यदि वह अपकर्षण है तो वह बुद्ध बन जायेगा। **स्त्री ही पुरुष बनाती है और स्त्री ही बुद्ध बनाती है।** दोनों के केन्द्र में वही है। इस तरह से स्त्री के आकर्षण और अध्यात्म के बीच में एक कसमकस है और मोहन राकेश के सभी नाटकों में यह कसमकस दिखाई पड़ती है।

अंतिम नाटक 'आधे अधूरे' बहुत विवादारपद नाटक है। ऐसा कहा गया है कि आधे अधूरे मध्यवर्ग की नयी सम्बन्ध स्थितियों की दास्तान है। यह सम्बन्धों की धूरियों के टूट जाने की त्रासदी का नाटक है। इसलिए इस नाटक में अजीबोगरीब स्थितियों की योजना की गई है। जिस पुरुष के साथ उस लड़की की मां प्रेम करती है वही पुरुष उसकी लड़की से प्रेम करके उसके साथ भाग जाता है। जो सावित्री इस नाटक की नायिका है वह पांच अलग अलग पुरुषों से प्रेम करती है। दरअसल मोहन राकेश एक गंभीर बात उठाना चाहते हैं। सावित्री पाती है कि जो उसका पति है उसमें कमियां बहुत हैं, नकारा है, कमाता नहीं है, इसके पति के जो अवगुण हैं वह अवगुण दूसरे में नहीं हैं। लेकिन वह पाती है कि पति के अतिरिक्त जो दूसरा पुरुष आता है उसमें पति के अवगुण नहीं हैं लेकिन वह दूसरी तरह से खाली है। यानी प्रत्येक नए पुरुष के अपने अपने अवगुण हैं। जब कि सावित्री एक आधुनिक

नारी की तरह एक कम्प्लीट मैन चाहती है। मोहन राकेश इस नाटक में बताना चाहते हैं कि पूर्णत्व की खोज एक भ्रामक खोज है। अगर पांचों पुरुषों में से वह किसी को अपनाती तो अन्ततः वह महेन्द्रनाथ होता। महेन्द्रनाथ से मुक्ति संभव नहीं है क्योंकि प्रत्येक पुरुष में एक महेन्द्रनाथ है। उसमें यह कमी नहीं होती तो वह कमी होती, अगर दूसरी नहीं होती तो कोई तीसरी होती।

आधुनिक स्त्री के भटकाव की नियति को जैसे यह नाटक पहली बार उठाता है। परिस्थितियों ने स्त्री को जो स्वाधीनता दी है, इस स्वाधीनता के साथ जो उत्पन्न होने वाले खतरे हैं उसके रूबरू यह नाटक खड़ा करता है। नाटक का शीर्षक रखा गया है 'आधे अधूरे'। यह आधा अधूरापन व्यक्तित्व की नियति है। प्रत्येक व्यक्तित्व आधा अधूरा है। और इसी आधे अधूरे के बीच से संबंधों के संतुलन की खोज की जानी चाहिए। पारम्परिक संबंधों के विघटन से उत्पन्न शून्य की त्रासदी का चित्रण इस नाटक का कथ्य है और मोहन राकेश इस नाटक के अंत में इस बिन्दु पर आते हैं कि इस शून्य को भरने का कोई विकल्प नहीं है। सावित्री कहती है कि जब भी मैं चाहती हूं कि महेन्द्रनाथ का विकल्प मिले, लेकिन हर संबंध में मैं देखती हूं कि एक महेन्द्रनाथ आ जाता है और नाटक जहां खत्म होता है वहां पर मंच की व्यवस्था है कि धुंधला है पता नही चलता है और आवाज आती है कि संभल कर महेन्द्रनाथ, यानी फिर वह वापस लौट आता है। इस तरह से संबंधों में जो नई स्थितियां पैदा हुई हैं, उन नयी स्थितियों के भटकाव और त्रासदी से अब परिवार को कोई मुक्ति नहीं है। इस तरह से यह संबंधों के विघटन और व्यक्तित्वों के विघटन का नाटक है जिसमें हजारों शून्यों की स्थिर उपस्थिति की ओर इशारा किया गया है।

मोहन राकेश के बाद हिन्दी नाटक की दो धाराएं दिखाई देती है। एक धारा एब्सर्ड नाटकों की है। एब्सर्ड नाटक का ठीक ठीक अनुवाद मुश्किल है लेकिन दिशाहीन, अनुशासनहीन, लक्ष्यहीन, अराजक, ये एब्सर्ड के कई अर्थ किए गए हैं। जीवन और भविष्य के प्रति गहरी अनास्था से एब्सर्ड का जन्म होता है। सन् 60 के बाद का जो भारतीय समय है उस समय के कुछ हिस्से में मूल्य विरोधी, परम्परा विरोधी, आस्था विरोधी चेतना का एक ज्वार दिखाई देता है। इससे कविता के क्षेत्र में अकविता, कहानी के क्षेत्र में अकहानी और नाटक के क्षेत्र में एब्सर्ड नाटक का उदय होता है। वस्तुतः नेहरू युग के बाद जिस भयावह रिक्तता के सामने देश ने अपने को पाया, उसी रिक्तता की अभिव्यक्ति अकविता में, अकहानी

में या एब्सर्ड नाटकों में दिखाई देती है। दरअसल यह उस पीढ़ी की अभिव्यक्ति है जिस पीढ़ी के बचपन के सपनों में आजादी की बेहद मोहक तस्वीरें दिखाई गई थीं। उनके सपनों की बुनावट में ऐसे भारत की तस्वीर थी जिसे समाजवादी प्रतिज्ञाओं और समाजवादी लक्ष्यों के अनुरूप गढ़ा जाना था। जब इस पीढ़ी ने यौवन में कदम रखा और व्यावहारिक जीवन का सामना किया तो उसे लगा कि समूची परम्परा और समूची आस्था झूठे आश्वासनों के षडयंत्र से आवेशित है। इसलिए एक विशेष प्रकार की नकारवादी मुद्रा उत्पन्न हुई। इतिहास फिर कोई नयी चाल चल गया था जिसमें इतिहास के सूत्रधार अपने को पराजित महसूस कर रहे थे। पंचशील के सिद्धांतों और चीनी–हिन्दुस्तानी भाई भाई के नारे के बावजूद 1962 के युद्ध में हिन्दुस्तान की त्रासद पराजय ने नेहरू को भी झकझोर कर रख दिया था। 64 में उनकी मृत्यु हुई है लेकिन वह देह से मृत्यु हुई है। नेहरू 62 में अपनी आस्थाओं और अपनें सपनों के बिंदु पर पराजित हो चुके थे। तो इस तरह से एब्सर्ड नाटक, अकहानी और अकविता के बीच में तारत्म्यता का संबंध है। अकविता, अकहानी और एब्सर्ड नाटकों की विषय वस्तु एक है और वह है एक भविष्यहीन हिन्दुस्तान, एक असुरक्षित यौवन, एक लक्ष्यहीन ऊर्जा। इतने लोग थे, मैन पावर था, लेकिन कहीं कोई काम नहीं था।

अराजकता जैसे एक ऐतिहासिक नियति बन कर जनता के दिलो दिमाग और रचनाकारों की रचनाशीलता पर छा रही थी। इन्हीं मानसिकताओं की एक सशक्त अभिव्यक्ति एब्सर्ड नाटकों में दिखाई देती है। पश्चिम में एब्सर्ड नाटकों की परम्परा थोड़ी पुरानी थी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न हताशा, अकेलेपन, रिक्तता ने एब्सर्ड साहित्य को जन्म दिया था। हिन्दी में एब्सर्ड नाटकों की शुरूआत 1960 से होती है। लेकिन इसके आरंभिक सूत्र **भुवनेश्वर** नामक नाटककार में 1936 में दिखाई देने लगते हैं। उनका एकांकी संग्रह 'कारवां' 1936 में प्रकाशित हुआ था। 'शैतान' 1937 में और और 'रोमांस रोमांच' 1935 में प्रकाशित हुआ था। एक तरह से इन नाटकों के केन्द्र में प्रेम है। प्रेम के औदात्य और उसकी महानता के सिद्धांत को भुवनेश्वर के नाटक और भुवनेश्वर की एकांकियां पूरी तरह से निरस्त करती हैं। वह प्रेम को एक नितांत जैविक आवश्यकता के रूप में परिभाषित करती हैं। 1938 में उनका एक संग्रह आया 'उसर' यानी जिसमें कुछ पैदा नहीं होता। इसे हिन्दी में **व्यर्थता बोध** का पहला नाटक कहा गया है। इस नाटक के केन्द्र में एक मध्यवर्गीय परिवार है और इस परिवार में सम्बन्धहीनता का तनाव दिखाई देता है। एक घुटन, तनाव, बेचैनी का माहौल पूरे नाटक में

है और जीवन की कोई दिशा और जीवन का कोई लक्ष्य नहीं दिखाई देता। आदमी की स्थिति जानवरों से बदतर होने वाली है, इसकी घोषणा इस नाटक में एक पात्र करता है – 'मैं कहता हूं कि आने वाली जेनरेशन, चाहे वह बिल्लियों की हो या सर्पों की, हमसे अच्छी होगी।' 1946 में भुवनेश्वर का एकांकी संग्रह 'तांबे के कीड़े' प्रकाशित हुआ। इसे एब्सर्ड नाटकों का प्रतिनिधि माना गया है। सही अर्थों में एब्सर्ड नाटकों की शुरूआत 'तांबे के कीड़े' से होती है। एब्सर्ड नाटकों की खासियत संवादों की संबंधहीनता, भाषा की अव्यवस्था एवं दृश्यों में योजना का अभाव है। 'तांबे के कीड़े' अपने पूरे संगठन में बेतरतीब आवाजों का एक कोलाज है क्योंकि इसमें संवाद सुनाने के लिए नहीं बोले जाते। एक पात्र बोल रहा है उसी समय दूसरा पात्र बोलने लगेगा और पहला भी बोलता रहेगा। जैसे पूरी जिन्दगी एक शोर में बदल गयी हो, इस स्थिति को व्यंजित करने के लिए एब्सर्ड नाटकों में इस तरह की दृश्य योजना की गयी है। उसमें सुनियोजित रूप से एक अव्यवस्था की व्यवस्था की गई है।

नाटककार पूरे होशोहवाश में नाटक की इस तरह रचना करता है कि समूचा नाटक एक प्रकार की अराजकता, अव्यवस्था और लक्ष्यहीनता की तरफ संकेत करे। इस तरह के नाटक मनुष्य के अकेलेपन, उसकी आध्यात्मिक रिक्तता और जीवन के संगमरमर पर जमे हुए खून के धब्बों की तरफ इशारा करते हैं। लेकिन नितांत नकारात्मक दृष्टि के कारण ये अपना गहरा प्रभाव नहीं छोड़ पाते।

एब्सर्ड नाटकों का विकास मुकम्मल तरीके से 1960 के बाद के कई नाटकों में दिखाई पड़ता है। विपिन कुमार अग्रवाल का नाटक 'तीन अपाहिज', शम्भू नाथ सिंह का 'दीवार की वापसी', लक्ष्मीकांत वर्मा का 'अपना अपना जूता' और रमेश बक्शी का नाटक है 'देवयानी का कहना है', प्रमुख एब्सर्ड नाटक हैं। 'देवयानी का कहना है' नाटक अपनी एब्सर्डीटी में भी आधुनिक स्त्री के बोल्ड होने का एक सर्वाधिक चर्चित नाटक माना गया है। उसमें देवयानी के कई पुरुषों के साथ संबंध हैं। ये संबंध ऐसे नहीं जो आधे अधूरे हों। आधे अधूरे में तो एक सजग दृष्टि मोहन राकेश की है, स्त्री और पुरुष के जीवन के अर्थ केन्द्र की तलाश की गई है। लेकिन इसमें वह एक सिद्धांत देती है कि स्त्री को एक ही पुरुष के प्रति समर्पित रखने वाली दृष्टि स्त्री की स्वतंत्रता और स्त्री की तृप्ति के खिलाफ है।

एक तरह से इस नाटक की पहचान एक ऐसे सामाजिक प्रस्तावना के रूप में है जहां संबंध का अर्थ और संबंध का आधार मात्र जैविक आवश्यकताएं हैं। इसलिए पूरी परम्परा, संस्कृति, आस्था, नैतिकता, धर्म संबंधों को परिभाषित करने वाले जितने भी प्रत्यय हैं, विश्वास हैं उन सबको नकार दिया गया है। यह देवयानी के माध्यम से अस्वीकृति की चेतना का नाटक है। इस तरह से एब्सर्ड नाटक दो स्थितियों की तरफ संकेत करते हैं। एक तो इनका परिदृश्य, इनके रचे जाने का परिप्रेक्ष्य, वह ऐतिहासिक वातावरण है जिसमें मोहभंग एक जलवायु की तरह भारतीय समाज और मनुष्य की चेतना पर परिव्याप्त है और दूसरी तरफ ये नाटक नाटककारों की वैयक्तिक कामकुण्ठा को भी अभिव्यक्ति देते हैं। दरअसल **यौन कुण्ठा और मोह भंग के समन्वित प्रभाव** से इन नाटकों की अन्तर्वस्तु का निर्माण किया गया है। इसलिए एब्सर्ड नाटकों में दो ही चीजें प्रमुखता से दिखाई पड़ती हैं, एक व्यापक स्तर पर मोह भंग, जो कुछ भी है उससे सम्पूर्ण इन्कार और इस इन्कार की अभिव्यक्ति मूलतः यौन प्रसंगों, आकांक्षाओं, कुण्ठाओं और यौन दृष्टि में दिखाई देती है। इसलिए यौन कुण्ठा और मोह भंग ये एब्सर्ड नाटकों की धुरी के रूप में पहचाने जा सकते हैं।

एब्सर्ड नाटकों का यह दौर बहुत दिनों तक नहीं चला। 70 तक जाते जाते खत्म हो गया। इस एब्सर्ड नाटक के दौर में कुछ दूसरे तरह के नाटककार भी आए। दो नाटककार जिनका नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है, **लक्ष्मीनारायण लाल** और **सुरेन्द्र वर्मा** हैं। ये बहुत महत्वपूर्ण रचनाकार हैं मोहन राकेश के बाद। मोहन राकेश के नाटकों की अन्तर्वस्तु और भाषा के विकास में इन दो नाटककारों की भूमिका ऐतिहासिक कही जा सकती है।

लक्ष्मीनारायण लाल का रचनाकाल 60 से पहले शुरू हो गया था लेकिन उनकी स्पष्ट पहचान 60 के बाद बनती है। लगभग एक दर्जन नाटकों की रचना उन्होंने की है। 'अंधा कुंआ', 'मादा केक्टस', 'तीन आंखों वाली मछली', 'सूखा सरोवर', 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'कर्फ्यू' इनके प्रमुख नाटक हैं। इन सभी नाटकों के शीर्षक में एक खास तरह की प्रतीकात्मकता की योजना की गई है। दरअसल लक्ष्मीनारायण लाल के सभी नाटक एक मनोवैज्ञानिक प्रतीक को केन्द्र में रखकर रचे गये हैं। 'कर्फ्यू' की रचना अकहानी, अकविता और एब्सर्ड नाटकों की प्रतिक्रिया में जैसे एक नाटक की रचना की गई है। जो 'कर्फ्यू' है यानी कि वह दौर भी है जब महिलाएं अपनी यौन चेतना या अपने सैक्स संबंधी विचारों की बेलगाम अभिव्यक्त करती हुई दिखाई दे रही हैं। 'कर्फ्यू' उस तरह की स्थितियों और उस

तरह की लेखिकाओं पर लगाम लगाने की एक कोशिश है। यानी अभिव्यक्ति के स्तर पर जो खास तरह की मर्यादाहीनता और खुलापन है, उस मर्यादाहीनता को रेखांकित और नियंत्रित करने के प्रतीक के रूप में कर्फ्यू का इस्तेमाल किया गया है। 'मादा केक्टस' भी एक तरह का प्रतीक शीर्षक है क्योंकि इसमें दिखाया गया है कि स्त्री का सम्पर्क रचनाकार की सृजनात्मकता को किस तरह खत्म करता है या जीवित रखता है – यह मूल समस्या है जो मादा केक्टस में उठायी गयी है।

सुरेन्द्र वर्मा दूसरी तरह के नाटककार हैं। तीन–चार नाटकों के माध्यम से ही उन्होंने हिन्दी नाटक के विकास में अपनी एक स्वतंत्र पहचान कायम की है। 'द्रोपदी', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' 79 में प्रकाशित हुआ। 'आठवां सर्ग' 76 में प्रकाशित हुआ।

'आठवां सर्ग' में कालिदास के नाटक के अंश को लिया गया है। ये तीन नाटक किसी न किसी बिन्दु पर यौन प्रसंगों से संदर्भित नाटक हैं। 'द्रौपदी' पांच पतियों के बावजूद पुरुष व्यक्तित्व की रिक्तता का शिकार होती है। एक तरह से स्त्री और पुरुष के संबंधों में खालीपन या भराव की अनुपस्थिति से उत्पन्न मानसिकता को द्रौपदी में चित्रित किया गया है। यानी पांच पतियों के बावजूद संबंधों की उपलब्धता के संदर्भ में स्त्री के खाली रह जाने की त्रासदी को, उसके खाली रह जाने की विडम्बना को यह नाटक उठाता है। स्त्री संबंधों के किस बिन्दु पर तृप्त होती है, 'द्रौपदी' की यह रचनात्मक समस्या है। 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' एक नपुंसक पति और पत्नी की नियति का प्रसंग है। कई कहानियों में और पौराणिक कथाओं में हम अब तक पाते आए हैं कि पति अगर किसी भी स्तर पर सन्तानोत्पत्ति में अक्षम है तो व्यवस्था की गई है कि परपुरुष की व्यवस्था की जा सकती है। इस नाटक में भी मूलतः इसी विषय को उठाया गया है। जिस आदमी को बुलाया गया है वह व्यक्ति रानी के बचपन या बीते दिनों का सबसे बड़ा गहरा प्रेमी है। और वह एक रात में संबंधों को जिस गहराई और तन्मयता के साथ जीती है वह उसके पूरे जीवन को सार्थक कर देने के लिए पर्याप्त है। सुरेन्द्र वर्मा ने इस नाटक में इस मिथक को भी तोड़ा है कि यौन सुख की सार्थकता मातृत्व में है। देह के सुख का अपना एक अलग संसार है और स्त्री को इस संसार के निर्माण या इस संसार को उपलब्ध करने का अधिकार है। दरअसल विशुद्ध देह और मन के स्तर पर यौन तृप्ति की अनुभूतियों का रेखांकन इस नाटक की मूल विषय वस्तु है।

यह बहुत सूक्ष्म है लेकिन बहुत प्रबल स्तर पर इसकी स्थापना की गई है। सुरेन्द्र वर्मा भाषा के अद्भुत कलाकार रचनाकार हैं। भाषा की ऐसी सामर्थ्य बहुत कम लोगों में दिखाई देती है।

एक तीसरी धारा भी 70 के आसपास दिखाई देती है जिसे **जनवादी नाटक या प्रगतिशील नाटक** के रूप में पहचाना गया है। एक तरह से एक विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति में भारतीय समाज की दिशाहीनता, अनास्था को समाप्त करके जनता को और पाठक को एक संघर्ष के लिए तैयार करना इन नाटकों का लक्ष्य दिखाई देता है। एब्सर्ड नाटक यदि परिस्थितियों के प्रति नकारात्मक प्रतिक्रिया के रूप में लिखे गये तो प्रगतिशील नाटकों में एक सकारात्मक प्रतिक्रिया दिखाई देती है। वे ऐतिहासिक यथार्थ से मुठभेड़ करते हैं और इतिहास को एक नई दिशा और गति देने का प्रयास करते हैं। एक गहरी वैचारिक सोद्देश्यता इन नाटकों की प्राण धारा कही जा सकती है। इस दृष्टि से सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का नाटक 'बकरी' 74 में लिखा गया था। यह बहुत महत्वपूर्ण नाटक है। बकरी इसमें गांधीवाद के आदर्श का प्रतीक है, जिसकी हत्या गांधी के अनुयायी करते हैं। यह बकरी दूसरे स्तर पर आम आदमी के यथार्थ का भी प्रतिनिधित्व करती है। आलोचकों का कहना है कि बकरी हमारी स्वाधीनता के तलछट का चित्र है, जो समय बीतने के साथ साथ गहराती जा रही है। एक तरह से यह भी संकेत है कि किस तरह से सत्ता ने जनता को बकरी के रूप में तबदील कर दिया है। एक हरा भरा चरागाह है बकरी की आंखों के सामने। हवा में नाचती और डोलती हुई दूब उसकी आंखों के सामने है लेकिन उसकी पहुंच से बाहर है और उसके उपर उसके वध के लिए भ्रष्टाचार, लक्ष्यहीनता, बेईमानी, देशद्रोह की तलवार है। इसलिए हत्या और सपनों के बीच में छटपटाती हुई बकरी दिखाई देती है। हत्या होनी है, लेकिन आश्वासनों की घास है। इस तरह बहुत सार्थक प्रतीक है जिसका इस्तेमाल सर्वेश्वर करते हैं।

इस दौर के एक दूसरे महत्वपूर्ण रचनाकार हैं **भीष्म साहनी**। भीष्म साहनी प्रगतिशील नाटककार हैं और वे अपेक्षाकृत अप्रत्यक्ष ढंग से अपने समय के यथार्थ पर प्रकाश डालते हैं। 'हानुश', 'कबीरा खड़ा बाजार में' और 'मुआवजे' इनके बहुत चर्चित नाटक हैं। 'मुआवजे' का मंचन पूरे देश में हुआ है। नाटकों की मूल विषय वस्तु **साम्प्रदायिकता और भारत–पाकिस्तान विभाजन** है। मुआवजे में यह दिखाने की कोशिश की गई है कि सत्ता के षड्यंत्र और अमानवीय भूख के कारण यह विभाजन हुआ है। हिन्दू और मुसलमान का भेद सत्ता पैदा करती है। सत्ता लड़ाने के स्तर पर हिन्दू और मुसलमान का भेद पैदा करती है

लेकिन उसकी शोषण की प्रक्रिया एक ही है चाहे वह पाकिस्तान में हो या हिन्दुस्तान में हो। दोनों देशों की सत्ता की प्रकृति का उद्घाटन मुआवजे में किया गया है। इस तरह से सत्ता के चरित्र का उद्घाटन जैसे भीष्म साहनी की एक रचनात्मक प्रतिबद्धता है। 'असगर वजाहत' भी इधर के बहुत महत्वपूर्ण नाटककार हैं।

हिन्दी रंगमंच

भारतीय रचनाशीलता की परम्परा में नाटक एक महत्वपूर्ण एवं प्राचीन विधा है। काव्यशास्त्र के आद्याचार्य भरतमुनि ने अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में नाटक एवं रंगमंच से जुड़े सभी संदर्भों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। भास, कालिदास एवं भवभूति जैसे महान नाटककारों का होना इस बात का ठोस सबूत है कि हमारे यहां नाटक एवं रंगमंच को पूर्ण प्रतिष्ठा मिलती रही है। इसके अतिरिक्त रंगमंच की अनेक लोक शैलियों की समृद्ध परम्परा भी इस देश में रही है – जैसे स्वांग, रामलीला, रासलीला आदि। नाटक एवं रंगमंच को परस्परता में ही देखने की परम्परा रही है। इसलिए हिन्दी रंगमंच पर बात करते हुए उसके नाट्यलेखन की चर्चा उपेक्षित नहीं की जा सकती।

हिन्दी–रंगमंच की शुरूआत 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानी गई है। हिन्दी रंगमंच के सूत्रपात एवं उसे विकसित करने का श्रेय पारसी थियेटर को दिया गया है। 1877 में खुर्शीद जी बालीवाला ने 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' तथा कावस जी खटाऊ ने एल्फ्रेड कम्पनी की स्थापना की। 1890 में मुहम्मद अली जगबुदा तथा सोहराब जी ने 'न्यू एल्फ्रेड कम्पनी' खोली। वस्तुतः क्रमबद्ध रूप से पारसी हिन्दी रंगमंच का काल 1874 से 1940 के बीच माना गया है। **पारसी थियेटर** के प्रमुख नाटककारों में नारायण प्रसाद बेताब, पंडित राधेश्याम कथावाचक, आगा हश्र कश्मीरी के नाम उल्लेखनीय हैं। इन नाटककारों ने जिन नाटकों की रचना की उनमें 'लैला मजनूं', 'शीरी–फरहाद', 'रूस्तम ओ सोहराब', 'यहूदी की लड़की', 'आँख का नशा', 'वीर अभिमन्यु', 'महाभारत' आदि बहुत चर्चित रहे। इन नाटकों के कथानक पौराणिक, ऐतिहासिक, दंतकथाओं एवं आख्यानों पर आधारित होते थे। इनकी प्रवृत्ति रोमानी, शौर्यपरक, उपदेश–शिक्षा आदि से परिपूर्ण एवं पुनरुत्थानवादी होती थी। **अतिनाटकीय प्रसंगों की भरमार, दैव–संयोग एवं काव्यात्मक संवाद–योजना** पारसी रंगमंच की

विशेषताएं थीं। भावुकतापूर्ण सपाट कथानक को सजाने के लिए नाटक के बीच–बीच में चटपटे गीतों, फड़कते हुए संवादों एवं विदूषकीय प्रसंगों की योजना की जाती थी। पारसी रंगमंच में भारतीय रंग–परम्परा एवं पश्चिम की शेक्सपियर एवं विक्टोरिया युगीन नाटककारों का प्रभाव था। इनकी संवाद–योजना उर्दू बहुल भाषा में होती थी और कथ्य भी अनुप्रास युक्त होता था। इन नाटकों ने हिन्दी–प्रदेश में अपार लोकप्रियता हासिल की, लेकिन तत्कालीन रचनाकारों एवं साहित्य–चिंतकों ने पारसी थियेटर को विकृति एवं अश्लीलता का स्रोत मानते हुए इसे स्वीकृति नहीं दी और उसके विकल्पों की खोज शुरू की। इस खोज की पहली बेचैनी भारतेन्दु में दिखाई पड़ती है।

पारसी रंगमंच का लक्ष्य मनोरंजन करना था क्योंकि वह एक व्यावसायिक रंगमंच था। भारतेन्दु ने नाट्य–लेखन तथा मंचन की नवीन परम्परा का सूत्रपात करते हुए हिन्दी–रंगमंच के क्षेत्र में एक सार्थक नाट्यान्दोलन को जन्म दिया। भारतेन्दु साहित्य की मूल प्रेरक शक्ति तत्कालीन देश एवं समाज है। 'नील देवी', 'भारत–दुर्दशा', 'अंधेर नगरी', 'विषयस्य विषमौषधम्' में भारतेन्दु की चिंताएं देखी जा सकती हैं। वे नाटक एवं रंगमंच की महत्ता से अवगत थे। इसलिए नाटक एवं रंगमंच में उन्होंने युग धर्म की शिक्षा का माध्यम बनाया। अपने 'नाटक' शीर्षक निबंध में भारतेन्दु ने 'पारसी रंगमंच' की अश्लीलता पर प्रहार करते हुए हिन्दी की अपनी रंग–परम्परा को खोजने एवं विकसित करने पर बल दिया। भारतेन्दु ने अपने समय में प्रचलित सभी रंगमंचीय प्रवृतियों का सामंजस्य करते हुए हिन्दी रंगमंच का अपना ढांचा बनाने की कोशिश की। प्राचीन नाट्य–परम्परा को उन्होंने उतने ही अंशों में ग्रहण किया जितने अंशों में वह नवीन भावबोध को व्यक्त करने में सक्षम थी। उन्होंने संस्कृत, बंगला एवं अंग्रेजी रंगमंच के साथ लोकधर्मी नाट्य–परम्पराओं से भी प्रभाव ग्रहण किया। भारतेन्दु–युगीन नाटककार नाटक की सफलता रंगमंच पर मानते हैं। इसलिए इस युग के नाटककार नाटक के रंगमंचीय आयामों के प्रति बहुत सजग दिखते हैं। अंक–दृश्य योजना, रंग–संकेत, यवनिका एवं नेपथ्य के संगठन में व्यवस्था लाई गई। नाट्यशास्त्र में वर्णित दृश्य–वर्जनाओं की अवहेलना भी इस युग में की गई। स्नान तथा मैथुन को छोड़कर सभी दृश्य रंगमंच पर प्रस्तुत किये जाते थे। संगीत यंत्रों का भरपूर उपयोग किया जाता था।

भारतेन्दु एवं उनके सहयोगियों ने अपने नाटकों के माध्यम से पारसी रंगमंच का एक सूक्ष्म विकल्प खोजने की पहल की, लेकिन इस पहल का समुचित विकास नहीं हो सका।

हिन्दी नाटक के इतिहास में भारतेन्दु के बाद एक ठहराव आया। इस ठहराव को तोड़ने का काम **जयशंकर प्रसाद** ने किया। प्रसाद के समय पारसी रंगमंच अपने चरम उत्कर्ष में था। रंगमंच एवं पारसी थियेटर एक दूसरे के पर्याय हो गए थे, इसलिए संभवतः प्रसाद में नाटक की रंगमंचीयता के प्रति एक सजग उदासीनता दिखाई पड़ती है। सस्ते और फूहड़ नाटकों की प्रतिक्रिया में प्रसाद ने गंभीर, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक नाटकों का प्रणयन किया। आलोचकों की मान्यता है कि पारसी थियेटर के प्रति इस तीखी प्रतिक्रिया के कारण प्रसाद ने **रंगमंच की तुलना में नाटक को अधिक महत्व** दिया और इस प्रकार नाटक और रंगमंच की परस्परता को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा कि रंगमंच की चिंता नाटककार का काम नहीं है, उसकी चिंता निर्देशक करेगा। लेकिन अपने नाटकों से बहुत अलग कर लेने के बावजूद प्रसाद दृश्य–योजनाओं, काव्यात्मकता एवं आकस्मितता के बिन्दु पर पारसी–थियेटर के प्रभाव से नहीं बच सके। सैद्धांतिक रूप से उनकी रंग–चेतना में पारसी रंगमंच का विरोध है, लेकिन **नाट्य–रचना के स्तर पर उन्होंने पारसी रंगमंच के साथ पश्चिमी रंगमंच के संघर्ष तत्व को भी ग्रहण किया।** प्रसाद के 'चंद्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' एवं 'ध्रुव स्वामिनी' नाटकों में उनकी राष्ट्रीय चेतना एवं गंभीर साहित्यिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। लेकिन रंगमंच के प्रति उदासीनता के कारण इन कारकों का मंचन कठिन रहा है। 'ध्रुवस्वामिनी' निस्सन्देह अपवाद है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रसाद ने पारसी रंगमंच का कोई विकल्प नहीं खोजा, इसलिए साहित्यिकता एवं सांस्कृतिक गहनता के बावजूद ढांचा पारसी थियेटर का ही रहा। काव्यत्व, अतीत को अपने वर्तमान जीवन के साथ सर्जनात्मक स्तर पर जोड़ने की क्षमता, अविस्मरणीय एवं मानवीय चरित्रों की सृष्टि प्रसाद के नाट्य लेखन की महत्तम उपलब्धियां हैं।

प्रसादोत्तर नाटककारों में लक्ष्मीणनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास एवं हरिकृष्ण प्रेमी के नाम महत्वपूर्ण हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने प्रसाद की काव्यात्मकता के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए, इब्सन की रंगचेतना एवं यथार्थचेतना को स्वीकार किया। संवाद में काव्यात्मकता के स्थान पर बौद्धिकता को अधिक महत्व दिया गया। अपने रंगमंचीय विधान में ये संस्कृत की ओर मुड़े साथ ही पाश्चात्य रंग पद्धतियों का भी प्रयोग किया। लेकिन नाटकों की अंतर्वस्तु–योजना की मूल प्रकृति वैचारिक होने के कारण इनका पठ्य रूप ही अधिक महत्वपूर्ण बना रहा और हिन्दी रंगमंच के विकास में कोई विशेष सहायता नहीं मिल पाई।

वस्तुतः भारतेन्दु के बाद हिन्दी रंगमंच की सार्थक तलाश 1940 के बाद शुरू हुई। सन् 1942 में **'इंडियन पिपुल थियेटर'** की स्थापना हुई और 1944 में पृथ्वीराज कपूर ने **'पृथ्वी थियेटर'** की शुरूआत की। इप्टा पूर्णतः अव्यावसायिक रंगमंच था, जबकि पृथ्वी थियेटर अर्द्धव्यावसायिक। इन दोनों नाट्य धाराओं ने पारसी रंगमंच का सार्थक विकल्प बनाने का प्रयास किया और हिन्दी रंगमंच को एक विशेष पहचान दी। किसान और श्रमिकों को लक्ष्य करके भारतीय साम्यवादियों ने अपने नये जीवन दर्शन का प्रसार करने के लिए इंडियन पिपुल थियेटर की स्थापना की। मूलतः इन नाटकों का लक्ष्य **साम्राज्यवादी एवं पूंजीवादी नीतियों का विरोध तथा देश में व्याप्त सम्प्रदायवाद एवं जाति, वर्ग–भेद का उन्मूलन** करना था। इस नाट्यधारा ने अपने लिए एक अलग किस्म के रंगमंच का निर्माण किया। ये नाटक **जनता के बीच जाकर खेले जाते थे।** कोई भी सार्वजनिक स्थान इनका रंगमंच होता था, इसलिए इन्हें **नुक्कड़ नाटक** भी कहा गया। जनता को आकृष्ट करने के लिए इन नाटकों में **लोक मुहावरों, लोक गीतों एवं लोक नृत्यों** का प्रभावकारी इस्तेमाल किया गया। भीष्म साहनी, हबीब तनवीर, सर्वेश्वर आदि लेखकों ने जन–नाट्य परम्परा को विकसित करने के लिए महत्वपूर्ण नाटकों की सृष्टि की। हबीब तनवीर का 'आगरा बाजार' विशेष लोकप्रिय हुआ जबकि सर्वेश्वर का 'बकरी' भी काफी चर्चित रहा। इस नाट्यधारा का सबसे बड़ा योगदान यह है कि इसने नाटक को जीवन की बुनियादी समस्याओं से जोड़ा और रंगमंच की एक सहज, मुक्त एवं प्रभावशाली जनपरम्परा का सूत्रपात किया। नाटक को जनता के बीच तक ले जाने का ऐतिहासिक श्रेय इप्टा को निस्संदेह दिया जा सकता है।

पृथ्वी थियेटर पूर्णतः व्यावसायिक रंगमंच था। पारसी थियेटर से अलग हट कर इसने रंग कला, सामाजिक आदर्श एवं श्रेष्ठ अभिनय के द्वारा हिन्दी रंगमंच की संभावनाओं का नया द्वार खोला। 'पठान', 'दीवार', 'आहूति', 'कलाकार' आदि नाटकों से पृथ्वी थियेटर ने उस शून्य को भरना चाहा और अपार लोकप्रियता हासिल की। लेकिन पृथ्वीराज कपूर के निधन और इसके महत्वपूर्ण कलाकारों के सिनेमा में चले जाने से इसकी शक्ति समाप्त प्राय हो गई। लेकिन इस बात में कोई संदेह नहीं कि इन दो नाट्य संस्थाओं की स्थापना में काफी समय से अवरुद्ध रंगकर्म को अभिव्यक्ति का द्वार मिला।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (राज०) उत्कर्ष IAS Ph: 27659400 IAS/PCS 9866448606

स्वतंत्रता के बाद भारतीय मानस में एक बुनियादी परिवर्तन आया। एक नयी सांस्कृतिक चेतना का विकास होने लगा जिसका प्रभाव हिन्दी रंगमंच पर पड़ा। केन्द्र तथा राज्य सरकारों की ओर से नाट्य महोत्सव होने लगे। हिन्दी क्षेत्र के बड़े नगरों में – दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, बनारस, पटना, जबलपुर आदि में बीसियों नाट्य संस्थाएं बनीं। अनेक रंग परम्पराओं वाले इस देश में हिन्दी रंगमंच को एक अखिल भारतीय स्वरूप देने की दृष्टि से दिल्ली में **'संगीत नाटक अकादमी' और 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा'** की स्थापना की गई। इन दोनों संस्थाओं ने हिन्दी रंगमंच को एक नयी मर्यादा और स्वर देने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गत तीन दशकों में इस स्कूल ने हिन्दी रंगमंच को अनेक महत्वपूर्ण निर्देशक एवं अभिनेता दिए हैं। 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' के पहले निदेशक इब्राहिम अलकाजी के प्रशिक्षण में निकले हुए रंगकर्मियों ने हिन्दी रंगमंच को समृद्ध करने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। अलकाजी के निर्देशन और परिकल्पना में स्कूल द्वारा प्रस्तुत अंधा युग, आषाढ़ का एक दिन, सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' आदि हिन्दी के नये नाटकों के द्वारा यह पहली बार अनुभूत हुआ कि हिन्दी रंगमंच की अपनी शक्ति और सीमा क्या है। कन्नड़ से अनूदित 'तुगलक' और अंग्रेजी के कई हिन्दी अनुवादों के नाट्य प्रदर्शनों एवं उनकी कलात्मक उपलब्धियों ने हिन्दी रंगमंच को ठोस आधर दिए। दिल्ली केन्द्र के अतिरिक्त हिन्दी रंगमंच का क्षेत्र कलकत्ता से लेकर बंबई तक विकसित होना शुरू हुआ। इलाहाबाद में लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा संस्थापित और निर्देशित 'नाट्य केन्द्र स्कूल ऑफ ड्रेमेटिक आर्टस' ने भी हिन्दी रंगमंच की नयी संभावनाओं की तलाश में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वतंत्रता के बाद जिन महत्वपूर्ण नाट्य संस्थाओं ने हिन्दी रंगमंच के विकास में योगदान दिया उनमें अनामिका (कलकत्ता), थियेटर यूनिट (बंबई), प्रयाग मंच (इलाहाबाद), नया थियेटर (हबीब तनवीर), 'दिशान्तर' एवं अभियान के नाम उल्लेखनयी हैं। श्यामानन्द जालान, सत्यदेव दुबे, हबीब तनवीर, ओम शिवपुरी एवं राजेन्द्र नाथ – इन नाट्य संस्थाओं से जुड़े रहे और इन लोगों ने अपने अभिनय और निर्देशन के द्वारा हिन्दी रंगमंच की संभावनाओं का भरपूर विकास किया।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि हिन्दी रंगमंच ने अपने विकास की प्रक्रिया में एक अखिल भारतीय स्वरूप ग्रहण कर लिया है। लेकिन अभी भी बंगला और मराठी की तरह हिन्दी रंगमंच को अपना चेहरा नहीं मिल पाया है। सिनेमा के बढ़ते प्रकोप एवं तेजी से उमड़ते हुए दूरदर्शनी प्रभाव ने नाटक के प्रति लोगों के रूझान को काफी कम किया है। नाटक के

श्रीराम सेंटर के मौन प्रेक्षागृह में सिमट जाने के कारण रंगमंच की समस्या का चरित्र भी बहुत सीमित हो गया है। हिन्दी रंगमंच को प्राणवान बनाने के लिए उसे लोक–परम्परा से जोड़ना होगा और एक ऐसी परिष्कृत रूचि–निर्माण का वातावरण बनाना होगा कि लोग फूहड़ और अश्लील फिल्मों के कीचड़ से बाहर निकल कर नाटक तक पहुंच सकें। आज के इस उपभोक्तावादी भ्रष्ट मनोरंजन संस्कृति के दौर में हिन्दी नाटक एवं रंगमंच का विकास हमारी सांस्कृतिक अस्मिता की जरूरत भी है और नाट्यकर्मियों को इस जरूरत के प्रति संवेदनशील होना चाहिए।

हिन्दी आलोचना का विकास

हिन्दी गद्य के विकास के आलोचना एक स्वतंत्र साहित्यिक–विधा के रूप में विकसित हुई। काव्यशास्त्र के रूप में इसकी एक सुदीर्घ परम्परा थी, पर रचना को जीवन से जोड़ने वाली प्रक्रिया के रूप में आलोचना का विकास आधुनिक काल में ही संभव हुआ। कुछ विद्वानों का मानना है कि हिन्दी आलोचना का उदय भारतेन्दु के निबंध 'नाटक' 1883 ई0 में हुआ जिसमें नाटक का शास्त्रीय विवेचन और संक्षिप्त इतिहास दिया गया है।

हिन्दी आलोचना के विकास को तीन भागों में बांटकर समझा जा सकता है – शुक्लपूर्व युग, शुक्ल–युग तथा शुक्लोत्तर युग।

शुक्ल–पूर्व आलोचना का काल 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 20वीं शताब्दी के आरंभिक दो दशकों तक फैला है। इस काल में सैद्धांतिक ग्रंथों एवं निबंधों का निरूपण, पत्र–पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षाएं और तुलनात्मक आलोचना देखने को मिलती है। बालकृष्ण भट्ट की 'सच्ची समालोचना', मिश्रबन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न', आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपादन में निकलने वाली 'सरस्वती' पत्रिका आदि उल्लेखनीय हैं।

शुक्ल–पूर्व हिन्दी आलोचना में मुख्यतः दो प्रकार की दृष्टियां प्रचलित थीं। पहली – रीतिबद्ध आलोचना दृष्टि से जिसके मुख्य सूत्रधार मिश्रबंधु, पद्म सिंह शर्मा आदि थे। दूसरी दृष्टि नैतिक उपयोगितावाद की थी जिसने काव्य–रचना और आलोचना दोनों के लिए

रीतिबद्ध दृष्टिकोण को व्यर्थ सिद्ध किया। नैतिक उपयोगितावाद की बागडोर पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संभाली।

इस प्रकार शुक्ल–पूर्व आलोचना में कृति के **गुण–दोष–निरूपण, तुलना, शैली–विवेचन** आदि के अतिरिक्त **साहित्य की उपयोगिता** की परख की ओर तो ध्यान दिया जाने लगा था, किन्तु कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्तः प्रवृत्तियों की छानबीन आरंभ नहीं हुई थी।

1920 ई0 के आसपास छायावाद के रूप में नयी काव्य–संवेदना और शिल्प का उन्मेष, 'सरस्वती' के संपादन से महावीर प्रसाद द्विवेदी का अवकाश, प्रेमचंद के उपन्यासों के माध्यम से जीवन और साहित्य के सर्वथा नये रिश्ते का सूत्रपात, भारतीय विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा के लिए हिन्दी विभागों की स्थापना आदि परिस्थितियों में 'शुक्ल युग' के रूप में हिन्दी आलोचना में नया मोड़ उपस्थित हुआ। हिन्दी आलोचना में **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने कई बुनियादी परिवर्तन किए –

1. **रस की लोकवादी अवधारणा का सूत्रपात** : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रस की नयी व्याख्या करते हुए उसका अर्थ किया **अनुभूति** और अनुभूति का अर्थ किया **लोकानुभूति**। इसी आधार पर अत्यंत रसमयता के बावजूद उन्होंने सूर को दूसरे स्थान पर रखा और तुलसी को पहले।

2. **काव्य–प्रयोजन के रूप में लोकमंगल की स्थापना** : लोकमंगल की अवधारणा मूलतः मानवीय दृष्टि से प्रेरित है। शुक्ल जी ने लोकमंगल के आधार पर ही कवि और कविता की श्रेष्ठता का निर्धारण किया।

3. **साधनावस्था की प्राथमिकता** : कर्म–सौन्दर्य पर बल – आचार्य शुक्ल ने सिद्धावस्था की तुलना में साधनावस्था को अधिक महत्व दिया। साधनावस्था के अन्तर्गत उन्होंने **'विरुद्धों के सामंजस्य'** में ही लोकधर्म का सौन्दर्य देखा। इस प्रकार सौंदर्य की परिधि के रूप में साथ कर्म, शील और शक्ति के सौंदर्य का समाहार हुआ।

4. **रहस्यवाद, चमत्कार और वैयक्तिकता पर प्रहार** : इन तीनों को जीवन विरोधी मानते हुए शुक्ल जी ने इन पर प्रहार किया।

5. **शिल्प** : आचार्य शुक्ल ने मुक्तक की तुलना में **प्रबन्ध काव्य को वरीयता** प्रदान की। उन्होंने कविता में **बिम्बात्मकता पर बहुत बल** दिया।

इन्हीं आधारों पर शुक्ल जी ने आलोचना के केन्द्र में मध्यकाल की प्रतिष्ठा की। कबीर और छायावादी कविता को उन्होंने रहस्यवादी माना। शुक्ल जी ने अपनी व्यापक और सजग आलोचना–दृष्टि के कारण आलोचना को गंभीर और सूक्ष्म–दृष्टि से संपन्न बनाया।

शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना

शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना की दो मुख्य समस्याएं थीं – शुक्ल जी की साहित्यिक मान्यताएं तथा छायावाद का पुनर्मूल्यांकन। आचार्य शुक्ल जी की छायावाद–सम्बन्धी अवधारणा का विरोध छायवादी कवियों के अतिरिक्त कुछ सहृदय आलोचकों द्वारा भी शुरू हुआ, जिसके आरंभिक संकेत पंडित शांतिप्रिय द्विवेदी के लेखों में लक्षित होते हैं। पं0 शांतिप्रिय द्विवेदी पहले आलोचक थे जिन्होंने युग की राजनीतिक चेतना और छायावाद की काव्य–चेतना में एक संगति और संबंध देखा। आचार्य शुक्ल की साहित्यिक मान्यताओं और छायावाद के पुनर्मूल्यांकन के प्रश्नों से जूझने वालों में डा0 देवराज का नाम भी उल्लेखनीय है। 'छायावाद का पतन' उनकी चर्चित पुस्तक है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि.) उत्कर्ष IAS Ph.27659400·IAS/PCS·9868448606

शुक्लोत्तर हिन्दी –आलोचना के विकास को तीन संज्ञाओं के अन्तर्गत समझा जा सकता है –

1. स्वच्छंदतावादी आलोचना
2. प्रगतिवादी आलोचना
3. नयी समीक्षा

स्वच्छंदतावादी आलोचना

पं0 नन्ददुलारे वाजपेयी, पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी और डा0 नगेन्द्र ने शुक्लोत्तर आलोचना की वृहतत्रयी का निर्माण किया जिसे स्वच्छंदतावादी धारा के नाम से भी जाना गया। वस्तुतः यह स्वच्छंदतावादी धारा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की स्थापनाओं की असहमति के रूप में विकसित हुई।

पं0 नन्ददुलारे वाजपेयी की आलोचकीय चेतना मूलतः छायावादी थी। वाजपेयी ने छायावाद को लेकर आचार्य शुक्ल को सैद्धांतिक स्तर पर कड़ी चुनौती दी। उन्होंने छायावाद को राष्ट्रीय स्वतंत्रता–आंदोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया। वाजपेयीजी का आलोचना कर्म अपनी ऊपरी रूपरेखा में आचार्य शुक्ल से मिलता जुलाता है। पं0 नन्ददुलारे वाजपेयी की मुख्य पुस्तकें निम्नांकित हैं :

1. आधुनिक साहित्य
2. नया साहित्य : नये प्रश्न
3. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी

पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का आचार्य शुक्ल से मतभेद साहित्य के प्रति सम्पूर्ण दृष्टिकोण को लेकर था। आचार्य द्विवेदी ने परम्परा और संस्कृति के आलोक में साहित्य की प्रत्येक प्रवृति को व्याख्यायित किया और आचार्य शुक्ल से निम्नांकित बिन्दुओं पर असहमति व्यक्ति की –

1. संत भक्तिकवि रहस्यवादी नहीं थे।
2. हिन्दी साहित्य को संस्कृत–पाली, प्राकृत–अपभ्रंश के साहित्यिकों को परम्परा की समवेतता में देखना चाहिए।
3. जैन और सिद्ध साहित्य को साम्प्रदायिक न मानकर उसे हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।
4. भक्ति–आंदोलन इस्लाम की प्रतिक्रिया नहीं बल्कि एक विशाल सांस्कृतिक नवजागरण का परिणाम था।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की निम्नांकित रचनाएं उल्लेखनीय हैं :

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका
2. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास
3. आदिकाल

डा0 नगेन्द्र अपने दृष्टिकोण में व्यक्तिवादी हैं। अतः सामाजिक ऐतिहासिक संदर्भ और युगबोध उनकी रचनाओं में अप्रासंगिक होते हैं। वे कवि की सौंदर्यानुभूति के स्वरूप विश्लेषण

पर दृष्टि टिका कर उसका विश्लेषण करते हैं। आलोचना में डा0 नगेन्द्र ने शास्त्रीय चेतना पैदा की। डा0 नगेन्द्र की मुख्य आलोचना कृतियां हैं :

1. कामायनी के अध्ययन की समस्याएं
2. रीतिकाव्य की भूमिका
3. रस–सिद्धांत

प्रगतिवादी आलोचना

प्राक् आलोचना शास्त्र के नियमों पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है। आधुनिक युग में पहली बार ऐसा माना जाने लगा कि साहित्य शास्त्र के साथ जीवन के प्रति भी जवाबदेह है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना में शास्त्र और जीवन, दोनों एक–दूसरे में घुल–मिल गये हैं। स्वच्छंदतावादी आलोचना के केन्द्र में भी शुक्ल जी ही हैं क्योंकि यह उन्हीं से सहमत या असहमत हैं। आलोचना के एक नितांत नयी दृष्टि का विकास प्रगतिवादी समीक्षा में है। यह समीक्षा दृष्टि मार्क्सवाद से प्रभाव ग्रहण कर विकसित हुई। मार्क्सवाद से प्रभावित होकर 1936 में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई जिसकी मान्यता थी कि साहित्य शोषित जनता के लिए लिखा जाना चाहिए तथा इसका लक्ष्य वर्तमान–व्यवस्था में सम्पूर्ण परिवर्तन होना चाहिए। इसके साथ ही प्रगतिवादी आलोचना की शुरूआत हुई।

मार्क्सवादी आलोचना के मानदण्ड :

1. मार्क्सवादी आलोचना–दृष्टि यह मानती है कि रचनाकार एक निश्चित लक्ष्य युक्त सामाजिक–राजनीतिक कर्म है। भाववादी दृष्टि और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रचना को अनुभूतिजन्य व्यापार मानते हैं।
2. प्रगतिवादी समीक्षा रचना की अनिर्वचनीयता का निषेध करती है। वह मानती है कि रचना–प्रक्रिया, रचना और रचनाकार, इस सबकी व्याख्या वस्तुगत परिवेश के आधार पर की जा सकती है।
3. प्रगतिवादी समीक्षा के अनुसार साहित्य आत्माभिव्यक्ति नहीं, बल्कि वास्तविकता का पुनर्सृजन है। रचना का रूप–विधान रचनाकार के परिवेश से निर्धारित होता है।

4. भाववादियों के अनुसार जो सुन्दर है, वह हमेशा है और सबके लिए है। पर प्रगतिवादी दृष्टि के मत से सौन्दर्य शाश्वत और सार्वभौमिक नहीं होता। सौन्दर्य के प्रतिमान सामाजिक परिस्थितियों से तय होते हैं, अतः बदलते रहते हैं।

5. प्रगतिवादी समीक्षा मानती है कि कला या रचना के विकास में एक ऐतिहासिक निरंतरता होती है। समीक्षा का लक्ष्य इस ऐतिहासिक निरंतरता की कड़ी की व्याख्या करना है।

प्रमुख प्रगतिवादी आलोचक :

हिन्दी प्रगतिवादी आलोचकों में **शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद गुप्त, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, मुक्तिबोध, अमृतराय** इत्यादि हैं।

सबसे पहले शिवदान सिंह चौहान ने 1937 में 'विशाल भारत' में भारत के 'प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' पर एक क्रांतिकारी लेख लिखा। इस निबंध में डा0 सिंह ने समूची साहित्यिक परम्परा की व्याख्या प्रगतिवादी मानदण्डों पर की। सैद्धान्तिक–कट्टरता डा0 सिंह की समीक्षा पद्धति की विशेषता है।

प्रकाशचंद गुप्त ने विध्वंसात्मक आलोचना–शैली से परहेज करतेहुए अपनी बातों एवं मान्यताओं को तर्क की पद्धति से व्यक्त किया। इनकी पुस्तकों में उल्लेखनीय हैं –

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि
2. हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा

मार्क्सवादी आलोचना के सर्वाधिक विवादास्पद और अन्यतम आलोचक डा0 रामविलास शर्मा हैं। डा0 शर्मा को प्रगतिशील आलोचना का भीष्म पितामह भी कहा जाता है। उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टि से समूचे हिन्दी साहित्य की परम्परा की नयी व्याख्या की है। आचार्य शुक्ल की विरासत को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने हिन्दी साहित्य की जनवादी–परम्परा को उजागर किया है। उनकी कुछ पुस्तकें हैं :

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना
2. प्रेमचन्द और उनका युग
3. निराला की साहित्य–साधना

डा0 नामवर सिंह अपने दृष्टिकोण में मार्क्सवादी हैं, पर नयी कविता की समीक्षा उन्होंने नए भावबोध से की है। उन्होंने छायावाद की समृद्ध और पुष्ट व्याख्या की तथा कथा–साहित्य की समीक्षा को गांभीर्य और ऊंचाई दी। डा0 नामवर सिंह की कुछ कृतिया हैं :

1. छायावाद
2. कविता के नये प्रतिमान
3. कहानी नयी कहानी

नयी समीक्षा :

आलोचना में मार्क्सवाद की प्रतिक्रिया में 'नयी समीक्षा' का जन्म हुआ। पश्चिम से होकर यह आलोचना–पद्धति हिन्दी में आयी। नयी समीक्षा आलोचना को नितांत स्वतंत्र कर्म मानती है। अतः वह आलोचना में किसी विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता का निषेध करती है। वह रचना को बाहरी मानदण्डों के आधार पर नहीं, अपितु रचना को रचना के भीतर से विश्लेषित करने की बात कहती है। नयी समीक्षा में समीक्षा के नये मुहावरों का प्रयोग हुआ है। आलोचकों ने रचना को विश्लेषित करने में संतुलन, विडम्बना, टूटन, अकेलापन, तनाव इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज IAS Ph 27659400 · IAS/PCS · 9868448606

हिन्दी आलोचना (विस्तार से)

शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना की तीन धाराएं हैं जिन्हें तीन अलग–अलग नामों से जाना गया है। पहली धारा स्वच्छंदतावादी आलोचना धारा या स्वच्छंदतावादी आलोचना है, दूसरी मार्क्सवादी आलोचना प्रगतिवादी आलोचना है और तीसरी है नयी समीक्षा। स्वच्छंदतावादी आलोचना का सूत्रपात आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा दृष्टि और उनकी स्थापनाओं के विरोध में हुआ। इस आलोचना धारा के तीन अलग–अलग आलोचक हैं जिन्हें आलोचकत्रयी के नाम से भी जाना जाता है। ये हैं – नंददुलारे वाजपेयी, पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी और नगेन्द्र। ये स्वच्छंदतावादी आलोचना के तीन स्तंभ हैं जिनकी आलोचना की दिशाएं अलग–अलग हैं। लेकिन तीनों एक बिन्दु पर मिलते हैं और वह बिन्दु है आचार्य शुक्ल की समीक्षा दृष्टि का विरोध।

नन्ददुलारे वाजपेयी की पहली टकराहट अपने गुरू आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से छायावाद को लेकर हुई। आचार्य शुक्ल ने छायावाद को अनुकरण और काव्य शैली का एक प्रकार माना था। उन्होंने छायावाद को रहस्यवाद का पर्याय मानते हुए उसे मध्य काल या मध्यकालीन रहस्यवाद से भी जोड़ा था। छायावाद को लेकर आचार्य शुक्ल की दो बुनियादी स्थापनाएं थीं – एक विषय वस्तु की दृष्टि से छायावाद रहस्यवाद है और इस रहस्यवाद की प्रकृति मध्यकालीन संतों वाली है। और अभिव्यक्ति के स्तर पर छायावाद शैली वैचित्र्यवाद का पर्याय है और इन दोनों प्रवृतियों को वे मौलिक न मान कर अनुकरण मूलक मानते थे। इसलिए उन्होंने अपने इतिहास में स्पष्ट संकेत दिया कि यूरोप के पुराने ईसाई संतों के यहां एक शब्द था फैन्टसमाटा, इसका अर्थ होता है रहस्यानुभूति, उसी फैन्टसमाटा का प्रचलन बंगाल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता में हुआ और बंगाल से वह फिर हिन्दी प्रदेश में आया। इसलिए रहस्यवाद भी मौलिक नहीं है। इस प्रकार छायावाद को एक तरह से आचार्य शुक्ल ने निरस्त किया। इन्हीं मूल स्थापनाओं का विरोध नन्द दुलारे वाजपेयी की आलोचना दृष्टि में दिखाई देता है।

दो–तीन बातें उन्होंने स्पष्ट की, एक छायावाद रहस्यवाद का पर्याय नहीं है। छायावाद की वास्तविक चिंता और छायावाद की वास्तविक प्रवृति रहस्यात्मक न होकर सांस्कृतिक है। इसलिए नन्द दुलारे वाजपेयी ने आचार्य शुक्ल के रहस्यवाद को अपदस्थ करके छायावाद को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में या सांस्कृतिक चेतना के संवाहक के रूप में स्थापित किया। यह महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थापना थी। दूसरी स्थापना थी कि छायावाद का एक आध्यात्मिक पक्ष है, लेकिन यह आध्यात्मिकता मध्यकाल की आध्यात्मिकता से भिन्न है। इस आध्यात्मिकता को राष्ट्रीय चेतना के वैराग्य और जातीय अस्मिता और संस्कृति के संदर्भ में व्याख्यायित किया जा सकता है। यानी छायावाद में जो आध्यात्मिकता है उसकी प्रकृति धार्मिक न होकर सामाजिक और सांस्कृतिक है।

इसके साथ ही उन्होंने छायावाद पर जो शैली वैचित्र्यवाद का आरोप था उसका भी खण्डन किया। उन्होंने कहा कि भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा का ही सहज विकास छायावाद की अभिव्यक्ति में दिखाई देता है। इस तरह से छायावाद को सांस्कृतिक-सामाजिक संदर्भों को जोड़ कर नन्द दुलारे वाजपेयी ने उसकी उपस्थिति और उसकी प्रतिष्ठा को एक

ठोस आधर प्रदान किया। आचार्य शुक्ल के क्षितिज को बड़ा करने की ऐतिहासिक भूमिका निभाई।

नन्द दुलारे वाजपेयी की आलोचना का क्षेत्र बहुत व्यापक है। यह क्षेत्र भक्ति काल से लेकर नयी कविता तक फैला हुआ है। इनकी आलोचनात्मक कृतियों में 'महाकवि सूरदास', आधुनिक साहित्य तथा हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी महत्वपूर्ण है। अंतिम पुस्तक में उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद की कामायनी, प्रेमचन्द के गोदान इत्यादि की मौलिक व्याख्याएं प्रस्तुत कीं। छायावाद के तीन कवियों पर अलग से उन्होंने स्वतंत्र पुस्तकें लिखीं, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला और सुमित्रानन्दन पंत। इसके अतिरिक्त 'नई कविता : नए संदर्भ' पुस्तक भी उन्होंने लिखी।

पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी और आचार्य शुक्ल की टकराहट साहित्य की समूची अवधारणा के बिन्दु पर थी। आचार्य शुक्ल साहित्य की व्याख्या परिस्थितियों के संदर्भ में करते हैं। प्रत्येक साहित्य या प्रत्येक साहित्यिक आंदोलन सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों से निर्मित होता है और नष्ट भी होता है। इसलिए अपनी पूरी आलोचना दृष्टि और शैली, इतिहास लेखन में उन्होंने परिस्थितियों को निर्णायक महत्व दिया है। जैसे भक्ति आन्दोलन की व्याख्या करते समय उन्होंने परिस्थितियों का हवाला दिया और कहा कि भक्ति आंदोलन इस्लाम के आक्रमण से संबंधित है। उन्होंने लिखा – 'अपनी पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शरण में जाने के सिवाय और रास्ता ही क्या था।' इसके ठीक विपरीत पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी परिस्थिति के स्थान पर परम्परा को महत्व देते हैं। **वे साहित्य की प्रत्येक प्रवृति को या साहित्य के प्रत्येक आन्दोलन को परम्परा से जोड़ कर देखते हैं** और उसकी व्याख्या करते हैं।

आचार्य शुक्ल से द्विवेदी की पहली टकराहट भक्ति आंदोलन की व्याख्या को लेकर दिखाई देती है। एक तरफ शुक्ल जी कहते हैं कि भक्ति आंदोलन इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया है तो दूसरी तरफ हिन्दी साहित्य की भूमिका में हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है "मैं जोर देकर कहना चाहता हूं कि अगर इस्लाम न भी आया होता तो भी भक्ति साहित्य बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की स्थापना के विरोध में उन्होंने कई तर्क दिये। पहला यह दिया कि भक्ति की एक बहुत सुदीर्घ परम्परा भारतीय समाज में मौजूद है। छठी शताब्दी ई0पू0 में लगभग बुद्ध के समय भागवत धर्म के विकास के स्पष्ट चिन्ह दिखाई देते हैं। यह वह समय है जब विष्णु नारायण और वासुदेव एक हो जाते हैं। उससे पहले नारायण, विष्णु और वासुदेव की अलग–अलग सत्ताएं हैं लेकिन छठी शताब्दी ई0पू0 ये तीनों एक हो जाते हैं और इस तरह भागवत धर्म का विकास होता है। इसलिए भागवत धर्म को उन्होंने भक्ति से जोड़ा है और उसके बाद उन्होंने कहा कि यह परम्परा विकसित होती रही लेकिन इसकी प्रगाढ़ता दक्षिण में निर्मित हुई आलवारों में। आलवारों का जो 'दिव्य प्रबंधम' है वह भक्ति काव्य की अद्भुत और अनुपम रचना है।फिर उन्होंने कहा कि दक्षिण से यह परम्परा उत्तर में आई। उन्होंने तर्क दिया कि अगर इस्लाम के आक्रमण से भक्ति आंदोलन को पैदा होना था तो भक्ति की शुरूआत होनी चाहिए उत्तर भारत से, जबकि वह आई दक्षिण भारत से। दक्षिण भारत में इस्लाम बहुत बाद में गया है। इसलिए शुक्ल जी की स्थापनाओं को पं0 द्विवेदी ने निरस्त किया भक्ति आंदोलन की व्याख्या पर।

दूसरी स्थापना जो शुक्ल जी के विरोध में है वह धार्मिक साहित्य को लेकर है। आचार्य शुक्ल ने आदिकाल का नामकरण करते हुए उसके संपूर्ण धार्मिक साहित्य को साहित्य से बाहर निकाल दिया। सिद्ध, नाथ और जैनियों का जो साहित्य है, उसके बारे में शुक्ल जी की दृष्टि थी कि ये साम्प्रदायिक मात्र रचनाएं हैं। इनमें अपने मतों के प्रचार और साम्प्रदायिक कथन दिखाई देते हैं, जीवन और जीवन की वास्तविक अनुभूतियां इन कृतियों में नहीं हैं। जिसमें अनुभूति और रसात्मकता नहीं है वह साहित्य नहीं हो सकता, यह शुक्ल जी की स्पष्ट धारणा है। इसी धारणा से वे अपनी आलोचना पद्धति का निर्माण करते हैं। पं0 द्विवेदी ने कविता और साहित्य की भिन्न व्याख्या की और उनका मत था कि मात्र भावना से साहित्य की भावना तय नहीं की जा सकती। भावना साहित्य का एकमात्र आधार नहीं हो सकती। उन्होंने कहा कि साहित्य की मूल वस्तु है प्रतिरोध और प्रतिपक्ष। जिस रचना से सामाजिक रूढ़ियों को, विषमताओं को और जड़ताओं को तोड़ने में मदद मिलती हो वह सार्थक साहित्य हो सकता है। इसलिए रचना की प्रकृति रसात्मक न होकर प्रतिरोधात्मक होती है। इसलिए जिस 'सरहपा' को आचार्य शुक्ल ने कवि नहीं माना था, पं0 द्विवेदी ने उन्हें हिन्दी का पहला कवि कहा। उन्होंने कहा कि सरहपा पहला कवि है जो वर्ण

व्यवस्था को चुनौती देता है, धार्मिक पाखण्डों का खण्डन करता है और प्रामाणिक मनुष्य होने पर बल देता है। इसलिए जिस कविता की चिंता के केन्द्र में मनुष्य हो, वह रूप के स्तर पर अनगढ़ होते हुए भी, सार्थक कविता हो सकती है।

हिन्दी कविता के इतिहास में कबीर के कद को स्थापित करने में पं0 द्विवेदी जी की भूमिका ऐतिहासिक है। तीसरा बिन्दु जहां असहमति दिखाई देती है वह निर्गुण काव्य धारा को लेकर। आचार्य शुक्ल का बल सगुण साहित्य पर है। उन्होंने तुलसीदास, सूर पर लिखा। जायसी पर इसलिए लिखा क्योंकि जायसी की समूची कविता में इस संसार की सघन और मार्मिक उपस्थिति है। निर्गुण कवियों पर उन्होंने बहुत ध्यान नहीं दिया है। कबीर को कवि मानने से अस्वीकार करते हुए लेकिन उनके महत्व को स्वीकार करते हुए, उन्होंने कहा है कि कबीर कवि नहीं थे लकिन उनमें प्रतिभा बहुत विलक्षण थी, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। उन्होंने कहा कि कबीर मूलतः समाज सुधारक उपदेशक थे। इसके ठीक विपरीत निर्गुण काव्य को स्थापित करने में पं0 द्विवेदी ने अनेक प्रकार के मौलिक तर्कों का निर्माण किया और एक नयी स्थापना की कि कबीर अपनी प्रतिज्ञा से कवि नहीं हैं। कविता करना उनका लक्ष्य नहीं है, कविता कबीर के यहां बाई प्रोडक्ट है जिसे स्थानीय शब्दावली में उन्होंने कहा कि घलुवे में मिली हुई चीज। लेकिन उन्होंने कहा है कि उसमें इतनी ताजगी है, अनुभूति की इतनी तीव्रता और प्रामाणिकता है कि वह सहज ही कविता हो गई है। इसलिए कबीर की कविता को कविता के शास्त्र से नहीं समझा जा सकता और कई स्थानों पर उन्होंने भाषा को लेकर वक्तव्य दिया। कबीर भाषा के डिक्टेटर थे। भाषा उनके भावों का अनुसरण करती है जबकि वे भाषा के प्रति लापरवाह दिखाई देते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शोधपरक आलोचना का सूत्रपात किया। उनकी आलोचना का का क्षेत्र मूलतः मध्यकाल है। उन्होंने स्वतंत्र रूप से एक किताब लिखी 'मध्यकालीन कविता'। इस तरह से हिन्दी आलोचना में पं0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का अवदान इस रूप में है कि उन्होंने अपनी आलोचना में सम्पूर्ण भारतीय परम्परा के रहस्यों को या सम्पूर्ण भारतीय परम्परा की यात्रा को उद्घाटित किया।

तीसरे आलोचक हैं डा0 नगेन्द्र। डा0 नगेन्द्र की स्थापनाएं भी आचार्य शुक्ल की छायावाद संबंधी मान्यताओं से टकराकर निर्मित हुई हैं। चूंकि डा0 नगेन्द्र पर फ्रायड के मनोविज्ञान का बहुत गहरा प्रभाव था इसलिए एक तरह से उन्होंने रचनाओं की मनोवैज्ञानिक

व्याख्या का सूत्रपात किया। छायावाद की भिन्न व्याख्या करते हुए सूत्र दिया कि छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है। इसके अतिरिक्त छायावाद में रहस्यवाद की धारणा को अस्वीकार करते हुए इस कथित रहस्यवाद की व्याख्या की और कहा कि रहस्य भावना एक प्रकार की जिज्ञासाएं हैं। जहां भी रहस्यवाद है वहां एक जिज्ञासा है। यानी छायावादी रहस्यवाद की भावभूमि मनोवैज्ञानिक है। इसलिए छायावाद में जो दुराव दिखाई पड़ता है, छायावाद में जो एक हल्का सा कुहासा है, अंधकार है, वह मन की वजह से है। छायावाद का मन सामाजिक वर्जनाओं से टकराकर अंतर्मुखी हो गया है। दरअसल आकांक्षा और सामाजिक स्वीकृति के बीच विपर्यय होने के कारण इन कवियों ने धूमिलता का सहारा लिया है।

रीतिकालीन कवियों की व्याख्या करते हुए भी उन्होंने मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों का सहारा लिया। रीतिकालीन कविता में श्रृंगार और भक्ति की उपस्थिति साथ–साथ है। इसलिए उन्होंने कहा कि रीतिकालीन कविता में जो भक्ति है वह कवि की मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों से बाहर निकलने का एक रास्ता है। एक गहरा अपराधबोध है, भक्ति के द्वारा रचनाकार इसी अपराधबोध से बाहर निकलने की कोशिश करता है। वास्तविक कारण कवि की चित्तवृत्ति है।

इसके साथ–साथ डा0 नगेन्द्र पर भारतीय काव्यशास्त्र की जो रसवादी परम्परा है उसका भी गहरा प्रभाव है। व्यावहारिक आलोचना को छोड़ कर नगेन्द्र बाद में शास्त्रीय आलोचना में आए और उन्होंने रस की नयी व्याख्या और नये सिरे से प्रतिष्ठा की। उन्होंने कई काव्यशास्त्र की किताबें लिखी हैं लेकिन जिस किताब के कारण वे चर्चित हुए उसका नाम है 'रस सिद्धांत'। 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' और 'रस सिद्धांत' उनकी दो मौलिक और महत्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियां हैं। कुछ कवियों पर भी उन्होंने स्वतंत्र रूप से पुस्तकें लिखीं। उनमें से पहली पुस्तक है 'सुमित्रानंदन पंत'। नगेन्द्र जी ने व्यावहारिक आलोचना कवियों पर भी लिखी। डा0 नगेन्द्र का मौलिक योगदान खासतौर पर रीतिकाल की मनोवैज्ञानिक व्याख्या में है और इसके साथ ही साथ छायावाद की व्याख्या को भी एक नया मनोवैज्ञानिक संदर्भ उन्होंने प्रदान किया है। इस तरह से स्वच्छंदतावादी आलोचना के ये तीन स्तंभ आलोचक अपने अपने तरीके से आचार्य शुक्ल की स्थापनाओं का विरोध करते हैं और साहित्य की नयी व्याख्या और नये प्रतिमानों का निर्माण करते हैं।

मार्क्सवादी आलोचना

शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना की जो सबसे ताकतवर और एक सीमा तक विवादास्पद आलोचना धारा है उसे मार्क्सवादी आलोचना के नाम से जाना जाता है। मार्क्सवादी आलोचना के सामने, जिसे हिन्दी में प्रगतिवादी आलोचना कहते हैं, आलोचना की कई धाराएं मौजूद थीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की लोकमंगलवादी परम्परा, स्वच्छंदवादी परम्परा और मोटे तौर पर विश्वविद्यालयों में जो परम्परा चल रही थी काव्यशास्त्रीय परम्परा जिसे मोटे तौर पर हम रसवादी परम्परा भी कह लेते हैं।

1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना होने के बाद साहित्य की प्रकृति और दिशा में परिवर्तन हुआ। साहित्य को सामाजिक परिवर्तन के माध्यम के रूप में स्वीकृति मिली। एक स्वतंत्र आलोचना शास्त्र के निर्माण की आवश्यकता महसूस की गई। इसलिए मार्क्स की जो साहित्य संबंधी धारणाएं थीं उन धारणाओं को हिन्दी साहित्य के संदर्भ में पुनर्व्यवस्थिति किया गया। प्रगतिवादी आलोचना का मूल आधार है मार्क्सवादी सौंदर्य शास्त्र। 1938 में 'ऑन आर्ट एण्ड लिटरेचर' नाम से उन टिप्पणियों और निबंधों का संकलन किया गया जो मार्क्स और एंगल्स ने कला और साहित्य के बारे में की थी। इन्हीं टिप्पणियों और सूत्रों के आधार पर आलोचना की जो पद्धति विकसित की गई उसे हिन्दी में प्रगतिवादी आलोचना के नाम से जाना जाता है।

कला के स्वरूप के सम्बन्ध में मार्क्सवादी समीक्षा उसकी अनिर्वचनीयता का निषेध करती है। अनिर्वचनीय उसे कहते हैं जिसे सामाजिक, भौतिक नियमों से व्याख्यायित नहीं किया जा सके। क्रिस्टोफर काडविल ने कहा कि कला वस्तुतः समाज रूपी सीपी से निकला हुआ मोती है। यानी कविता का स्रोत है समाज। इसलिए कविता की पहचान सामाजिक संदर्भों से ही तय हो पाती है। मार्क्स ने यह स्थापना दी है कि भौतिक जीवन संबंधी उत्पादनों की रीति ही सामान्यतः जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रियाओं का निर्णय करती है। मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्णय नहीं करती, बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व बोध ही उसकी चेतना का निर्णय करता है। इसका अर्थ है कि सामाजिक अस्तित्व से ही साहित्य का सीधा संबंध है। इसलिए साहित्य उत्पन्न होता है एक सामाजिक संरचना के भीतर से। उसी में प्रासंगिक भी होता है और उसी में खत्म भी होता है।

श्रम और सामाजिक व्यवस्था से साहित्य की प्रकृति निर्मित होती है और उसकी व्याख्या श्रम और सामाजिक संगठन के परिप्रेक्ष्य में ही हो सकती है।

प्रगतिवादी या मार्क्सवादी आलोचना कला की वर्गीय अवधारणा का सूत्रपात करती है। 'मेनीफेस्टो आफ द कम्यूनिस्ट पार्टी' के आरम्भ में मार्क्स कहता है कि अब तक के समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है, जब तक समानता स्थापित नहीं होती तब तक समाज में दो वर्ग बने रहेंगे एक शोषक वर्ग और एक शोषित वर्ग। उसकी स्थापना है कि वर्गीय समाज में कला की प्रकृति भी वर्गीय होती है। इसलिए साहित्य सनातन और सार्वभौमिक नहीं होता, वह वर्गीय हितों का प्रतिबिंबन करता है। लेकिन साथ साथ यह संकेत दिया गया है कि सर्वहारा के बढ़ते दबावों के कारण रचनाकार अपनी वर्गीय प्रकृति में परिवर्तन भी कर सकता है, क्योंकि वह देखता है कि उसका भविष्य अब सर्वहारा के हाथ सुरक्षित है।

अगली स्थापना कविता और राजनीति के संबंधों को लेकर है। 'पार्टी आर्गेनाइजेशन एंड पार्टी लिटरेचर' नामक अपने निबंध में लेनिन ने स्पष्ट कहा है कि साहित्य की प्रकृति राजनीतिक होती है। उसका कारण यह है कि **मार्क्सवाद मनुष्य की पहचान एक राजनीतिक प्राणी के रूप में करता है।** उसके अनुसार मनुष्य की नियति राजनीतिक संदर्भों से निर्धारित होती है। मार्क्स का प्रसिद्ध कथन है जिसमें उसने कहा है कि राज्यों का उदय ही वर्गीय समाज में शोषकों की सुरक्षा के लिए हुआ था। राज्य अपने आप में एक राजनीतिक घटना है। दूसरी बात मार्क्सवाद में यह कही गई है कि व्यवस्था परिवर्तन वर्ग संघर्ष का परिणाम होता है। आशीर्वाद से या सद्भावना से व्यवस्था नहीं बदलती। किसी व्यक्ति के हृदय परिवर्तन हो जाने से भी व्यवस्था नहीं बदलती। व्यवस्था अनिवार्यतः वर्ग संघर्ष से परिवर्तित होगी और प्रत्येक वर्ग संघर्ष राजनीतिक होता है। इसलिए मार्क्सवाद में **राजनीति को मनुष्य की मुक्ति का मार्ग** माना गया है। अतः मार्क्सवादी आलोचना रचना की व्याख्या में निहित राजनीतिक आशयों का उद्घाटन करती है।

इसके अतिरिक्त मार्क्सवादी आलोचना या प्रगतिवादी आलोचना में **प्रतिबद्धता और विचारधारा की भूमिका को बहुत महत्व** दिया गया है। मार्क्सवाद में रचना कर्म को एक प्रतिबद्ध कर्म के रूप में देखा गया है और प्रतिबद्धता का अर्थ पक्षधरता से है। मार्क्सवादी चेतना पक्षधरता के प्रश्न को अपनी वैचारिक आस्था से जोड़ती है। उनके यहां प्रतिबद्धता का

आशय रचना को सर्वहारा के हाथों को मजबूत करना और उसके शस्त्र बनने से है। इसके साथ साथ, प्रतिबद्धता का प्रश्न साहित्य की प्रयोजनीयता से भी संबंधित है। इस संदर्भ में मार्क्सवादी स्थापना है कि **साहित्य महज आस्वाद, उपभोग या आनंद की वस्तु नहीं है। वह एक सामाजिक सांस्कृतिक कर्म है।** इसके साथ साथ जहां तक विचारधारा का प्रश्न है मार्क्सवाद के अनुसार **साहित्य भाव से नहीं विचारधारा से लिखा जाता है।** वह इस बात की व्याख्या करता है कि विचारधारा का अपना स्वतंत्र इतिहास नहीं होता वह मूलतः सामाजिक जीवन का इतिहास होता है। इसलिए विचारधाराएं सामाजिक सरंचना से स्वतंत्र नहीं होती। विचारधारा इसलिए जरूरी है क्योंकि उससे साहित्य को शक्ति और दृष्टि मिलती है।

परम्परा मार्क्सवादी इतिहास दृष्टि का एक बहुत महत्वपूर्ण अंग है। **इतिहास** मार्क्सवाद में बहुत महत्वपूर्ण है। इतिहास एक तरह से समाज व्यवस्था को सम्पूर्णता में जानने का माध्यम है। मार्क्सवाद के अनुसार परम्परा के विश्लेषण से ही इतिहास दृष्टि को प्रामाणिक बनाया जा सकता है। परम्परा मनुष्य को सम्पूर्णता में जानने का माध्यम है क्योंकि परम्परा ऐतिहासिक विवेक और द्वन्द्वात्मक दृष्टि देती है। मार्क्स ने एक स्थान पर कहा है कि परम्परा इतिहास का ही एक रूप है जिसका निर्माण अन्तर्विरोधी एवं द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों से होता है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिंतक और आलोचक रिल्फि फॉक्स ने एक स्थान पर कहा है कि रचनाकार किसी मुर्दा संपत्ति का उत्तराधिकारी नहीं होता, वह परम्परा के आखिरी छोर का हिस्सा होता है। वह परम्परा से प्राप्त अनुभवों में अपना अनुभव जोड़ कर उसे समृद्ध करता है। यही परम्परा का इतिहास है। मार्क्सवाद कहता है कि परम्परा के केन्द्र में हमेशा वर्तमान होता है। वर्तमान की उपेक्षा करके कोई भी परम्परा बांझ हो जाती है। परम्परा विकसित ही इसलिए होती है क्योंकि वह वर्तमान से सम्पर्कित होती है, वर्तमान से स्पंदित होती है। जो परम्परा वर्तमान को छोड़ देगी वह नष्ट हो जायेगी, रूढ़ि हो जायेगी। इसलिए मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की व्याख्या में परम्परा की भूमिका को अत्यधिक महत्व देती है। इसलिए कोई भी कृति मार्क्सवाद के अनुसार स्वायत्त नहीं होती, वह समाज और साहित्य की परम्परा का एक अंग होती है।

वह कविता को किसी तात्कालिक मनोद्वेग का परिणाम नहीं मानता। उनके अनुसार कविता एक सजग मानस व्यापार का परिणाम है। इसलिए कविता में क्षण नहीं बल्कि एक दीर्घ समय की संघनित होती हुई अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है।

मार्क्सवाद कहता है **सौन्दर्य का वस्तुगत आधार** होता है। वस्तुगत आधार होने के कारण सौन्दर्य व्याख्येय है उसकी व्याख्या की जा सकती है, वह शाश्वत नहीं होता सार्वजनीन नहीं होता। वह कहता है कि चूंकि वस्तुगत सौन्दर्य होता है और वस्तु परिवर्तनशील होती है इसलिए सौन्दर्य भी अनिवार्यतः परिवर्तनशील होता है। मार्क्सवाद सौन्दर्य की किसी भी स्थिर सार्वभौमिक और शाश्वत अवधारणा का विरोध करता है। एंगिल्स की मान्यता है कि सौन्दर्यबोध मानवीय श्रम, उपयोगिता, इन्द्रिय बोध तथा जटिल भाव विचारों का संश्लिष्ट रूप है। वह कोई दैवीय वस्तु न होकर मानवीय जीवन में विकसित होने वाली धारणा है।

वस्तु और रूप में मार्क्सवाद **वस्तु को प्राथमिक** मानता है। रूप की अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। इसलिए रचनाकार की वास्तविक चिंता रूप की चिंता न होकर वस्तु की चिंता होती है। यह मार्क्सवाद की कुछ महत्वपूर्ण स्थापनाएं हैं। इनमें से अधिकांश का विरोध जिस आलोचनात्मक पद्धति में हुआ उसे नयी समीक्षा के रूप में जाना जाता है।

रसवादी समीक्षा

रस नाटक या कविता को पढ़ने से उपलबध आनन्द की अनुभूति का पर्याय है। इसी रस को केन्द्र में रखकर जो आलोचना और चिन्तन की प्रक्रिया निर्मित हुई उसे रसवाद के नाम से जाना गया है। इसलिए 14वीं शताब्दी में जब कविता की परिभाषा हो रही थी तो महत्वपूर्ण रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने कहा था कि रसात्मकं वाक्यं काव्यं, रसात्मक वाक्य ही काव्य है। तो रस एक सम्प्रदाय है और उस रस सम्प्रदाय की एक आधुनिक शाखा भी मौजूद है या उस धारा के कुछ लोग मौजूद हैं। उन्होंने कुछ स्थापनाएं दीं उन्हीं स्थापनाओं से रसवादी आलोचना निर्मित हुई। यह स्थापना मार्क्सवादी स्थापनाओं के ठीक विपरीत है।

रसवादी आलोचना में **कविता एक आस्वाद** है और **इस आस्वाद की प्रकृति आन्दात्मक** है। रस कभी दुखात्मक नहीं हो सकता। रस आस्वाद्य है और उसकी प्रकृति आनन्दात्मक है मार्क्सवादी ठीक इसकी उल्टी व्याख्या करता है। कविता या साहित्य आस्वाद्य नहीं होता। बल्कि वह मनुष्य की सामाजिक राजनीतिक संरचना को समझने का एक

माध्यम है। इसलिए एक तो कविता या साहित्य आस्वाद्य नहीं है और अगर मान भी लें कि कहीं न कहीं साहित्य हमारे संवेदन को स्पर्श करता है तो वह हमेशा आनन्दात्मक नहीं हो सकता। मार्क्सवाद कहता है कि साहित्य हमें तनाव से जोड़ता है, क्योंकि साहित्य हमें सामाजिक विसंगतियों और विडम्बनाओं की तरफ ले जाता है।

दूसरा बिन्दु है कि रसवाद में **कविता के विश्लेषण के औजार शास्त्र द्वारा निर्मित होते हैं**। शास्त्र उन औजारों का निर्माण करता है जिनसे कविता को समझने में मदद मिलती है। इसलिए **अलंकार, छंद, ध्वनि** आदि काव्यशास्त्र के शब्द हैं। इसके विपरीत मार्क्सवाद मानता है कि कविता का विश्लेषण पूर्व निर्धारित औजारों से नहीं होता बल्कि कविता के विश्लेषण की समूची प्रक्रिया राजनीतिक सामाजिक बनावट से नियंत्रित होती है।

तीसरी स्थापना रसवाद की है कि **रचना एक इतिहास निरपेक्ष और समाज निरपेक्ष सत्ता है।** इतिहास और समाज निरपेक्ष सत्ता के रूप में रसवाद रचना को देखता है क्योंकि रसवाद के अनुसार अनुभूतियां शाश्वत हैं, प्रेम भी शाश्वत हैं, घृणा भी शाश्वत है। इतिहास जब अनुभूतियों का निर्माण ही नहीं करता तो इतिहास से कविता को समझना व्यर्थ है। इसके विपरीत मार्क्सवाद इतिहास और समाज की सापेक्षता में ही रचना की व्याख्या पर बल देता है इसलिए मार्क्सवाद के अनुसार भाव स्थायी होते हैं, भावों के स्थायित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता है लेकिन भावों की अभिव्यक्ति की प्रणालियां बदलती रहती हैं। जिस तरह से शकुन्तला कालिदास से प्रेम करती है, अब आज उस तरह से प्रेम नहीं हो सकता।

रसवाद में **कविता के रूप और संरचना पर अत्यधिक बल** दिया जाता है। रचना के रूप और संरचना ही काव्य व्याख्या की वास्तविक चुनौतियां हैं। जबकि मार्क्सवाद में रूप और संरचना का प्रश्न गौण है। विचारधारा, प्रतिबद्धता, राजनीति और कविता का लक्ष्य– ये सवाल अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। दूसरी शब्दावली में हम कह सकते हैं कि संरचना के स्थान पर मार्क्सवाद रचना के कथ्य पक्ष पर अत्यधिक बल देता है।

नयी समीक्षा

पश्चिम में नयी समीक्षा की एक समृद्ध परम्परा है। यह आंदोलन 1930 से 1960 के बीच में सक्रिय है। पश्चिमी नयी समीक्षा की एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है स्वच्छंदतावाद

का विरोध। स्वच्छंदतावाद साहित्य के केन्द्र में भाव को स्थापित करता है। यह बुद्धिवाद, यंत्रवाद, पदार्थवाद, भौतिकवाद के खिलाफ एक गंभीर भावात्मक प्रतिक्रिया है। भाव की प्रधानता का विरोध नयी समीक्षा करती है।

नयी समीक्षा के अनुसार **भाववाद यथार्थ से पलायन का एक मार्ग** है। नयी समीक्षा ने भाव के स्थान पर **वस्तुवादी और विश्लेषणवादी दृष्टि को प्रमुखता** दी। यानी नयी समीक्षा के केन्द्र में **बौद्धिकता** है। दूसरा, जो नयी समीक्षा का संदर्भ है कि नयी समीक्षा तकनीक और वैज्ञानिक शोधों से उत्पन्न परिस्थितियों का सामना करती है। इसलिए नयी समीक्षा के दो आरंभिक और बहुत महत्वपूर्ण आलोचक टी.एस. इलियट और दूसरे मैथ्यू आरनल्ड की स्थापना यह है कि विज्ञान और तकनीकी ने धर्म को अपदस्थ कर दिया है। धर्म एक ऐसा नियंत्रण बिन्दु था परम्परागत समाज में, जो समाज और वैयक्तिक नैतिकता का नियंत्रण करता था। इसलिए एक विराट नैतिक शून्यता में जीने के लिए समाज अभिशप्त है क्योंकि धर्म खत्म हो गया है और विज्ञान धर्म का स्थान नहीं ले सका है। इसलिए मैथ्यू आरनल्ड ने कहा कि धर्म की आवश्यकता है और धर्म की भूमिका आधुनिक युग में साहित्य ही निभा सकता है। इसलिए विज्ञान और प्रोद्यौगिकी के बीच और उनके बावजूद नयी समीक्षा साहित्य की नयी भूमिका के निर्माण पर बल देती है। इसलिए नयी समीक्षा में **संस्कृति, मूल्य और सामाजिक व्यवस्था का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण** हो जाता है।

तीसरे नयी समीक्षा में मार्क्सवादी स्थापनाओं का घोर प्रतिकार है। कुछ लोगों ने कहा है कि वस्तुतः नयी समीक्षा मार्क्सवाद की स्थापनाओं के विरोध में ही विकसित हुई है। नयी समीक्षा की पहली स्थापना है कि **कृति को ऐतिहासिक और सामाजिक वातावरण के संदर्भ में व्याख्यायित नहीं किया जाना चाहिए।** नयी समीक्षा **रचना को एक स्वायत्त कर्म** के रूप में देखती है। नयी समीक्षा का तर्क है कि अगर कोई भी कृति अपने सामाजिक और ऐतिहासिक ढांचे का प्रतिफलन है तो कृति और कृतिकार की विशिष्टता का कोई अर्थ नहीं है। जबकि भक्ति आन्दोलन में स्थितियां एक हैं लेकिन उसी में मीरा हैं, उसी में रसखान हैं, उसी में तुलसी हैं, उसी में सूरदास हैं जिनकी प्राथमिकताएं अलग अलग हैं, संस्कार अलग अलग हैं। प्रेमचन्द लिख रहे हैं और प्रेमचन्द के साथ साथ जैनेन्द्र लिख रहे हैं। एक ही युग में मैथिलीशरण गुप्त लिख रहे हैं और निराला व प्रसाद लिख रहे हैं और

इतनी भिन्नताएं हैं। जबकि इतिहास और समाज का ढांचा एक है। इसलिए आलोचना के केन्द्र में कृति को होना चाहिए। परिणामस्वरूप नयी समीक्षा में **पाठ विश्लेषण की प्रक्रिया बहुत महत्वपूर्ण** हो उठी और नयी समीक्षा ने कविता के विस्तृत विश्लेषण और घनिष्ठ पाठ की परम्परा कायम की। बहुत सी कविताओं के पाठ पर आधारित सूक्ष्म व्याख्याएं प्रस्तुत की गईं और व्यावहारिक आलोचना के अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ सामने आए।

दूसरीं स्थापना जो नयी समीक्षा की है कि नयी समीक्षा **कृति की संरचना पर अत्यधिक बल** देती है। कृति की संरचना को अंतिम समझने का एक आंदोलन नयी समीक्षा से अलग भी था यूरोप में जिसे फोर्मलिस्ट मूवमेंट के रूप में जाना जाता है। रूपवादी समीक्षात्मक आंदोलन, जिसकी मूल स्थापना यह है कि साहित्य मात्र रूप है। विचार महत्वपूर्ण नहीं है, साहित्य इसलिए है चूंकि उसका एक फार्म है। इसी रूप के कारण उपन्यास अलग है, नाटक अलग है, कविता अलग है। जबकि विचार एक हो सकता है। इसलिए साहित्य केन्द्रीय रूप से और अंतिम रूप से एक ढांचा है। आलोचना का काम इस ढांचे का विश्लेषण करना है। विचार और अनुभवों का प्रकाशन आलोचना का लक्ष्य नहीं है। ये रूपवादी समीक्षा की स्थापना है।

मार्क्सवादी आलोचकों का आरोप है कि नयी समीक्षा पर **रूपवादी समीक्षा का बहुत गहरा प्रभाव** है क्योंकि नयी समीक्षा भी रूपवाद की स्थापनाओं को स्वीकार करती है। लेकिन नयी समीक्षा और रूपवाद में थोड़ा सा फर्क है। **नयी समीक्षा में संरचना को महत्व देते हुए भी रचना और जीवन के संबंधों को स्वीकार किया गया है।** इसलिए आर्नल्ड ने कहा कि कविता या साहित्य जीवन की आलोचना है। अतः नयी समीक्षा में कविता महत्वपूर्ण होते हुए भी उस संरचना को सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भों से जोड़ा गया है। किन्तु उसका आधार अर्थतंत्र नहीं है। नयी समीक्षा का जो सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भ है वह जातीय विशेषताओं, परम्पराओं और वैयक्तिक चेतना से निर्मित हुआ है।

तीसरी स्थापना जो नयी समीक्षा की है कि नयी समीक्षा में **रचना की भाषा के विश्लेषण पर अत्यधिक बल** दिया गया है। भाषा को नयी समीक्षा रचना और अनुभव की बुनियादी इकाई मानती है। इसलिए **भाषा साहित्य में मात्र माध्यम नहीं है बल्कि वह**

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) IAS Ph.27659488 IAS/PCS 9868848606

अनुभव का निर्धारक तत्व है। अज्ञेय ने एक स्थान पर लिखा कि हमारे सोचने की सीमा भी हमारी भाषा की पहचान या हमारी भाषा की क्षमता पर निर्भर करती है। इसलिए नयी समीक्षा भाषा के माध्यम से विचार और अनुभव की व्याख्या करती है। जबकि मार्क्सवादी समीक्षा में भाषा एक सामाजिक संपत्ति है जिसे रचनाकार उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करता है। नयी समीक्षा कहती है कि प्रत्येक रचनाकार भाषा का स्वतंत्र रूप से निर्माण करता है। इस तरह से ये नयी समीक्षा की मार्क्सवाद से टकराहट के रूप में तीन महत्वपूर्ण स्थापनाएं हैं। इन्हीं स्थापनाओं का विस्तार हिन्दी की नयी समीक्षा में दिखाई देता है। अज्ञेय, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकांत वर्मा, विजयदेव नारायण शाही, रामस्वरूप चतुर्वदी, रघुवंश इत्यादि नय समीक्षा के महत्वपूर्ण आलोचक हैं।

अनुभूति की निजता का मार्क्सवादी समीक्षा सिद्धांत में कोई स्थान नहीं होता। लेकिन हिन्दी की नयी समीक्षा इस बात पर बल देती हैं प्रत्येक रचनात्मक अनुभूति निजी होती है और रचना इस निजी अनुभूति को सार्वजनिक कर देती है। यानी अनुभूति की निजता और सामाकिता के बीच रचना एक सेतु का काम करती है। इस तरह एक तरफ वह रचनाकार की अनुभूति का विस्तार करती है और दूसरे स्तर पर वह सामाजिक सत्य का वाहक बनती है।

प्रगतिवादी समीक्षा के अनुसार किसी भी रचना की सार्थकता इस बिन्दु से तय होती है कि वह सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में कितना सहायक है। यानी प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का माध्यम मानती है। इसलिए जो साहित्य जड़ता के विरोध में है, शोषण के विरोध में है और मजदूरों और किसानों की क्रांति के पक्ष में है वही सार्थक साहित्य हो सकता है। इसके विपरीत नयी समीक्षा यह मानती है कि साहित्य किसी भी युग में सामाजिक परिवर्तन का माध्यम नहीं हो सकता। यह बहुत गंभीर मुद्दा है जिस पर अज्ञेय ने विस्तार से लिखा है। अज्ञेय ने सवाल उठाया है कि पहला पक्ष तो यही है कि क्या एक रचना को पढ़ कर सभी लोगों को एक तरह का अनुभव हो सकता है। यदि कोई एक रचना सभी लोगों के मन में एक तरह का भाव नहीं जगा पाती तो वह औसत सामाजिक परिवर्तन का माध्यम कैसे बन सकती है। अज्ञेय ने लिखा है कि जब हम किसी रचना का आस्वाद लेते हैं तो उस आस्वाद में पाठक की परिस्थितियां, उसके संस्कार, उसकी स्मृतियां, उसके परिवेश ये बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। अगर साहित्य सामाजिक परिवर्तन का माध्यम नहीं

है तो उसकी रचना का अभिप्राय क्या है, उसकी रचना की अर्थवत्ता क्या है। अज्ञेय ने इस सवाल का उत्तर दिया है कि साहित्य वैयक्तिक संवेदना का संस्कार करता है।

तीसरी स्थापना रचना प्रक्रिया के संदर्भ में है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार **रचना प्रक्रिया एक ज्ञानात्मक प्रक्रिया** है। ज्ञानात्मक प्रक्रिया का अर्थ है कि रचना प्रक्रिया होशोहवाश में संपादित होती है, रचना प्रक्रिया को बौद्धिक स्तर पर विश्लेषित किया जा सकता है। यह कोई अज्ञेय और अज्ञात प्रक्रिया नहीं है। इसलिए मुक्तिबोध ने 'कला के तीन क्षण' नामक अपने निबंध में कविता की रचना प्रक्रिया को व्याख्यायित करते हुए कहा है कि रचना प्रक्रिया के तीन क्षण होते हैं पहला क्षण यथार्थ की तीव्र अनुभूति, दूसरा क्षण उस यथार्थ से तटस्थता और तीसरा क्षण उस यथार्थ के और अनुभव के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया। तीन स्तरों पर यहां रचना प्रक्रिया संपादित होती है।

नयी समीक्षा रचना प्रक्रिया को विशुद्ध बौद्धिक नहीं मानती। यद्यपि वह स्वच्छंदतावादियों की उस धारणा का समर्थन भी नहीं करती कि रचना प्रक्रिया की प्रकृति विस्फोटात्मक होती है। लेकिन समर्थन न करते हुए भी नयी समीक्षा मानती है कि रचना प्रक्रिया बौद्धिक और योजनाबद्ध नहीं होती। इस प्रक्रिया की प्रकृति अव्याख्येय है। दरअसल रचनात्मक अनुभूति जिस बिन्दु पर घटित होती है उसका विश्लेषण संभव नहीं है। अज्ञेय ने 'सर्जना के क्षण' नामक अपनी कविता में इस बात को इस तरह व्याख्यायित किया है कि जिस तरह से स्वाती की बूंद सीपी को फोड़ कर उसके भीतर प्रवेश करती है, क्षण विशेष में, बूंद सीपी में जाते ही मोती के रूप में परिवर्तित नहीं होती। सीपी की उस बूंद को मोती बनने में वर्षों लगते हैं। लेकिन जिस क्षण विशेष में वह प्रवेश करती है वही क्षण विशेष रचनात्मक अनुभूति का क्षण होता है। बाद में हम उसे बनाते हैं, तैयार करते हैं, कांटते छांटते हैं। रूप देने की प्रक्रिया बाद में घटित होती रहती है। लेकिन रचनात्मक अनुभूति क्षण–विशेष में घटित होती है। इसलिए नयी समीक्षा पर आरोप है कि नयी समीक्षा एक विशेष प्रकार के रहस्यवाद का समर्थन करती है। वह रचना प्रक्रिया की वैज्ञानिक अवधारणा को धुंधलाने की कोशिश करती है।

चौथा और अंतिम बिन्दु है **रूप और वस्तु का संबंध**। मार्क्सवादी समीक्षा यह कहती है कि रचनाकार की वास्तविक समस्या वस्तु संयोजन की समस्या है। यथार्थ को जानने की समस्या है। नयी समीक्षा ठीक इसके विपरीत यह स्थापित करती है कि रचनाकार की

वास्तविक समस्या रूप निर्माण की समस्या है क्योंकि अनुभूति सभी के पास है लेकिन सभी रचनाकार नहीं होते। एक ही अनुभव और एक ही अनुभूति, लेकिन नितांत अलग–अलग रूप की रचनाएं होती हैं। इसलिए रचनाकार की रचना समस्या का संबंध रूप के अन्वेषण से जुड़ा हुआ है। जब भी कोई कृतिकार रचना की रचना प्रक्रिया में उतरता है तो वह रूप का संधान करता है, उपयुक्त शब्दों की तलाश करता है, बिंबों, प्रतीकों की तलाश करता है, उस तरह की भाषा की तलाश करता है जिससे उसका अनुभव दूसरों तक पहुंच सके। इसलिए अज्ञेय ने रचना के बारे में कहा कि रचना मूलतः एक व्यक्ति के अनुभव को दूसरे व्यक्ति के अनुभव में संक्रमित करने का माध्यम है। यह अनुभव रूप के माध्यम से संक्रमित होता है। अतः नयी समीक्षा पर रूपवादी होने का आरोप है।

इस समय समीक्षा की जो वर्तमान दशा है उसमें बहुत विचित्र स्थिति है। इस समय समीक्षा जैसी कोई विधा है भी या नहीं, यह कहना बहुत मुश्किल है। कोई नयी समीक्षा धारा नहीं दिखाई पड़ रही है। दो तरह की समीक्षा धाराएं अलग अलग अस्तित्व में हैं। एक तरफ मार्क्सवादी समीक्षा है। दूसरी तरफ एक और अतिवाद है – विश्वविद्यालयों में शास्त्रीय आलोचना की पुनर्वापसी प्रबल है। इसलिए रीतिकाल को पुनर्जीवित करने और पुनर्प्रतिष्ठित करने का एक आन्दोलन भी दिखाई दे रहा है। इसलिए चरम शास्त्रीयता और शाब्दिक क्रांतिकारिता के बीच समकालीन समीक्षा का परिदृश्य धुंधला गया है। इस तरह से समीक्षा की धारा अवरुद्ध हो गई है। कोई सर्वमान्य और संतुलित विकास प्रक्रिया नहीं दिखाई पड़ रही है जिसे हम सही मायनों में समीक्षा का विकास कह सकें। समकालीन समीक्षा सांगठनिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त है। केन्द्र में दलित और स्त्री हैं, **दलित और स्त्री विमर्श समकालीन समीक्षा की केन्द्रीय चिन्ता कही जा सकती है।**

मनोवैज्ञानिक समीक्षा

हिन्दी में कोई व्यवस्थित मनोवैज्ञानिक समीक्षा नहीं है। मनोवैज्ञानिक समीक्षा के कुछ सूत्रों का इस्तेमाल जरूर किया गया है। मसलन **डा0 नगेन्द्र** ने कुछ मनोवैज्ञानिक सूत्रों का इस्तेमाल किया है। मनोवैज्ञानिक समीक्षा का मूल आधार है कि **कृति का संबंध रचनाकार की मानसिक बनावट से है।** दो चीजें मनोवैज्ञानिक समीक्षा में महत्वपूर्ण मानी गई हैं। एक कृति का सत्य कृतिकार के अवचेतन का सत्य होता है, इसलिए रचना को

सामाजिक संदर्भों में विश्लेषित नहीं किया जा सकता। मार्क्सवादी समीक्षा में रचना की व्याख्या के लिए समाज इतिहास और अर्थ संबंधों का ज्ञान अनिवार्य है। समाज इतिहास और अर्थ संबंधी यानी मार्क्सवादी समीक्षा परिवेश के बाहरी धरातल को आधार बनाती है। लेकिन मनोवैज्ञानिक समीक्षा में कृति से अधिक महत्वपूर्ण है कृतिकार, क्योंकि वह कृति के सत्य का सबसे प्रामाणिक स्रोत है और कृतिकार के विचार में है कृतिकार का मन।

फ्रायड ने मन के तीन हिस्से किये थे चेतन, उपचेतन और अवचेतन। उन्होंने कहा था कि सत्य अवचेतन में होता है। इसलिए रचना का विश्लेषण अवचेतन सत्य का विश्लेषण है इसलिए मनोवैज्ञानिक समीक्षा कृतिकार का विश्लेषण करती है।

उसकी दूसरी स्थापना यह है कि कोई भी कृति रचनाकार की अतृप्त आकांक्षा की पूर्ति का माध्यम होती है। इसलिए अतृप्ति ही रचना की मूल प्रेरणा है। इसका अज्ञेय पर भी थोड़ा प्रभाव है। अज्ञेय ने 'त्रिशंकु' में लेख लिखा है — उसमें कहा है कि जो पूर्ण है और संतुष्ट है, न तो वह रचनाकार हो सकता है और न पाठक हो सकता है। किसी न किसी प्रकार की अतृप्ति, अक्षमता, खालीपन रचना के लिए अनिवार्य है। इसलिए मनोवैज्ञानिक समीक्षा अतृप्ति और कुण्ठा के उन स्रोतों की खोज करती है जो रचनाकार के जीवन में है। मनोवैज्ञानिक समीक्षा के प्रभावों को डा० नगेन्द्र ने 'छायावाद और रीतिकाल' की व्याख्या में लिया है।

व्यावहारिक समीक्षा

व्यवहारिक समीक्षा एक तरह से स्वच्छंद समीक्षा कही जा सकती है। वह कृति की प्रकृति के अनुसार अपना रुख बदलती है। अर्थात् व्यवहारिक समीक्षा का अर्थ है कि वह कबीर की व्याख्या कबीर की कृतियों के आधार पर करेगी, तुलसी की व्याख्या तुलसी की कृतियों के आधार पर करेगी। इसलिए व्यावहारिक समीक्षा की प्रकृति उदारतामूलक होती है। व्यावहारिक समीक्षा कृति के संगठन पक्ष, उसके आस्वाद पक्ष और उसकी सामाजिक सार्थकता के बिन्दुओं को उद्घाटित करने की कोशिश करती है। एक तरह से व्यावहारिक समीक्षा समूची कृति को उसकी अपनी ही धूरी पर विश्लेषित करने की कोशिश करती है। आयातित और आरोपित शब्दों के अनुसार समीक्षा की जो उपलब्ध प्रणालियां हैं व्यावहारिक समीक्षा उससे परहेज करती है। व्यावहारिक समीक्षा में कई लोगों के नाम लिये जा सकते हैं जैसे रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश, मलयज, विजयदेव नारायण शाही आदि।

आलोचक डा0 रामविलास शर्मा

डा0 रामविलास शर्मा को मार्क्सवादी हिन्दी समीक्षा का भीष्म पितामह कहा जाता है। डा0 रामविलास शर्मा के आलोचना के तीन क्षेत्र हैं। निराला, परम्परा और तीसरा क्षेत्र है उनका इतिहास।

दरअसल डा0 रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि के आरंभिक स्तर पर तीन प्रतिमान कहे जा सकते हैं। उन्होंने तीन क्षेत्रों के रचनाकारों और चिंतकों पर अपनी आलोचना दृष्टि केन्द्रित की है। कविता के क्षेत्र में किताब का नाम है 'निराला की साहित्य साधना' जो तीन खण्डों में है। पहला खण्ड जीवनी है, दूसरा खण्ड साहित्य है और तीसरा खण्ड पत्रों का संकलन है। उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द, किताब का नाम है 'प्रेमचन्द और उनका युग'। आलोचना के क्षेत्र में उनके नायक हैं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, किताब का नाम है 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना'। कविता, उपन्यास और आलोचना ये तीन विधाएं हैं जिन पर आरम्भ में डा0 रामविलास शर्मा ने अपना ध्यान केन्द्रित किया था।

निराला और छायावाद की व्याख्या उन्होंने सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भों में की। निराला के माध्यम से छायावाद की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि छायावाद साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध एक वैचारिक और रचनात्मक संघर्ष है जिसका प्रतिनिधित्व निराला करते हैं। इसलिए छायावाद में परिवर्तनकारी चेतना के संदर्भों की तलाश ही उनकी व्याख्या की वास्तविक चुनौती है, जिसका सामना उन्होंने किया है। निराला के मन, उनकी कविता में निहित वेदांत और निराला की कविताओं की परिवर्तनकारी चेतना की व्याख्या के माध्यम से उन्होंने निराला को आधुनिक हिन्दी कविता की परम्परा का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कवि घोषित किया। निराला की कविता की वास्तविक भावभूमि संघर्ष की है और यह संघर्ष एक ही साथ साम्राज्यवाद और सामंतवाद के गठजोड़ के विरोध में है। इसके साथ ही संघर्ष के जितने भी परिप्रेक्ष्य हो सकते हैं, उन सभी परिप्रेक्ष्यों का उद्घाटन रामविलास जी ने निराला की व्याख्या में किया है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि निराला सौन्दर्य के कवि हैं और निराला के यहां कोई भी सौन्दर्य बिना संघर्ष के नहीं हो सकता। संघर्ष ही सौन्दर्य की उत्पत्ति की पीठिका है। यह सौन्दर्य कुरूपता के विरोध में है, जड़ता के विरोध में है, मृत्यु के विरोध में है। इसलिए सौन्दर्य की चेतना जीवन की पक्षधरता की चेतना है। उन्होंने अपनी कई

व्याख्याओं में यह दिखाने की कोशिश की है कि कैसे निराला की कविता का सौन्दर्य जीवन के पक्ष में एक सशक्त ऊर्जा के रूप में काम करता है।

'सरोज स्मृति' स्मृति और मृत्यु की कविता है। लेकिन स्मृति और मृत्यु की कविता 'सरोज स्मृति' में सौन्दर्य के सबसे सघन बिम्ब दिखाई देते हैं। सौन्दर्य का इतना सघन और प्रभावशाली अंकन निराला फिर दोबारा नहीं कर पाए हैं। स्मृति में बसी हुई मृत्यु की गंध से निराला जूझते हैं और इस जूझने में वे बार बार सौंदर्य की स्मृति से ऊर्जा लेते हैं। सौन्दर्य और मृत्यु की इस मुठभेड़ में, हालांकि मृत्यु 'सरोज स्मृति' में विजयी होती है, लेकिन फिर भी सौंदर्य ही है जो स्मृति की रचना को संभव बनाता है।

वैसे ही 'राम की शक्ति पूजा' में भी रामविलास जी ने व्यावहारिक स्तर पर लिखा है कि राम की शक्ति पूजा में भी ऊपर पंक्ति उन्होंने लिखी 'स्थर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर फिर संशय'। एक और पंक्ति आती है 'कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार बार असमर्थ मानता मन उद्दत हो हार हार।' संशय है, विकलता है, बेचैनी है ये सब कमजोरी के लक्षण हैं। और इस कमजोरी के क्षण में 'याद आया उपवन विदेह का प्रथम स्नेह का लताअंतराल मिलन'। सीता की बहुत खूबसूरत कुंआरी आंखें याद आती हैं। इसलिए निराला के यहां जहां कहीं कमजोरी आती है वहां जैसे सौन्दर्य प्रकट होकर उन्हें कमजोरी से बाहर ले आता है।

इसलिए रामविलास जी ने सौंदर्य के संदर्भ में निराला को एक स्थान पर कोट करते हुए लिखा है कि निराला के यहां फूल का खिलना संघर्ष की एक अनवरत प्रक्रिया का परिणाम है। फूल इसलिए सुन्दर है कि वह संघर्ष की एक गहरी प्रक्रिया से गुजर कर इस रूप तक पहुंचा है।

इसी तरीके से 'बादल' राग की कविताओं की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि बादल राग व्यवस्था परिवर्तन की चेतना से संदर्भित है। दरअसल इस सूमची सामंती व्यवस्था को तोड़ कर समता, सहजता और भ्रातृत्व पर आधारित एक नयी दुनिया के निर्माण का आह्वान ही बादल राग की कविताओं का वास्तविक कथ्य है। तो इस तरह से रामविलास जी ने निराला को एक ऐसे कवि के रूप में देखने की कोशिश की है जो कवि अपने इतिहास और समाज की उपलब्ध संरचना में हस्तक्षेप करता है।

दूसरे रचनाकार **प्रेमचन्द** हैं। डा0 शर्मा ने प्रेमचन्द को एक ऐसे रचनाकार के रूप में देखा है जिसने सामाजिक यथार्थ को पहली बार अपनी रचनाओं में कोट किया। समस्याओं को ही नहीं बल्कि समस्याओं के कारणों की तह तक जाने में भी प्रेमचन्द को सफलता मिली और प्रेमचन्द की रचनाओं की वास्तविक समस्या है किसान। किसान पर उन्होंने सबसे अधिक बल दिया है। किसान दरअसल इस शोषणवादी व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग है। इस किसान के विपक्ष में खड़ा है सामंत और पूरा का पूरा उपनिवेशिक तंत्र, जिसमें न्यायालय, पुलिस, पंचायत सब उसके विरोध में हैं। इसलिए महाजनी सभ्यता की चर्चा के द्वारा प्रेमचन्द सिर्फ समस्या तक बात को नहीं छोड़ते बल्कि उस समस्या के निर्माण के पीछे जो शक्तियां हैं उनका भी विश्लेषण करते हैं। इसलिए यथार्थ के चित्रण के साथ साथ प्रेमचन्द्र की रचनाएं उस ऐतिहासिक सामाजिक बनावट की भी समझ विकसित करती हैं जिनके भीतर से भारतीय समाज की समस्याएं पैदा हुई हैं।

प्रेमचन्द की अंतिम और महत्वपूर्ण कृति गोदान की वास्तविकता की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि गोदान की वास्तविक समस्या ऋण की समस्या है। जाहिर है मार्क्सवादी चिंतक होने के कारण आर्थिक संदर्भों में सामाजिक समस्याओं की पहचान, डा0 शर्मा के लिए स्वाभाविक था और ऋण की समस्या के संदर्भ में ही उन्होंने पूरे गोदान की व्याख्या की है। एक स्थान पर लिखा है, कि ऋण की समस्या होरी की समस्या भी है और प्रेमचन्द की भी है क्योंकि प्रेमचन्द भी बहुत कर्ज में डूबे हुए थे। महाजनी सभ्यता की क्रूरता और आतंक से वे पूरी तरह अवगत थे। इसलिए गोदान महाजनी सभ्यता जो, सूद की सभ्यता है, उस पर आधारित एक महत्वपूर्ण भारतीय उपन्यास है।

शुक्ल जी के बारे में डा0 शर्मा की स्थापनाएं बहुत महत्वपूर्ण हैं। शुक्ल जी के योगदान को उन्होंने कई रूपों में देखा है। पहला तो यही है कि शुक्ल जी ने भारतीय रसवाद की परम्परा की आधुनिक व्याख्या की क्योंकि परम्परा में रस एक वैयक्तिक आस्वाद है। आचार्य जी ने इस वैयक्तिकता को निरस्त करके रस को एक सामाजिक चेतना के रूप में स्थापित किया। रस एक वैयक्तिक अनुभूति न होकर वस्तुतः एक सामाजिक अनुभूति है। वह सामाजिक संस्कारों से निर्मित होती है। इसलिए शुक्ल जी ने कई स्थानों पर बताया है कि साधारणीकरण की प्रक्रिया पूरी तरह से सामाजिक प्रक्रिया होती है।

शुक्ल जी की आलोचना के योगदान के बारे में एक दूसरी बात स्थापित की कि उन्होंने रहस्यवाद का विरोध किया। रहस्यवाद गैर साहित्यिक संदर्भों में जादू टोना का पर्याय कहा जा सकता है। रहस्यवाद एक भावनात्मक अंधविश्वास में ले जाने वाली चेतना है। एक तरह से शर्मा जी के अनुसार आचार्य शुक्ल ने हिन्दी आलोचना को अंधविशस के खतरे में बचाया या रहस्यवाद से बचाया।

तीसरा उन्होंने कहा कि लोकमंगल की स्थापना शुक्ल जी ने की। लोक में समाज के निचले वर्ग की ध्वनि है। लोकमंगल पर आचार्य जी ने बात की है जनता के अब तक के शोषित, पिछड़े समाज के प्रति साहित्य की जवाबदेही होनी चाहिए। यह स्थापना अपने आप में एक तरह से युगांतकारी है। तो इस तरह से कविता उपन्यास और आलोचना के क्षेत्र में डा0 शर्मा की स्थापनाओं ने प्रकारान्तर से मार्क्सवाद की यांत्रिकता को कम किया और हिन्दी आलोचना की समझ और धारा को प्रशस्त किया।

दूसरा क्षेत्र है परम्परा जिस पर उन्होंने काम किया है। उनकी एक किताब का नाम है 'परम्परा का पुनर्मूल्यांकन'। इस किताब में डा0 शर्मा ने वाल्मीकि से लेकर आज तक के कवियों की एक अप्रतिहत परम्परा को देखा है और इन सभी कवियों की व्याख्या उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से की है। दरअसल समूची भारतीय परम्परा में कवियों और कृतियों की परम्परा में निहित प्रगतिशील चेतना का उद्घाटन ही डा0 रामविलास शर्मा के आलोचनात्मक कर्म का एक महत्वपूर्ण उपादेय या उसकी एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

तीसरा उनका क्षेत्र इतिहास है, जिसका संबंध साहित्यिक आलोचना से नहीं है। लेकिन ये कृतियां भारतीय समाज को समझने और उस समझ के माध्यम से रचना के साथ संबंध स्थापित करने में मदद करती हैं एक तरह से साहित्य का जो समूची ऐतिहासिक सामाजिक परिदृश्य होता है, उसका उद्घाटन डा0 रामविलास शर्मा की इतिहास पुस्तकें करती हैं। कुछ किताबों के नाम हैं – 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद', 'मार्क्स और पिछड़े', 'भारतीय साहित्य की भूमिका'। इसमें डा0 शर्मा की कुछ अत्यंत विवादास्पद स्थापनाएं हैं जो मार्क्सवादी स्थापनाओं से मेल नहीं खाती। ऋग्वेद पर उन्होंने काम किया है। 'ऋग्वेद और पश्चिम एशिया' में शर्मा जी की स्थापना है कि आर्य बाहर से नहीं आए। एक तरह जो समूची

भारतीय समाज व्यवस्था है वह उनके आलोचनात्मक कर्म का हिस्सा है। रामविलास जी ने लगातार इस बात पर बल दिया है कि साहित्य निजी कर्म नहीं है बल्कि वह सामाजिक कर्म है। रचना पर समूची परम्परा का और समाज व्यवस्था का प्रयास होता है। इसलिए समाज व्यवस्था की व्याख्या उन्होंने अपने इतिहास ग्रंथों में की है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने कई छुटपुट किताबें भी लिखीं जैसे 'नई कविता और अस्तित्ववाद', 'आस्था और सौन्दर्य'।

मार्क्सवाद के तर्क शास्त्र के अनुसार डा0 रामविलास शर्मा की आलोचना पद्धति पर यह आरोप है कि उनमें खण्डनात्मक मण्डनात्मक प्रवृत्ति की प्रबलता है। वे प्रतिष्ठित करने वाले और ध्वस्त करने वाले आलोचक हैं। कई स्थानो पर डा0 रामविलास शर्मा की आलोचना एक सम्यक दृष्टि नहीं बल्कि पक्षपाती दृष्टि विकसित करती है। लेकिन इन सीमाओं के बावजूद डा0 रामविलास शर्मा का आलोचना क्षेत्र बहुत विस्तृत, गहन और विचारोत्तेजना से भरा हुआ है।

भाषा पर भी उन्होंने काम किया है। 'भाषा और समाज' उनकी बहुत महत्वपूर्ण किताब है। इसलिए एक ही साथ आलोचक, भाषाविद और इतिहासकार तीनों रूपों में इनका योगदान ऐतिहासिक है। कहा जा सकता है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद डा0 रामविलास शर्मा एकमात्र ऐसे समीक्षक हैं जिन्होंने हिन्दी भाषा का संपूर्ण करने में सराहनीय ऐतिहासिक भूमिका निभाई है।

श्री उत्कर्ष क्लासेज (रजि०) उत्कर्ष IAS Ph. 27669400 IAS/PCS: 9864448606

आधुनिक हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद का आविर्भाव

'उपन्यास और लोकजीवन' नामक पुस्तक में रॉल्फ फॉक्स ने कहा है – 'पूंजीवादी सभ्यता ने संसार की कल्पना प्रधान संस्कृति को जो भेंटें दी हैं उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है उपन्यास।' उपन्यास एक आधुनिक विधा है जिसका जन्म पूंजीवादी व्यवस्था के जटिल परिवेश में हुआ है।

विश्व का पहला उपन्यास सैमुअल रिचर्डसन द्वारा रचित पामेला था जो सन् 1740 ई0 में प्रकाशित हुआ। उपन्यास को आरंभ में साहित्यिक विधा के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी थी। उसे एक नकारात्मक या घटिया मनोरंजन का साधनमात्र माना जाता था। लेकिन धीरे–धीरे उपन्यास सर्वाधिक संभावनागर्भित साहित्यिक विधा के रूप में स्थापित हुआ और अन्ततः यह स्वीकार किया गया कि आधुनिक जीवन के जटिल यथार्थ को पकड़ने वाली सशक्ततम विधा उपन्यास ही है। ऐलेन ग्लासगो ने लिखा 'मेरे मत से मानवीय अनुभव की सम्पूर्ण व्यापकता और मानव–नियति की अपार विस्तृति उपन्यास की परिधि में सिमट आ सकती है।' बीसवीं शताब्दी तक आते आते उपन्यास आधुनिक युग की केन्द्रीय विधा के रूप में स्थापित हो गया।

भारतीय उपन्यासों की शुरूआत बंगला और मराठी उपन्यासों से होती है। बंकिमचन्द्र चटर्जी, शरतचन्द्र, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि बंगला उपन्यासकारों के उपन्यासों ने हिन्दी उपन्यास के विकास में एक आधार दिया।

हिन्दी के प्रथम उपन्यास के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों के मत में 1882 में प्रकाशित लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षागुरू' हिन्दी का प्रथम उपन्यास है, जबकि कुछ अन्य विद्वानों के मत में श्रद्धाराम फुल्लौरी की 'भाग्यवती' हिन्दी का प्रथम उपन्यास है, जिसकी रचना तो 1877 में हुई पर जिसका प्रकाशन 1887 ई0 में हुआ।

हिन्दी उपन्यास का वास्तविक आरंभ प्रेमचन्द से होता है जिन्होंने इसे जीवन के व्यापक और गहरे यथार्थ से जोड़ा था। प्रेमचन्द से पहले हिन्दी कथा–साहित्य का ढांचा मध्ययुगीन 'आख्यान' जैसा ही था। 'आख्यान' को आधुनिक उपन्यास के अर्थ में प्रेमचन्द ने ही विकसित किया। अतः हिन्दी उपन्यास की विकास–यात्रा का अध्ययन प्रेमचन्द को केन्द्र में

रखकर ही किया जाना चाहिए। प्रेमचन्द को केन्द्र में रखकर हिन्दी उपन्यास के विकास को तीन चरणों में विभक्त किया जा सकता है –

1. प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास
2. प्रेमचन्द युगीन उपन्यास
3. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास

प्रेमचन्दपूर्व के हिन्दी उपन्यासकारों ने पश्चिम से उपन्यास का ढांचा तो लिया लेकिन उसमें परम्परागत कथा–साहित्य की प्रतिष्ठा अधिक की। इन उपन्यासों में उद्देश्य की दृष्टि से दो प्रवृत्तियां लक्षित होती हैं – कोरा **मनोरंजन** एवं **मनोरंजन के साथ सुधारवादी भावना**। प्रेमचन्द पूर्व उपन्यासों की सबसे प्रमुख और सामान्य विशेषता उनका **घटना–प्रधान** होना है। उपन्यासकार देशकाल और यथार्थ से असम्बद्ध घटना–चमत्कार के माध्यम से ही मनोरंजन या उपदेश देना चाहता है। इस युग में तीन प्रकार के उपन्यास दिखायी देते हैं –

1. शुद्ध मनोरंजन प्रधान उपन्यास
2. उपदेश प्रधान सामाजिक उपन्यास
3. ऐतिहासिक उपन्यास

शुद्ध मनोरंजन प्रधान उपन्यासों में तिलस्मी एवं ऐय्यारी उपन्यास तथा जासूसी उपन्यास हैं। ऐय्यारी और तिलस्मी उपन्यासों के सर्वाधिक चर्चित एवं लोकप्रिय रचनाकार देवकी नन्दन खत्री हैं। 'चन्द्रकान्ता' एवं 'चन्द्रकान्ता संतति' उनकी सर्वाधिक चर्चित कृतियां हैं। जासूसी उपन्यासकारों में श्री गोपालराम गहमरी इस युग के प्रतिनिधि उपन्यासकार हैं। 'अद्भुत लाश', 'खूनी कौन', 'जासूस की भूल', 'गुप्तभेद' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

उपदेश प्रधान सामाजिक उपन्यासों पर नवजागरण की चेतना का प्रभाव दिखायी देता है। इन उपन्यासों का सबसे बड़ा विषय है – नारी समस्याएं। बाल–विवाह, विधवा, अनमेल विवाह, आभूषण प्रियता आदि समस्याओं को रचनाकारों ने उठाया है। इन सामाजिक उपन्यासकारों की श्रृंखला में प्रमुख हैं –

लाला श्रीनिवासदास	–	परीक्षागुरू
श्रद्धाराम फिल्लौरी	–	भाग्यवती
बालकृष्ण भट्ट	–	नूतन ब्रह्मचारी, सौ अजान एक सुजान

राधाकृष्ण दास – निस्सहाय हिन्दू
राधाचरण गोस्वामी – विधवा विपत्ति

पर इन उपन्यासों में समाज के बुनियादी सत्यों की पकड़ नहीं है। सतह पर फैली हुई समस्याओं का चित्रण भर किया गया है।

नवजागरण की चेतना के प्रभाव से कुछ रचनाकारों ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर अपनी सांस्कृतिक विरासत को पुनर्जीवित करने की कोशिश की। पर अन्तर्वस्तु और शिल्प, दोनों ही धरातलों पर इन उपन्यासों का गठन कमजोर है। इस युग में ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वालों में प्रमुख हैं –

ब्रजनन्दन सहाय – लाल चीन
मिश्र बन्धु – वीरमणि
किशोरी लाल गोस्वामी – आदर्श रमणी, रजिया बेगम
गंगा प्रसाद गुप्त – पृथ्वीराज चौहान, हम्मीर

समग्र रूप से प्रेमचन्द–पूर्व युग के हिन्दी उपन्यासों की औपन्यासिक संरचना में कसाव की कमी है और उनमें पात्रों की, घटनाओं की, परिस्थिति की तार्किक एवं यथार्थवादी स्थितियां दिखायी नहीं देती।

हिन्दी उपन्यास में प्रेमचन्द के आगमन को अनेक आलोचकों ने एक क्रांतिकारी घटना के रूप में देखा है। प्रेमचन्द ने उपन्यास की पूरी रचना–प्रक्रिया को बदल दिया। प्रेमचन्द की विषय वस्तु बिल्कुल नई नहीं है। प्रेमचन्द्र–पूर्व हिन्दी उपन्यास की परम्परा में स्त्री–समस्या और हरिजन–समस्या दो ऐसी समस्याएं हैं जिनका सामना भारतेन्दुयुगीन उपन्यास भी करता है। डा0 रामविलास शर्मा ने माना है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों की विषय–वस्तु भारतेन्दुयुगीन उपन्यासों का विकास है। किन्तु, प्रेमचन्द की मौलिकता समस्याओं के चित्रण एवं समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण में है।

प्रेमचन्द–पूर्व हिन्दी के सामाजिक उपन्यासों में स्त्री को सनातनी आदर्शों से पुनर्गठित करने का विचार दिखायी दे रहा था। स्त्री की पराधीनता की बात नहीं की गई थी। प्रेमचन्द के उपन्यासों में सामाजिक पराधीनता में छटपटाती स्त्री का चित्रण है। स्त्री के अतिरिक्त हरिजन और किसान उनकी मुख्य विषय–वस्तु है। प्रेमचन्द मात्र इनका चित्रण नहीं

करते बल्कि इन्हें समस्या के रूप में परिवर्तित करते हैं और उनका स्रोत सामाजिक संरचना में ढूंढ़ते हैं। पहली बार जीवन की समग्रता को व्यवस्थागत ढांच में ढूंढ़ने की कोशिश की गई।

प्रेमचन्द की मौलिकता के अन्य संदर्भ भी हैं। प्रेमचन्द ने उपन्यास के कथानक, पात्र और भाषा में बुनियादी परिवर्तन किया। प्रेमचन्द के यहां घटनाएं मनोरंजन या कथा–विकास का माध्यम मात्र नहीं, वे जीवित और संगठित रचनाएं हैं जिनमें जीवन के कई परस्पर विरोधी पहलू निहित होते हैं। उन्होंने घटनाओं को तथ्य के रूप में नहीं सामाजिक समस्याओं के रूप में धारण किया। प्रेमचन्द ने बताया कि पात्र मात्र अच्छे या बुरे होकर नैतिकता–अनैतिकता के सिद्धांत नहीं होते, वे परिस्थितियों के दबाव झेलते हुए आशा–निराशा, आकांक्षा स्वप्न तथा भावों–विचारों के जटिल संस्थान होते हैं। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में घटनाओं, स्थितियों और चरित्रों का जंगल खड़ा नहीं किया बल्कि उन्हें उस अनुपात और बलाघात मे संगठित किया है जिससे तत्कालीन और आधुनिक भारतीय समाज की मानवीय नियति, संघर्ष की दिशा और सार्थकता की संभावना प्रस्तावित व परिभाषित होती है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों की भाषा कुछ भी व्यक्त करने का माध्यम मात्र नहीं, बल्कि जीवन की सच्चाइयों के निशान, अनुभव की तीव्रता और गति के प्रमाण देने में समर्थ ध्वनि–संगठन है। प्रेमचन्द–युग राष्ट्रीय और सामाजिक उथल–पुथल का युग था – जिसका रचनात्मक साक्षात्कार प्रेमचन्द के उपन्यासों में हुआ है। उनके उपन्यासों में तत्कालीन भारत की यथार्थ–चेतना के प्रायः समस्त आयाम उद्घाटित हुए हैं। सेवासदन, प्रेमाश्रम, निर्मला, रंगभूमि, गबन, कर्मभूमि एवं गोदान प्रेमचन्द की मुख्य औपन्यासिक कृतियां हैं। इन उपन्यासों में राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन, भारतीय किसानों की दशा, सामाजिक बंधनों में छटपटाती नारी और वर्ण–व्यवस्था के भीतर संत्रस्त हरिजनों की पीड़ा का मार्मिक चित्रण मिलता है। प्रेमचन्द युग के अन्य उपन्यासकारों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं –

1.	विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'	–	भिखारिणी, माँ
2.	राधिकारमण प्रसाद सिंह	–	राम–रहीम
3.	सियारामशरण गुप्त	–	गोद, अंतिम आकांक्षा
4.	पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र	–	बुधुआ की बेटी
5.	जयशंकर प्रसाद	–	कंकाल, तितली

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित मनोवैज्ञानिक उपन्यासों, प्रेमचन्दीय चेतना एवं मार्क्स के यथार्थवाद से प्रेरित सामाजिक और समाजवादी उपन्यासों, ऐतिहासिक, पौराणिक और सांस्कृतिक उपन्यासों, अंचल–विशेष के जीवन को चित्रित करने वाले आंचलिक उपन्यासों, आधुनिक भाव–बोध से अनुप्राणित महानगर बोध के उपन्यासों, नारी–समस्या से संबंधित उपन्यासों, उत्तर आधुनिकतावाद या उपभोक्तावादी संस्कृति से प्रभावित उपन्यासों आदि की धाराएं देखने को मिलती हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में निहित मनोवैज्ञानिक चेतना मनोविज्ञान की नवीन खोजों से प्राप्त सत्यों पर आधारित थी। फ्रायड के अनुसार यथार्थ बाहर नहीं बल्कि मनुष्य के अवचेतन में होता है। इन उपन्यासों का संबंध अवचेतन लोक से है। अतः कथा बाहर से हटकर व्यक्ति के भीतर मुड़ गयी। घटनाओं एवं पात्रों की बहुलता और सामाजिकता समाप्त हो गई। घटनाओं का स्थान आत्ममंथन और चिंतन ने ले लिया तथा भाषा प्रतीकात्मक हो गई। प्रमुख मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं–

जैनेन्द्र	–	परख, सुनीता, त्यागपत्र
अज्ञेय	–	शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप
इलाचन्द्र जोशी	–	संन्यासी, जहाज का पंछी
डा0 देवराज	–	अजय की डायरी, पथ की खोज

जैनेन्द्र मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पहले समर्थ रचनाकार थे। परख, त्यागपत्र, सुनीता, परदा, कल्याणी, मुक्तिबोध आदि उनके प्रमुख उपन्यास हैं। जैनेन्द्र के उपन्यासों का केन्द्र विवाह और प्रेम है। ये जैनेन्द्र के उपन्यासों को दूर तक ले जाने वाली विषय वस्तु है। उनके सभी उपन्यासों में पत्नी और प्रेमिका का द्वन्द्व दिखाई देता है।

'परदा' से यह धारणा शुरू होती है कि पत्नी और प्रेयसी एक ही स्त्री नहीं हो सकती है। पुरुष इस द्वन्द्व को झेलने के लिए अभिशप्त है। जैनेन्द्र का मानना है कि विवाह संबंधों की निजता को खत्म कर देता है और संबंध निजता के आर्द्रता के बिना रह नही सकता। जैनेन्द्र के उपन्यास एक प्रकार से सांस्थानिकता एवं निजता के बीच के द्वन्द्व के आख्यान हैं। 'त्यागपत्र' इस दृष्टि से हिन्दी के सर्वाधिक चर्चित उपन्यासों में से एक है।

जैनेन्द्र पर गांधीवाद का ऋणात्मक प्रभाव है। उनके पात्र कहीं प्रतिरोध नहीं

करते हैं। वस्तुतः जैनेन्द्र के उपन्यास समाज–व्यवस्था को निजता के स्तर पर चुनौती देते हैं। जैनेन्द्र पर जैन दर्शन का भी प्रभाव है। उनके पात्र आत्मपीड़न की मानसिकता के शिकार हैं।

प्रेमचन्द के बाद ऐसे उपन्यासों की एक लम्बी परम्परा है जो सामाजिक जीवन के यथार्थ को लक्ष्य बनाकर चली। इस धारा के उपन्यासकारों का मानना है कि व्यक्ति को सामाजिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में ही देखा जा सकता है। समाज–केन्द्रित ऐसे उपन्यासों की दो कोटियां हैं जिन्हें हम सामाजिक और समाजवादी उपन्यास कह सकते हैं। सामाजिक उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ का चित्रण रचनाकार के अपने अनुभवों से प्रेरित होता है, न कि किसी संस्थागत दृष्टि से। ऐसे उपन्यासकारों में निम्नांकित रचनाकारों के नाम उल्लेखनीय हैं –

अमृतलाल नागर	–	बूंद और समुद्र, अमृत और विष
भगवतीचरण वर्मा	–	भूले बिसरे चित्र, टेढ़े–मेढ़े रास्ते
भीष्म साहनी	–	तमस
नरेश मेहता	–	यह पथ बंधु था
राजेन्द्र यादव	–	सारा आकाश
धर्मवीर भारती	–	सूरज का सातवां घोड़ा
शानी	–	काला जल
श्रीलाल शुक्ल	–	रागदरबारी
गिरिराज किशोर	–	लोग
शिवप्रसाद सिंह	–	बड़ी चम्पा, छोटी चम्पा

समाजवादी उपन्यासों में चित्रित यथार्थ का आधार रचनाकार की अपनी दृष्टि नहीं बल्कि मार्क्सवादी सैद्धांतिकता है। अतः वर्ग–संघर्ष और सामाजिक समता की कामना इन उपन्यासों में दिखाई देती है। इस धारा के मुख्य उपन्यासकार हैं –

यशपाल	–	पार्टी कामरेड, दादा कामरेड
अमृतराज	–	बीज, नागफनी का देश
रांगेय राघव	–	घरौंदा, सीधा–साधा रास्ता
भैरव प्रसाद गुप्त	–	मशाल, गंगा मैया

मार्क्सवाद से प्रेरित यह रचनाशीलता बहुत दिनों तक नहीं चली। आगे जो मार्क्सवाद से प्रेरित रचनाकार हुए उन्होंने कट्टरता को छोड़ा और अपने को प्रेमचन्दीय सामाजिक चेतना से जोड़ा।

समाजवादी या प्रगतिवादी उपन्यासकारों में यशपाल सबसे चर्चित उपन्यासकार हैं। दादा कामरेड और पार्टी कामरेड के अतिरिक्त 'मनुष्य के रूप', 'दिव्या और झूठा सच' उनके प्रमुख उपन्यास हैं। 'मनुष्य के रूप' के माध्यम से संबंधों के सत्य का उद्घाटन करना चाहते हैं। समान आर्थिक हैसियत में ही प्रेम हो सकता है। इसलिए प्रेम कोई सनातन एवं सार्वभौमिक भाव चेतना नहीं है। प्रेम संबंधों में भी वर्गीय सत्य होता है। इस प्रकार यशपाल 'मनुष्य के रूप' में इस मत को स्थापित करते हैं कि मानवीय संबंध आर्थिक संबंध होते हैं। किस प्रकार व्यक्ति की आर्थिक स्थितियां सामाजिक स्थितियों को प्रभावित करती हैं, 'मनुष्य के रूप' में यह सवाल कई कोणों से देखा गया है।

'दिव्या' इतिहास की पृष्ठभूमि में लिखा गया उपन्यास है। मार्क्सवाद के अनुसार इतिहास की प्रकृति वस्तुवादी होती है। इसलिए इतिहास के प्रति यशपाल की दृष्टि भी वस्तुवादी एवं विश्लेषात्मक है। वह वर्तमान को संपूर्णता में समझने की एक पद्धति भी है। 'दिव्या' सामाजिक पराधीनता में स्त्री की कथा है। यशपाल संभवतः यह दिखाना चाहते हैं कि एक विशेष सामाजिक व्यवस्था में स्त्री परतंत्र है। उसे कोई आर्थिक स्वतंत्रता नहीं है, उसे वरण की स्वतंत्रता नहीं है।

झूठा सच विभाजन की त्रासदी को अनेक बिन्दुओं पर उद्घाटित करता है। सामान्यतः यह माना जाता है कि विभाजन धार्मिक उन्माद की परिणति है। किन्तु यशपाल के लिए यह धर्म का मसला नहीं है, बल्कि इसके पीछे आर्थिक–राजनीतिक शक्तियां हैं। यशपाल आजादी के पूर्व एवं बाद के प्रशासन, राजनीति, मानवीय संबंधों आदि सभी स्थिति–परिस्थितियों को एक बड़े फलक पर चित्रित करते हैं। मूलतः इस उपन्यास का लक्ष्य इस सत्य की स्थापना है कि इतिहास के प्रत्येक मोड़ का अन्तर्वर्ती कारण धार्मिक नहीं आर्थिक होता है।

भीष्म साहनी मार्क्सवादी परम्परा के शांत एवं सहज रचनाकार हैं। वे साधारणता के लेखक हैं। उनकी औपन्यासिक संरचना में चमत्कृत करने वाला कोई तत्व नहीं है लेकिन गति की दुर्लभ व्यवस्था है। 'तमस' भीष्म साहनी का बहुचर्चित उपन्यास है। इस उपन्यास की

पृष्ठभूमि विभाजन के दंश को झेलता हुआ पंजाब है। वे विभाजन की त्रासदी को भावात्मक रूप में न लेकर वस्तुवादी आग्रहों से समझने की कोशिश करते हैं। 'तमस' मनुष्य की अमानवीयता की कहानी कहता है लेकिन स्थिति के अत्यन्त निराशाजनक होने के बावजूद वहां एक आशा भी है।

इस प्रकार प्रगतिवादी उपन्यासकारों ने समाज और व्यवस्था को देखने एवं चित्रित करने की एक नवीन पद्धति दी। राजनीतिक परिवर्तन एवं सामाजिक संबंधों की पहचान मार्क्सवादी उपन्यासकारों की केन्द्रीय चुनौती है। इस स्तर पर वे यथार्थवादी होते हुए भी प्रेमचंद की परम्परा से भिन्न हैं।

प्रेमचंदोत्तर **ऐतिहासिक–पौराणिक–सांस्कृतिक उपन्यासों** में लेखकों ने ऐतिहासिक– पौराणिक परिवेश को उसी सच्चाई में मूर्तिमान करते हुए ऐसे मूल्यों एवं प्रश्नों को उभारा है जो अधिक व्यापक और गहन होने के नाते वर्तमान जीवन को भी अपनी परिधि में लेते हैं। इस धारा के उल्लेखनीय रचनाकार हैं :

राहुल सांकृत्यायन	–	सिंह सेनापति, जय यौधेय
भगवती चरण वर्मा	–	चित्रलेखा
वृन्दावन लाल वर्मा	–	मृगनयनी, गढ़कुण्डार
चतुरसेन शास्त्री	–	वैशाली की नगर–वधू, सोमनाथ, वयं रक्षामः
रांगेय राघव	–	मुर्दों का टीला, पक्षी और आकाश
हजारी प्रसाद द्विवेदी	–	बाण भट्ट की आत्मकथा

वर्तमान मनुष्य के मानसिक क्षितिज के विस्तार में इन उपन्यासों की भूमिका महत्वपूर्ण है।

स्वतंत्रता के बाद फणीश्वर नाथ 'रेणु' के उपन्यास 'मैला आंचल' के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी उपन्यास की विकास–यात्रा में एक नितान्त मौलिक कड़ी **आंचलिक उपन्यासों** की जुड़ी। साहित्य में आंचलिकता के उदय के कुछ कारण थे। प्रजातंत्र में मतों का बहुत बड़ा हिस्सा गांवों में होने के कारण गांव राजनीति के केन्द्र में आ गया। राजनेताओं का, प्रेस का, बुद्धिजीवियों का ध्यान गांवों की ओर गया। गांव से जो पीढ़ी शहर आयी थी, उसमें नोस्टेलजिया के स्तर पर गांवों के प्रति मोह का उदय हुआ। राष्ट्रीय लक्ष्य स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद सामूहिकता की भावना खंडित हुई और प्रान्तीयता एवं क्षेत्रीयता उभरी। अतः

सामूहिकता

हिन्दी उपन्यास में भी आंचलिकता की प्रवृति आयी। स्थानीयता आंचलिक उपन्यासों की बुनियादी इकाई है। एक अंचल विशेष की संस्कृति, जीवन–पद्धति, परम्परा, भाषा आदि का चित्रण इनमें होता है। **कथा–योजना में विकेन्द्रण और प्रकृति का व्यापक चित्रण** इनकी विशेषता है। अंचल विशेष को संपूर्णता में उभारना ही इनका लक्ष्य होता है। इस धारा के मुख्य उपन्यासकार हैं –

फणिश्वर नाथ रेणु	–	मैला आंचल, परती परिकथा
नागार्जुन	–	बलचनमा, रतिनाथ की चाची
रांगेय राघव	–	कब तक पुकारूँ
राही मासूम रजा	–	आधा गांव
रामदरश मिश्र	–	जल टूटता हुआ।

ये उपन्यास आंचलिकता के प्रमाणिक और अकाट्य दस्तावेज के रूप में समादृत हुए।

आजादी के बाद तेजी से बढ़ते हुए महानगरों एवं नगरों ने उनमें रहने वाले मनुष्यों के जीवन को भी बदला। इस जीवन के खास लक्षणों का चित्रण जिन उपन्यासों में हुआ है उन्हें हम **आधुनिक भावबोध या महानगर बोध के उपन्यास** कह सकते हैं। केन्द्र का अभाव, मनुष्य और मनुष्य के बीच माध्यमता की अनिवार्य उपस्थिति, प्रतिस्पर्धा, यौन–संबंधों की उन्मुक्तता आदि महानगर के खास लक्षण हैं। स्त्री–पुरुष संबंधों के निश्चित ढांचे के अभाव एवं महानगर की आर्थिक समस्याओं के कारण मनुष्य और मनुष्य के बीच की बढ़ती दूरियों के फलस्वरूप अकेलापन, अजनबीपन, तनाव, बोरियत, आत्मनिर्वासन जैसी स्थितियों का जन्म हुआ। महानगर बोध के उपन्यास इन्हीं से संदर्भित हैं। प्रकृति, संबंधों की आत्मीयता एवं सामाजिक जीवन का अभाव इन उपन्यासों में दिखाई देता है। महानगर–बोध के उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं –

निर्मल वर्मा	–	वे दिन, एक चिथड़ा सुख
मोहन राकेश	–	अंधेरे बंद कमरे, न आने वाला कल
जगदम्बा प्रसाद दीक्षित	–	मुर्दाघर

कुछ उपन्यास पूरी तरह यौन–चेतना से संबंधित हैं। जीवन के अन्य आयामों का घोर अभाव, काम संबंधों का खुला चित्रण और मनुष्य का जैविक रूप इनकी विशेषताएं हैं। ऐसे उपन्यासकारों में मुख्य हैं –

राजकमल चौधरी	–	मछली मरी हुई
कृष्णा सोबती	–	सूरजमुखी अंधेरे के
मृदुला गर्ग	–	चितकोबरा
मणिमधुकर	–	सफेद मेमने

ये उपन्यास अपने इतिहास की उपज नहीं हैं, बल्कि इतिहास के एक खास समय में उत्पन्न मानसिक प्रवृतियों के परिणाम हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास की एक धारा **मोहभंग वाले उपन्यासों** की है। स्वप्न, कल्पना और आकांक्षा की संपूर्ण अनुपस्थिति मोहभंग का आधरभूत लक्षण है। इसलिए जीवन के सकारात्मकता और मूल्य–चेतना से रहित स्थितियों के भाव को ही मोहभंग कहा गया है। इस दृष्टि से मोहभंग का सबसे चर्चित उपन्यास है – श्रीलाल शुक्ल का **'रागदरबारी'**। इसमें प्रशासन, राजनीतिक और शिक्षा जीवन के इन तीन महत्वपूर्ण स्तरों पर व्याप्त भ्रष्टाचार एवं मूल्यहीनता का व्यंग्यात्मक चित्रण है। अन्य उपन्यास हैं –

विनोद कुमार शुक्ल	–	नौकर की कमीज
काशीनाथ सिंह	–	अपना मोर्चा
गिरिराज किशोर	–	लोग, ढाई घर, जुगलबंदी

स्त्री–लेखन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण घटना है, क्योंकि आजादी से पहले महिला–लेखन की कोई धारा नहीं दिखाई देती। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास की एक धारा महिला लेखन के उपन्यासों की है। आजादी के बाद भारत की सामाजिक–संरचना में एक खास तरह का बदलाव दिखाई देता है – वह है स्त्री का घर से बाहर निकलना। स्त्रियों का एक बड़ा वर्ग नौकरीपेशा हुआ। इस आर्थिक स्वनिर्भरता से मानसिक स्वाधीनता आई। शिक्षा की समानता एवं कार्य की समानता के कारण उत्पन्न अस्मिता बोध की चेतना ने स्त्री–पुरुष संबंधों को नए तनावपूर्ण आयाम दिए जो महिला–लेखन के उपन्यासों के विषय हैं। पति–पत्नी के संबंधों का तनाव, तलाक की प्रक्रिया में एवं पति–पत्नी के तनाव में त्रासदी भोगता हुआ बच्चा, समाज के नैतिक मानदण्डों की पुनर्व्याख्या आदि को चित्रित करने का काम महिला उपन्यासकारों ने किया। इनमें प्रमुख उपन्यासकार हैं –

1. **कृष्णा सोबती** : एक स्तर पर कृष्णा सोबती ने न केवल स्त्री–लेखन की शुरूआत की, बल्कि उसे पहचान भी दी। उनके उपन्यास 'जिन्दगीनामा' को एक प्रकार से आंचलिक उपन्यास भी कहा जा सकता है। पंजाब की संस्कृति और जीवन–संबंधों की महागाथा के रूप में इसकी रचना हुई है। 'दिलो–दानिश' दिल्ली की पृष्ठभूमि में लिखा गया उपन्यास है। इसमें बीत गई दिल्ली और बाद की दिल्ली की तहजीब और इंसानी रिश्तों की प्रकृति को जीवंतता से उभारा गया है।

कृष्णा सोबती के लेखन की मुख्य वस्तु समय के दो बिन्दुओं में संबंधों की भिन्न–भिन्न स्थितियों को प्रस्तुत करना है। कृष्णा सोबती ने स्त्री–पुरुष के यौन–संबंधों को भी अपना विषय बनाया है। देह–संबंधों से उत्पन्न अनुभव को सजीव धरातल पर चित्रित करने वाले उनके प्रमुख उपन्यास है –

1. सूरजमुखी अंधेरे के
2. यारों के यार
3. मित्रो मरजानी

2. **मन्नू भण्डारी** : मन्नू भण्डारी कृष्णा सोबती के बाद सर्वाधिक चर्चित एवं महत्वपूर्ण महिला उपन्यासकार हैं। उनके प्रमुख उपन्यास हैं :

1. आपका बंटी
2. महाभोज

इन दोनों उपन्यासों का विषय बिल्कुल भिन्न है। विषय की भिन्न दिशाओं में इतनी समर्थ छलांग विस्मित करती है। 'आपका बंटी' बच्चे को केन्द्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है। आजादी के बाद स्त्री–पुरुष संबंधों में आए बदलाव और उस बदलाव का बच्चे के जीवन पर आए हुए प्रभाव का इसमें अंकन है। इस उपन्यास की चर्चा महज कथ्य के कारण नहीं है, उसका शिल्प बोध भी बहुत महत्वपूर्ण है। अनेक प्रतीकात्मक संदर्भों में उन्होंने बंटी के मार्मिक जीवन–प्रसंगों का उद्घाटन किया है। साथ ही प्रभावशाली एवं सहज भाषा का प्रयोग भी इस उपन्यास को विशिष्ट बनाता है।

'महाभोज' का महत्व दो कारणों से है। एक तो यह उपन्यास स्त्री–लेखन की परम्परागत छवि को तोड़ देता है। स्त्री–लेखिकाएं सामान्यतः संबंधों पर लिखती रही हैं।

स्त्री–पुरुष का दाम्पत्य–जीवन तथा प्रेम–संबंध उनके विषय रहे हैं। महाभोज इस दायरे से स्त्री–लेखन को बाहर निकालता है। यह आपातकाल के बाद लिखी हुई रचना है। इसमें मन्नू भण्डारी ने मूल्यहीन होती राजनीति, सत्ता की तिकड़में और उसकी हीनता को बेहद बेबाकी और प्रभाव के साथ अंकित किया है। संतत्व और शैतानियत बिना किसी कुण्ठा के धारण करने वाले राजनेताओं को यह उपन्यास बेनकाब करता है। समाज की विपत्ति राजनेताओं के लिए महाभोज का अवसर होती है।

महिला लेखन के अन्य मुख्य उपन्यासकार हैं :

उषा प्रियंवदा	–	पचपन खंभे लाल दीवारें, रूकोगी नहीं राधिका
मृदुला गर्ग	–	चितकोबरा, कठगुलाब
मैत्रेयी पुष्पा	–	इदन्नमम, बेतवा बहती रही, चाक
प्रभा खेतान	–	छिन्नमस्ता
अलका सरावगी	–	कलिकथा वाया बाईपास, शेष कादम्बरी

समकालीन हिन्दी साहित्य में विभिन्न तरह के उपन्यासों की रचना हो रही है। इनमें स्वतंत्रता के बाद आयी प्रवृतियों का विकास भी दिखायी दे रहा है और कुछ नयी प्रवृतियों वाले उपन्यास भी लिखे जा रहे हैं।

उत्तर आधुनिकतावादी विचारधारा एवं टेलीविजन क्रांति से उत्पन्न उपभोक्तावादी संस्कृति ने जिस मनुष्य को जन्म दिया है वह चिन्तनहीन दर्शक मनुष्य है जो प्रतिकार नहीं करता बल्कि स्थितियों में अपने को घुलाता है। उसकी चिन्ता अपने स्व की है, अपनी सुविधा की है। उपभोक्तावादी संस्कृति से संदर्भित उपन्यासों की रचना हो रही है। इनमें प्रमुख हैं :

मनोहर श्याम जोशी	–	हरिया हरिक्यूलस की हैरानी, हमजाद
सुरेन्द्र वर्मा	–	मुझे चाँद चाहिए

आतंकवाद समकालीन भारत की त्रासदी है। तरसेम गुजराल के उपन्यास 'जलता गुलाब' में 80 के बाद उदित हुए आतंकवाद को विषय बनाया गया है।

फिल्मों और नाटक से जुड़े हुए लोगों के भीतरी जीवन, ग्लैमर, नैतिकता, अनैतिकता का उद्घाटन कुछ उपन्यास करते हैं :

पंकज बिष्ट – लेकिन दरवाजा

निर्मल वर्मा – रात का रिपोर्टर

समकालीन उपन्यासों में अन्य प्रमुख रचनाएं हैं –

अब्दुल विस्मिल्लाह – झीनी झीनी बीनी चदरिया

मंजूर एहतेशाम – सूखा बरगद

गिरिराज किशोर – ढाई घर

विष्णु प्रभाकर – अर्द्धनारीश्वर

वीरेन्द्र जैन – डूब, पार

'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' एवं 'सूखा बरगद' परिस्थितियों की नकारात्मकता में मनुष्य की हस्तक्षेप शक्ति के अस्तित्व का प्रमाण देते हैं। ढाई घर मूल्य–व्यवस्था के परिवर्तनशील स्वरूप की जांच–पड़ताल करता है। अर्द्धनारीश्वर एक स्त्री की मानसिक कुंठाओं और उसके प्रति सामाजिक दृष्टियों का गहरा मूल्यांकन विचार और दर्शन के धरातल पर करता है। 'डूब' और 'पार' विस्थापन के दर्द एवं सांस्कृतिक त्रासदी को अभिव्यक्त करने वाले उपन्यास हैं।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि उपन्यास समाज और उसमें रहने वाले मनुष्य की जीवन–परिस्थितियों, उसकी मूल्य–चेतना एवं परम्परा बोध का प्रामाणिक दस्तावेज है। हिन्दी उपन्यास के शिखर–पुरुष प्रेमचन्द ने कहा था कि मैं उपन्यास को मानव–जीवन का चित्र–मात्र समझता हूं। हिन्दी उपन्यास अपनी विकास–यात्रा में वस्तुतः इतिहास और सामाजिक परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न किए गए बदलते हुए मनुष्य का चित्र उभारता है। हालांकि इस लम्बी विकास–यात्रा में कई बार उपन्यास ने अपनी रचनात्मक ऊर्जा एवं सामाजिक लक्ष्यों को धूमिल किया है लेकिन अपनी समग्रता में यह मनुष्य की आस्था और जिजीविषा की पक्षधरता का आश्वासन देता है।

हिन्दी कहानी का विकास

एक साहित्यिक विधा के रूप में हिन्दी कहानी की शुरूआत पश्चिमी प्रभाव से बीसवीं शताब्दी में होती है। कुछ विद्वानों का मानना है कि हिन्दी की पहली कहानी इंशा अल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' है जिसका रचनाकाल 1901 के आसपास है। लेकिन यह कहानी

अपने गठन में कहानी दिखाई नहीं पड़ती। अब अधिकांश विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि हिन्दी की पहली कहानी माधवराव सप्रे की 'एक टोकरी भर मिट्टी' (1901) है।

1901 से लेकर 1915 तक के समय को कहानी के विकास का पहला चरण माना गया है। कहानी अपने पहले चरण में भारतीय कथा–परम्परा और नवजागरण के आदर्श से प्रेरित है। रोमानियत, आदर्श और राष्ट्रीयता हिन्दी की आरंभिक कहानियों के मूल आधार हैं और इसमें रचनाकार वास्तविक जीवन की तुलना में अपने मस्तिष्क के आदर्शों से प्रेरित है। इस चरण की प्रमुख कहानियां हैं :

एक टोकरी भर मिट्टी	–	माधवराव सप्रे
प्लेग की चुड़ैल	–	मास्टर भगवानदास
ग्यारह वर्ष का समय	–	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
दुलाईवाली	–	बंगमहिला
ग्राम	–	जयशंकर प्रसाद
राखीबंद भाई	–	वृंदावन लाल वर्मा
कानों में कंगना	–	राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह
उसने कहा था	–	चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी'

'उसने कहा था' कहानी नितांत सहज और यथार्थ परिवेश में अपने को खोलना आरंभ करती है और यह कहानी आधुनिक कथा–उपकरणों की शर्तों को पूरा करती है।

1915 के बाद हिन्दी कहानी के क्षितिज पर प्रेमचन्द का उदय होता है। प्रेमचन्द ने हिन्दी कहानी को अत्यन्त ऊंचाई प्रदान की। प्रेमचन्द भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के कथाकार हैं। इसकी मूल्य--दृष्टियों और लक्ष्यों की अनुगूंज उनकी कहानियों में दिखाई पड़ती है।

प्रेमचन्द की कहानियों की विकास–यात्रा को तीन चरणों में बांटकर देखा जा सकता है। उनकी आरंभिक कहानियां भारतीय स्वाधीनता के मूल्यों को अभिव्यक्त करती हैं। पंचपरमेश्वर उनकी आरंभिक कहानियों का प्रतिनिधित्व करती है। दूसरे चरण में वे यथार्थ का चित्रण करते हुए आदर्श तक पहुंचते हैं। ऐसी कहानियों में 'बड़े घर की बेटी', 'मंत्र', 'मुक्तिपथ', 'नमक का दारोगा' प्रमुख हैं। अपनी इन आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहानियों में प्रेमचन्द की भारतीयता के प्रति, मनुष्यता के प्रति गहरी आस्था दिखाई पड़ती है। प्रेमचन्द की तीसरे चरण की कहानियां पूर्णतः यथार्थवादी हैं। वे इन कहानियों में यथार्थ की कुरूपता और

भयावहता को चुनते हैं और इस चित्रण में तटस्थ बने रहते हैं। ईदगाह, सवा सेर गेहूं, ठाकुर का कुआ, शतरंज के खिलाड़ी, पूस की रात, कफन आदि प्रेमचन्द की यथार्थवादी कहानियां हैं।

प्रेमचन्द की कहानियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद हिन्दी कहानी–परम्परा के शीर्ष पुरुष हैं। उन्होंने हिन्दी प्रदेश को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित करने और उसकी समस्याओं को पहचानने का काम किया। प्रेमचन्द युग के प्रेमचन्दानुगामी अन्य कहानीकारों में सुदर्शन (हार की जीत) और विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' (ताई) प्रमुख हैं।

1915 से लेकर 1935 तक के बीच की प्रेमचन्द के समानांतर ही हिन्दी–कहानी की दूसरी धारा जयशंकर प्रसाद और उनके अनुवर्ती रचनाकारों की है। प्रेमचन्द की कहानियों का संबंध जहां भारतीय समाज के वर्तमान, उसकी समस्याओं और यथार्थवाद से है, वहीं प्रसाद की कहानियां भाववादी हैं। अतः उनका संबंध अतीत एवं भावात्मक समस्याओं से है। आकाशदीप, पुरस्कार, मधुआ आदि प्रसाद की प्रतिनिधि कहानियां हैं। इस प्रकार भाव और यथार्थ का समानान्तर विकास हिन्दी कहानी की विकास–यात्रा में 1935 तक दिखाई देता है।

जैनेन्द्र और अज्ञेय की कहानियों के आधार पर हिन्दी कहानी के एक चरण को मनोवैज्ञानिक कहानियों की संज्ञा दी जा सकती है। इन कहानियों का आधार फ्रायड का मनोविश्लेषणवाद है पर ठीक–ठीक सैद्धांतिक मनोविश्लेषण नहीं। मनोवैज्ञानिक कहानियों में कथानक लगभग खत्म हो जाता है और मानसिक सत्य कथा बन जाती है। आरंभ, उत्कर्ष और अंत की शृंखलाबद्धता टूट जाती है एवं कहानी अपने अंत में किसी लक्ष्य या आदर्श को आलोकित नहीं करती है।

जैनेन्द्र की कहानियों को तीन हिस्सों में रखकर देखा जा सकता है। उनकी कहानियों का एक हिस्सा मनोविज्ञान से संबंधित कहानियों का है। 'पाजेब' और 'खेल' इस दृष्टि से प्रमुख कहानियां हैं। जैनेन्द्र अपनी दूसरी प्रकार की कहानियों में विचार और दर्शन को कथावस्तु के रूप में रूपांतरित करते हैं। ऐसी कहानियों में 'नीलम देश की राजकन्या' उल्लेखनीय हैं। जैनेन्द्र की कहानियों का एक अन्य हिस्सा पारिवारिक जीवन से संबंध रखता है। 'पत्नी' ऐसी ही कहानी है। जैनेन्द्र हिन्दी कहानी की बहिर्मुखता को अन्तर्मुखता और वैचारिकता प्रदान कर उसे एक नया आयाम देते हैं और साथ ही नई भाषा भी। प्रतीकात्मकता

और अमूर्तता जैनेन्द्र की कथा–शिल्प के महत्वपूर्ण संगठन हैं। घटनाओं की विरलता और पात्रों की सीमित संख्या जैनेन्द्र की कहानियों की खास पहचान है।

अज्ञेय की मूल चिन्ता व्यक्ति–अस्मिता की चिन्ता है। आत्म–विश्लेषण और अस्मिता के प्रश्न उनकी आरंभिक कहानियों में दिखाई देते हैं। 'रोज' अज्ञेय की प्रतिनिधि कहानी है जो नयी कहानी की पृष्ठभूमि के रूप में लिखी जाती है। 'शरणार्थी', विभाजन और सांप्रदायिकता पर आधारित कहानी है। अज्ञेय की कहानियों की सबसे बड़ी शक्ति है – उसकी भाषा, चित्रण की जीवंतता और उसकी मनोवैज्ञानिक गहराई। इस प्रकार जैनेन्द्र और अज्ञेय ने प्रेमचंद की कथा–परम्परा से भिन्न होते हुए भी हिन्दी कहानी को अधिक जीवन्त और व्यक्त बनाया।

हिन्दी कहानी का एक भाग प्रगतिशील आन्दोलन से जुड़ा है। प्रगतिवादी कहानियां अपनी मूल प्रकृति में गरीब और शोषित जनता की कारुणिक दशा का चित्रण करती हैं। ऐसे कहानीकारों में राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, भैरव प्रसाद गुप्त, अमृतराय इत्यादि के नाम महत्वपूर्ण हैं।

इन वैचारिक प्रतिबद्धताओं के खिलाफ हिन्दी के अत्यन्त चर्चित और विवादास्पद कथा–आंदोलन 'नयी कहानी' का जन्म होता है। 1956 ई0 में भैरव प्रसाद गुप्त के संपादन में 'नयी कहानी' नाम की पत्रिका का एक विशेषांक निकाला। इसी विशेषांक के आधार पर अगली कड़ी की कहानियों को नयी कहानी के नाम से संज्ञापित किया गया। नयी कहानी ने परम्परागत कहानी के अन्तर्वस्तु और शैल्पिक उपकरणों को अस्वीकार किया। मूलतः नयी कहानी का नयापन उस लेखकीय दृष्टिकोण में है जो सन् 50 से विकसित हुई है। नयी कहानी को वैचारिक आयाम प्रदान करने वाले प्रस्तावकों में **कमलेश्वर, मोहन राकेश** और **राजेन्द्र यादव** का नाम प्रमुख है।

नयी कहानी की महत्वपूर्ण घोषणाओं में आधारभूत घोषणा थी – 1) **अनुभूति की प्रामाणिकता**। कहानी विचारों से नहीं, रचनाकार के अनुभव से लिखी जाती है। इसलिए कहानी विचार के प्रति नहीं, अनुभव के प्रति जवाबदेह है। अतः नई कहानी प्रगतिवादी और मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार की कहानियों का निषेध करती है और भोगे हुए यथार्थ को अपने केन्द्र के रूप में स्वीकार करती है।

नयी कहानी 2) **रिश्तों के टूटने की त्रासदी** को व्यक्त करती है। सामंतवादी व्यवस्था के खत्म होने और खास तरह के शहरी मध्यवर्ग के उदय से संबंधों की प्रकृति में बदलाव आया और संबंधों के भीतर टूटन का एक नया युग शुरू हुआ । नयी कहानी ने बड़े पैमाने पर इस टूटन को अंतर्वस्तु के रूप में चित्रित किया। ऐसी कहानियों में उषा प्रियंवदा की 'वापसी' और भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' अत्यंत चर्चित रही हैं। 'वापसी' में एक रिटायर्ड आदमी की कथा है जो घर आकर अपने को निहायत अतिरिक्त और फालतू समझने लगता है। 'चीफ की दावत' नए मनुष्य और परम्परागत मनुष्य के बीच आए दरकन को काफी प्रभाव के साथ चित्रित करती है।

'नयी कहानी' का सर्वाधिक बल 3) **स्त्री–पुरुष संबंधों में आए बदलाव** को चित्रित करने पर है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में **स्त्री की आर्थिक स्वाधीनता और पुरुष के सामंती संस्कारों में टकराव** के कारण कई प्रकार के तनावों और सामाजिक समस्याओं का जन्म हुआ। तलाक और पर–संबंध समाज की नयी प्रकृतियां थीं। संपूर्ण नयी कहानी में स्त्री–पुरुष संबंधों का तनाव रचनात्मक स्तर पर प्रतिफलित हुआ है। इस तरह की कहानियों में निम्नांकित प्रमुख हैं –

एक और जिन्दगी		मोहन राकेश
सावित्री नंबर दो	–	धर्मवीर भारती
यही सच है	–	मन्नू भंडारी
अपने अपने ताजमहल	–	राजेन्द्र यादव
राजा निरबंसिया	–	कमलेश्वर
लंदन की एक रात	–	निर्मल वर्मा

इस प्रकार नयी कहानी की सामाजिकता बदल जाती है। प्रेमचन्द पूरा समाज बदलना चाहते हैं, उनका कारण जानना चाहते हैं। पर नयी कहानी पैदा हुई नई परिस्थितियों के सामने आत्मसमर्पण करती है। यह उनसे टकराती नहीं, संघर्ष नहीं करती, उसे नियति के रूप में स्वीकार करते हुए उसमें विलीन हो जाती है।

नयी कहानी 4) **यौन–नैतिकता की अवधारणा की पुनर्व्याख्या करती है।** वह मानती है कि **नैतिकता की व्याख्या यौन–संबंधों से नहीं** हो सकती। अतः सेक्स के प्रति

नया दृष्टिकोण नयी कहानी में विकसित हुआ जो नैतिक कुंठा से मुक्त था। फलस्वरूप नयी कहानी में यौन का स्वाभाविक चित्रण और व्यक्ति–स्वातंत्र्य का उदय हुआ।

कुछ कहानियां यौन–प्रसंगों के अतिरिक्त ठोस सामाजिक प्रसंगों के साथ अपने सरोकार और चिंता जाहिर करती हैं। ऐसी कहानियों में प्रमुख हैं –

दोपहर का भोजन	–	अमरकांत
जिन्दगी और जोंक	–	अमरकांत
पिकनिक	–	भीष्म साहनी
गुलकी बन्नो	–	धर्मवीर भारती
मलबे का मालिक	–	मोहन राकेश

नयी कहानी 5) **मध्यवर्गीय जीवन को संपूर्णता** में अपने भीतर धारण करती है। मध्यवर्गीय मनुष्य की आर्थिक परिस्थितियों, शहर की परिस्थितियों के कारण एवं अपनी जड़ों से उखड़ने और नई स्थिति में न जम पाने के कारण पैदा हुआ अकेलापन, अजनबीपन, तनाव, विडम्बना, संत्रास, विसंगति, निरर्थकता बोध आदि को यह ब्यौरेवार चित्रित करती है। वस्तुतः नयी कहानी मध्यवर्ग तक ही अपने को सीमित रखती है। यह न तो उच्च वर्ग से अपना रिश्ता जोड़ती है और न ही निम्न वर्ग से। यही नयी कहानी को संकुचित करता है। मध्वर्गीय जीवन की उपरोक्त स्थितियों को अभिव्यक्त करने वाली कहानियों में निम्नलिखित कहानियां उल्लेखनीय हैं :

मिस पॉल, आर्द्रा	–	मोहन राकेश
मानस के हंस	–	कमलेश्वर
टूटना	–	राजेन्द्र यादव
अकेली, मैं हार गई	–	मन्नू भंडारी

इस प्रकार नयी कहानी का पूरा रचना–संसार ऐतिहासिक दबावों से उपजी एक नयी सामाजिक जिन्दगी की कथा है। इस सामाजिक जिन्दगी में खास तौर पर संबंधों की त्रासदी और मानवीय जीवन की विडम्बनाओं पर नयी कहानी अपना ध्यान केन्द्रित करती है। लेकिन इतिहास की उपज होकर भी नयी कहानी इतिहास से मुठभेड़ नहीं करती। इसलिए संपूर्ण रचनात्मक लाघव के बावजूद सार्थकता के धरातल पर यह धारा हताश करती है।

6) **कथा की संपूर्णता का ह्रास** नयी कहानी की संरचनात्मक पहचान है। यह परम्परागत कथा–विधान को तोड़ देती है। जो परिवेश है वही एक स्तर पर कथा हो जाती है। छोटी से छोटी घटना, क्षण, मूड के आधार पर नयी कहानी लिखी जाती है। 7) **समानांतर और दोहरे कथानकों की योजना** भी नयी कहानी में की गई है। उदाहरण के लिए कमलेश्वर की कहानी 'राजा निरबंसिया'।

जयशंकर प्रसाद के बाद नयी कहानी **भाषा** का सबसे सशक्त और सर्जनात्मक उपयोग करती है। एक स्तर पर इसकी भाषा लगभग **कविता की भाषा के आसपास** दिखाई देती है। इसलिए नयी कहानियों के शीर्षक में भी एक खास तरह की प्रतीकात्मकता है। कुछ शीर्षक द्रष्टव्य है –

फौलाद का आकाश
गिलास टैंक
उलझते धागे
छोटे–छोटे ताजमहल
खुले पंख, टूटे डैने
जिन्दगी और गुलाब के फूल

नयी कहानी की भाषा सामान्यतः 8) **बिम्ब–बहुला भाषा** है। प्रेमचन्द के यहां भी बिम्ब हैं – कफन, पूस की रात आदि। पर उसमें कहानी नहीं है। प्रेमचन्द की चित्रात्मकता काव्य–चेतना से पैदा न होकर जीवन के गहरे बोध से पैदा होती है। पर नयी कहानी में यह काव्यात्मकता के धरातल पर दिखाई देती है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं –

क– पर्वतों से आए मेहमान पक्षियों के सफेद दांत
ख– हवा में चीड़ वृक्षों की सांय–सांय

समग्रतः नयी कहानी ने अब तक के कुछ अछूते विषयों को कहानी का विषय बनाया तथा रचना को वैचारिक जड़ता से मुक्त कर उसे एक आनुभूतिक गरमाहट प्रदान की। भाषा में निहित रचनात्मक संभावनाओं का चरम उपयोग नयी कहानी ने किया। इस प्रकार नयी कहानी की विकासधारा में एक कड़ी जोड़ते हुए उसे एक नया आयाम देती है और वयस्कता प्रदान करती है।

नयी कहानी के पश्चात् **अकहानी, सचेतन कहानी, सहज कहानी, समान्तर कहानी**, सक्रिय कहानी इत्यादि कथा–आंदोलनों से लेकर समकालीन कहानी तक की विकास यात्रा हिन्दी कहानी की बदलती मानसिकता को कायद से रेखांकित करती है। ये आन्दोलन दीर्घजीवी नहीं हुए पर फिर भी इन्होंने हिन्दी कहानी में महत्वपूर्ण स्थान बनाया।

छठे–सातवें दशक में 'नयी कहानी' की प्रतिक्रिया और पश्चिम के 'एन्टी स्टोरी' के अनुकरण में **'अकहानी आंदोलन'** का जन्म हुआ। सार्त्र और कामू की अस्तित्ववादी विचारधारा से प्रभावित इस आंदोलन ने नयी कहानी की रोमानियत, आदर्शीकरण और काव्यात्मक भाषा का विरोध किया। वस्तुतः अकहानी सभी प्रकार की नैतिक मान्यताओं, आदर्शों एवं मूल्यों, विशेषतः स्त्री–पुरुष संबंधों में निहित नैतिक चेतना के खिलाफ विद्रोह करती है। यह अभिव्यक्ति की निरर्थकता, भाषा और भावों की अमूर्तता तथा व्यक्तित्व की विसंगति को प्रश्रय देती है।

अकहानीकारों ने घोषणा की कि कहानी का मूल लक्ष्य **व्यक्तित्व की खोज** है और इस लक्ष्य को भावुकता और विचार के बगैर पाया जाना चाहिए। पर व्यक्तित्व की खोज के रूप में अकहानी ने जैविकता की ही खोज की और बड़े पैमाने पर यौन–प्रसंगों का अश्लील चित्रण किया। इसने **आत्मपीड़न, संत्रास, मनुष्य की जैविक नियति** इत्यादि नकारात्मक पक्षों को ही सत्य मानकर रचना की वस्तु के रूप में स्वीकार किया। फैंटेसी, डायरी, एकालाप और असंबद्ध आत्मप्रलाप का शिल्प इस्तेमाल करने वाली इस कहानी में एक अजीब प्रकार की शैल्पिक अराजकता दिखाई देती है। कुल मिलाकर इस कहानी–आन्दोलन की कोई रचनात्मक या सामाजिक संभावना नहीं दिखाई देती। **जगदीश चतुर्वेदी, श्रीकान्त वर्मा, रवीन्द्र कालिया, दूधनाथ सिंह, परेश** इत्यादि अकहानी आन्दोलन के प्रमुख कहानीकार हैं।

अकहानी की प्रतिक्रिया में कथाकार महीप सिंह के नेतृत्व में **'संचेतन कहानी'** आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। सचेतन कहानी ने अंधेरे सुरंग में फंसी हिन्दी कहानी को खींच कर प्रकाश में जीवन के सरोकारों में ले आने का काम किया। सचेतन कहानी की मूल घोषणा थी – 'सचेतनता एक दृष्टि है जिसमें जीवन जीया भी जाता है और जाना भी जाता है।' नयी कहानी जीवन जीने का चित्रण तो करती है, जानने का चित्रण नहीं करती। जानना मनुष्य होने की अनिवार्य शर्त है जिससे जड़ स्थितियों में परिवर्तन की शुरूआत होती है।

सचेतन कहानी सक्रिय भावबोध की कहानी है। महीप सिंह के अनुसार यह जीवन की स्वीकृति की कहानी है। इस कहानी ने जीवन और रचना के बीच फिर से रिश्ता जोड़ने की कोशिश की और स्वस्थ रचनात्मकता का द्वार खोला। इसके मुख्य रचनाकार हैं –

महीप सिंह	–	सुबह के फूल, उजाले के उल्लू, घिराव
हिमांशु जोशी	–	आदमी जमाने का
मनहर चौहान	–	बीस सुबहों के बाद
सुदर्शन चोपड़ा	–	हल्दी के दाग
रामदरश मिश्र	–	
गंगा प्रसाद विमल	–	

शीर्षकों से ही लगता है कि सचेतन कहानी किस प्रकार कहानी को जैविकता के दलदल से खींच कर जीवन की ठोस जमीन पर खड़ा कर देती है। यही सचेतन कहानी का योगदान है।

अमृतराय ने **'सहज कहानी'** की शुरूआत की। सहज कहानी का सचेतन कहानी से कोई विद्रोह नहीं है। यह मानती है कि नयी कहानी की खोज में कहानी खो गई। दूसरे शब्दों में कहानी में सहजता खो गई और कहानी सहज होनी चाहिए। सहज कहानी वैचारिक प्रतिबद्धता का तिरस्कार तो करती ही है, साथ ही साथ नारों का और कल्पित अनुभूतियों का भी विरोध करती है।

अक्तूबर 1974 से लेकर जुलाई 1984 तक के सारिका के दस अंकों में **'समान्तर कहानी'** आंदोलन और बहस बड़े पैमाने पर चला। इस कहानी आंदोलन का महत्व इसकी रचनाशीलता में नहीं है बल्कि संपूर्ण हिन्दी आलोचना को एक वैचारिक बहस में लपेट लेने में है जिसने कहानी के कद को ऊंचा किया और हिन्दी कहानी के विकास में योगदान किया।

अन्तर्वस्तु के स्तर पर या शिल्प के स्तर पर समान्तर कहानी कोई बदलाव नहीं करती। लेकिन इसकी कुछ अपनी महत्वपूर्ण घोषणाएं हैं –

1. समान्तर कहानी में 'आम आदमी' को अपनी रचनात्मकता का आधार बनाया। इस कहानी के पुरस्कर्ताओं के अनुसार नयी कहानी आम आदमी की बात नहीं करती।

2. ये कहानियां समय–संदर्भों में जन्म लेने वाली ज्वलंत प्रश्नों और यथार्थ से गहरा सरोकार रखती है।

3. समांतर कहानी सही अर्थों में विषमतामूलक समाज का प्रामाणिक दस्तावेज है।

4. इन कहानियों का आम आदमी सांस्कृतिक निरीहता के खिलाफ लड़ाई में जुटा हुआ बताया गया है।

इस प्रकार समान्तर कहानी ने हिन्दी कहानी को आम आदमी के चित्रण और सामाजिक सरोकारों से जोड़ने का काम किया। कमलेश्वर, कामतानाथ, मधुकर सिंह, सतीश जमाली, मृदुला गर्ग इत्यादि समान्तर आंदोलन के प्रमुख रचनाकार हैं।

राकेश वत्स के नेतृत्व में मंच 78 पत्रिका के माध्यम से **सक्रिय कहानी**–आंदोलन की धारणा का सूत्रपात हुआ। इसके अनुसार सक्रिय कहानी का सीधा और स्पष्ट मतलब है – आदमी की सर्जनात्मक ऊर्जा और जीवंतता की कहानी। सक्रिय कहानी उस समझ, इतिहास और बोध की कहानी है जो आदमी को बेबसी, वैचारिक निहत्थेपन और नपुंसकता से निजात दिलाकर पहले स्वयं अपने अंदर की कमजोरियों के खिलाफ खड़ा होने के लिए तैयार करने की जिम्मेदारी अपने सिर लेती है। राकेश वत्स, सुरेश सेठ, राजकुमार सैनी, चित्रा मुद्गल इत्यादि 'सक्रिय आन्दोलन' के प्रमुख कहानीकार हैं।

'नयी कहानी' से लेकर 'सक्रिय कहानी' तक की कहानी के केन्द्र में 'नयी कहानी' ही है। इसी के समर्थन या विरोध में सभी आंदोलन चले। नयी कहानी द्वारा प्रस्तावित रचना–मूल्य और रचना–शिल्प का विकास आगे होता रहा। धीरे–धीरे मध्यवर्ग के संकुचन से निकल कर आम आदमी की कहानी बनी।

सन् 80 से लेकर आज तक की कहानी के दौर को इतिहास में '**समकालीन कहानी**' के रूप में जाना गया है। समकालीन कहानी किसी भी प्रकार की घोषणा बाजी से परहेज करती है। इन कहानीकारों ने घोषणाओं की निरर्थकता को पहचान लिया था जो रचनाशीलता का क्षरण करती है और व्यक्ति को ग्लैमराइज करती है।

समकालीन कहानी रचना की निश्चित प्रकृति तय नहीं करती। रचना–क्षेत्र जीवन की तरह जटिल, बहुआयामी और यथार्थपरक हो गया है इसलिए इसकी निश्चित प्रकृति तय नहीं हो सकती।

समकालीन कहानी अपने को समय के जवाबदेह मानते हुए सिर्फ चित्रण ही नहीं करती, टिप्पणी भी करती है इसलिए वह सचेत रचनाकर्म का प्रमाण है।

समकालीन कहानी में चमत्कार प्रदर्शन का कोई स्थान नहीं है। यह कहानी अपने अंतर्वस्तु के अनुरूप घटनाओं, पात्रों, दृश्यों और भाषा का विधान करती है। जीवन के अत्यधिक निकट होने के कारण समकालीन कहानी में कई कई बार रचनाहीनता का अहसास होता है और इसलिए हिन्दी आलोचना में यह आवाज उठायी गई है कि कहानी की रचना अब बंद कर देनी चाहिए। साथ ही, संचार माध्यमों के अप्रत्याशित विस्फोट के इस युग में समकालीन कहानी का पाठक वर्ग संकुचित हुआ है। फिर भी इस बात में संदेह नहीं है कि जीवन की प्रामाणिकता की तलाश में इतिहास को समकालीन कहानियों की दुनिया में ही लौटना होगा। इस दौर के प्रमुख कहानीकार हैं—

उदय प्रकाश	–	तिरिछ, रामसंजीवन की प्रेम कहानी, पालगोमरा का स्कूटर, पीली छतरी वाली लड़की
शेखर जोशी	–	कोसी का घटवार
अब्दुल बिस्मिल्लाह	–	लंठ
देवी प्रसाद मिश्र	–	सुलेमान कहां हैं, रात

अन्य कहानीकारों में बलराम, संजीव, प्रभा खेतान आदि हैं।

नवगीत : स्वरूप और प्रवृत्तियाँ

नवगीत के अंकुरों के विकसित–प्रस्फुटित होने की पृष्ठभूमि सन् 1950 और 1960 के काव्य–परिदृश्य ने उपस्थित की है। इस दशक की हिन्दी कविता का परिदृश्य कई दृष्टियों से जटिल है। 'निराला' आरंभ से ही अपने गीतों को एक वस्तुपरक भूमि पर स्थापित कर रहे थे। 'गर्म पकौड़ी' और 'बाह्मन का लड़का' जैसे उनके गीत सन् 1942 के आसपास ही इसका संकेत दे चुके थे। बाद में 'भीख माँगता हे जब राह पर/मुट्ठी भर हड्डी का यह नर', 'जल्द–जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ', 'बान कूटता है', 'खेत जोत कर घर आये हैं', 'ऊँट बैल का साथ हुआ है', 'मानव जहां बैल घोड़ा है' जैसे गीतों ने झटका देकर गीत के गिर्द

बुनी हुई 'स्वानुभूति की विवृत्ति' की रूढ़ि को तोड़ दिया। नवगीत के इतिहास और स्वरूप – दोनों का सूत्र हमें यहां से प्राप्त हो जाता है। सन् 1950 और 1960 में विश्व मानव जहां पहुंचा था, वहां आधुनिक दृष्टि को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इस दशक में हम जिस मोह भंग से गुजरे थे, वह हमें तटस्थ नहीं रहने दे सकता था, समाज जिस वर्ग–विभाजन से त्रस्त था, उस शोषण–व्यवस्था से कविता आँख नहीं मूंद सकती थी, घर, परिवार और समाज को समय के जो आघात लग रहे थे, उनकी उपेक्षा केवल शाश्वततावाद के मोह में नहीं की जा सकती थी। आजादी के साथ जो जन–संवेदना जागृत हुई थी, लोक हमारी चेतना का हिस्सा बना था, आदिवासी स्थितियाँ और लोकरंग हमारे अनुभव के अंग बने थे, उन्हें कविता से अनुपस्थित नहीं रखा जा सकता था। पर हिन्दी का पारम्परिक गीत इन सभी स्थितियों से आंख चुराकर एक अवास्तविक दार्शनिकता के खोल में लिपटा हुआ आत्माभिव्यक्ति का राग अलाप रहा था। ऐसे गीत की प्रासंगिकता निरंतर घटे रही थी। नवगीत का उद्भव इन्हीं परिस्थितियों में हुआ है। पांचवें और छठवें दशक में युगबोध के प्रति सजगता, समष्टि उन्मुखता एवं वस्तुपरकता नये गीत के अनुभव के अंग बने, दूसरी ओर रागात्मकता को कविता और गीत की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए नवगीतकार ने उसे अपनी रचना में समाविष्ट किया। अतएव कहा जा सकता है कि नवगीत प्रगतिशील चेतना, आधुनिकताबोध, लोकसंवेदना और रागात्मक आवेश के संश्लेषण से तैयार हुआ रसायन है। किसी भी युग की कविता के मूल और व्यावतर्कक धर्म की श्रेणीबद्ध और एकरस अभिव्यक्ति नहीं हुआ करती, बल्कि उसके व्यक्तित्व के अनेक युगानुरूप आयाम होते हैं और महत्वपूर्ण यह भी है कि कोई प्राणवान् कविता–धारा जड़ और विषय की दृष्टि से एकांगी नहीं होती, अपितु उसका सतत् विकास होता है। नवगीत काव्यधारा, प्राणवान, विकसनशील एवं विविधतामुखी काव्यधारा है। अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न रूप से वर्गीकृत कर सकते हैं :

1. लोक संवेदनाओं का गीत, 2. जनाकांक्षाओं का गीत, 3. जातीय संस्कारों का गीत, 4. घर की संवेदना का गीत, 5. नवीन ग्राम बोध का गीत, 6. मध्यवर्गीय नागरिक संघर्ष का गीत, 7. प्रकृति के नवदर्शन का गीत, 8. उत्तर शती के आधुनिक और उत्तर आधुनिक संदर्भों का गीत।

यदि नवगीत का विश्लेषण इसके ऐतिहासिक विकास के समानान्तर किया जाए तो इसके विषयगत वैविध्य को और भी सरलता से समझा जा सकता है। सन् 1950 से 1965 तक

हिन्दी गीत में लोक संवेदनाओं की प्रमुखता रही है जबकि 1965 से 1985 तक काव्य में ग्राम चेतना के समानान्तर महानगरीय जटिलताएं भी नवगीत का विषय बनी हैं। नवगीत का परवर्ती दौर उदारीकरण भूमण्डलीकरण एवं उत्तरआधुनिकता से भी प्रभावित हो रहा है।

नवगीत के आरंभिक दौर में लोक संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के कारण बहुत स्पष्ट हैं। स्वतंत्रता के बाद देश की मिट्टी की पहचान के प्रयास में आंचलिकता हिन्दी साहित्य में विशेष रूप से उभरने वाली प्रवृत्ति थी। कथा साहित्य और कविता दोनों में इसकी उपस्थिति है। जिसे हम नई कविता का गीत कहने के अभ्यस्त हो चुके हैं, वस्तुतः वह लोकरंग कहा ही गीत है। अज्ञेय का गीत 'कांगड़े की छोरी हो' या भवानी भाई कागीत 'पीके फूटे आज प्यार के' या केदारनाथ सिंह का 'रात पिया पिछवारे . . . .' गीत हो या शंभुनाथ सिंह का 'टेर रही प्रिया' गीत हो या सर्वेशरदयाल सक्सेना के गीत हों, सभी में इस लोकरंग की उपस्थिति है। इस प्रवृति का परिपाक ठाकुर प्रसाद सिंह की कृति 'वंशी और मादल' में होता है। परन्तु यह लोकपरक धारा – आदिम जीवन के चित्रण की यह धारा – अपनी ताजगी से एक बार सराबोर कर सातवें दशक में मंद हो जाती है, कुछ–कुछ रूपांतरित भी, और यह कहना कतई संभव नहीं रहता कि सन् 1965 के बाद नवगीत ठाकुर प्रसाद सिंह की परम्परा का नवगीत है। सन् 1949 से 1962 तक के निराला के जिन गीतों की चर्चा हमने की है, उसका विकास जनाविमुख गीत में होता है जो लोकपरक प्रकृति की रमणीयता की अपेक्षा संघर्ष के साथ अधिक जुड़ा है, और जो प्रकारान्तर से शोषणजन्य व्यवस्था को चुनौती दे रहा है। यदि वीरेन्द्र मिश्र, माहेश्वर तिवारी, ओम प्रभाकर, उमाकान्त मालवीय और देवेन्द्र कुमार के सन् 1960 और 1980 के बीच के गीतों को देखा–परखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि ये कवि पूर्ववर्ती गीत की आदिवासी जीवन के चित्रण की प्रवृति को दोहरा नहीं रहे थे बल्कि वे मध्यवर्गीय जीवन को अधिक मुखर कर रहे थे। इन्हीं के समानान्तर शिव बहादुर सिंह भदौरिया तथा नईम और बाद में गुलाब सिंह, अनूप अशेष तथा श्यामसुंदर दूबे नये ग्राम–बोध के गीत लेकर आते हैं। पर यह ग्राम चेतना सन् 1950 और 1960 के बीच की लोक–संवेदना से जमीन–आसमान का अंतर रखती है। दोनों के स्वरूप को समझने के लिए दो उद्धरण देख लेना उचित होगा :

1. सूनी तलैया की ओट में/ डूबा दिया चोट ने
   तीर लगे घायल कुरंग–सा/ मन लगा लौटने

जामुन सी काली इन भौंहों की छाँह में
डूबे हम जा रहे/ कब से हम गा रहे।

– ठाकुर प्रसाद सिंह

2. द्वार पर तहसील सी धमकी हवा
नीलानियों के इश्तिहार
पाँव से सिर तक/ लपेटे हुक्म
दर न छोड़ने के संस्कार
कुएं में ठहरा हुआ सूखा/पिपासी गाम
बंधु, हम खुल कर नहीं करते।

– अनूप अशेष

प्रथम उद्धरण की बिम्ब–योजना और संवेदना अनाघ्रात क्षेत्रों का उद्घाटन करने के कारण तो मन को छूती है पर इसमें गांव–देहात के जीवन की कष्टकारक संघर्षमयता की झलक दूर–दूर तक नहीं है और 'निराला' को छोड़कर यह उस काल के सम्पूर्ण गीत में अनुपस्थित है पर बाद में नवगीत ने गांवकी जो व्यथा–कथा कही है, उसका प्रसारण 'अशेष' की उपर्युक्त पंक्तियों में ही नहीं, गत तीस वर्षों में अनेक नवगीतकारों के शताधिक गीतों में मिलती है।

नवगीत के स्वरूप का व्यापक परिचय प्राप्त करने के लिये यह उचित होगा कि इसकी पूर्वोल्लिखित प्रमुख प्रवृतियों का पृथक् विवेचन किया जाए।

1. **लोक–संवेदनाओं की अभिव्यक्ति** नवगीत में किस रूप में हुई है, इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। नवगीत को आरंभ में इस प्रवृति ने जहां शिल्पगत ताजगी दी है, वही गीत की बंधी बंधाई परिपाटी को तोड़ा है, उसे विषयगत विस्तार प्रदान किया है। गीत का बदलता अप्रस्तुत विधान भी तब उसे लोक–संवेदना से जोड़ रहा था। यथा :

तन कातिक मन अगहन/बार–बार हो रहा
मुझमें तेरा कुआर/जैसे कुछ कह रहा।

– देवेन्द्र कुमार

पारम्परिक गीत की तुलना में यह स्वर बहुत नया था।

2. उत्तरशती के गीत की सबसे बड़ी सार्थकता इसका **जन आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति** में समर्थ होना है। चौथे दशक से ही सैद्धान्तिक रूप में वामपंथी साहित्य की सर्जना का शोर तो बहुत मचा पर वास्तव में जनभावनाओं से जुड़ने वाला साहित्य थोड़ा ही था। नवगीत सीधे–सीधे जनपक्षधरता का काव्य है। आम आदमी के सपनों की जितनी पैरवी नवगीत में दिखलाई देती है, उतनी सर्जनात्मक स्तर पर – काव्य–संवेदना के स्तर पर किसी अन्य काव्य रूप में दिखलाई नहीं देती। नवगीतकार ने बहुत सादगी से बिना बड़बोलापन दिखाये, जनजीवन के भीतर पैंठ की है और उसके सुख–दुःख को सहलाया–अपनाया है। रमेश रंजक के गीतों में वह सादगी साकार हुई है :

हल्दी भरे हाथ की थापें मार कर
जाने क्या लिख गयी अमावस लिपि–पुती दीवार पर
तोड़ गयी मजदूरी मकड़ी का फ़ीता झीना
आले में रख गयी सुनहरी झुमका चमकीला
गेंदे की मेहराब सजाकर द्वार पर।

आम आदमी की जात, उसकी औकात, उसके ठिकाने और नाम पते को नवगीत में वर्गीकृत नहीं किया गया है। वह शहर का भी है, गाँव का भी। मजदूर भी है, किसान भी। उसकी भाषा–बोली बनावटी नहीं, सहज है। निम्न गीतांश में जनकांक्षा का प्रतिबिम्ब इसका साक्षी है :

छोड़ आये थे जिसे हम खेत में
पक गई होगी सुनहली धान।
और हँसिये को छुआ होगा
कुँवारी उँगलियों का नेह

नवगीतकार ने आम आदमी के दुःख–दर्द को व्यंग्य की तुर्शी के साथ भी अभिव्यक्ति दी है। असामाजिक तत्वों के विद्रूप चेहरों को भी उसने अनावृत्त किया है। विसंगतियों का यह चित्र अन्य समसामयिक काव्यधाराओं से बोध और शिल्प – दोनों दृष्टियों से अंतर रखता है :

ज्योति पुत्र दहलाने वाले / जितने खंभे गड़े हुए हैं
उतना घना अँधेरा है
गांधी की भी एक मूर्ति है इस बस्ती में

यहाँ मवाली जुड़ते/ ठर्रे की मस्ती में
पल–पल बदबू ढोने वाले इस हड़ताली नाले के
उस पार, हमारा डेरा है।

– भारतेन्दु मिश्र

3. **जातीय संस्कारों की अभिव्यक्ति** भी नवगीत का प्रमुख स्वर है। यहां जातीय संस्कारों को केवल हिन्दू संस्कार समझ लेने की भ्रांति न की जाय। नवगीत सही मायनों में सैक्यूलर (लोकाचार का) काव्य है। भारतीय जनमानस से जुड़ा होने के कारण इसमें लोकाचारों को प्रमुखता मिली है। नवगीत का सांस्कारिक मन न इसके प्रतिगामी होने की पहचान है और न प्रगति विरोधी होने की। नवगीत की सांस्कृतिक चेतना घर–परिवार के साथ जुड़ी है। यह चेतना धर्मवीर भारती के ऐसे गीतों की परम्परा में भी विकसित हुई है :

गोरी--गोरी सोंधी धरती कारे–कारे बीज/ बदरा पानी दे
मैं बोऊँगी मीर–बहूटी/ इन्द्रधनुष सतरंग
नए सितारे, नयी पीढ़ियाँ/ नये धान का रंग
हम बायेंगे हरी चुनरियां, कजरी मेंहदी
राखी के कुछ सूत और सावन की पहली तीज/ बदरा पानी दे।

नवगीतकार का संस्कार सम्पन्न मन कहीं–कहीं अतीतव्रती भी हुआ है पर वह अतीतगमन छायावादी कतई नहीं है। यहां अतीत वर्तमान की विसंगतियों की व्याख्या करता है, उसकी शल्य क्रिया का औजार बनता है। यथा :

समय अब सहमत नहीं/ पूछती सीमान्त की टूटी शिला
सर्प–यज्ञ समाप्त कब का हो गया/ किन्तु मंत्रों का मुखबिर क्यों सिलसिला
सुनो जनमेजय कि समिधा रोक दो/ आज तक्षक हुआ शरणगत नहीं

डा0 शंभुनाथ सिंह के गीतों में पुरातात्विक संदर्भ एक गंभीर जातीय संवेदना लिये हैं। वहां भी वे कोरे बिम्ब भर नहीं हैं अपितु प्रतीकधर्मिता उन्हें अर्थगत व्यापकता देती है। यह अंश इसका उदाहरण है :

उत्खनन किया है मैंने/ गहराई तक अतीत का
सिंधु सभ्यता से अब तक/ मुझको एक ही स्वर मिला

ईंट पत्थरों के घर थे/ सोने का नहीं घर मिला
युद्धों के अस्त्र मिले पर/ वृत्त नहीं हार जीत का

नयी पीढ़ी को देने के लिए एक सांस्कृतिक परम्परा नवगीतकार के पास है। वह अपना वसीयतनामा इसी रूप में लिखता है :

जो भी पास हमारे/ सब कुछ है नाम तुम्हारे
दूध, दही, गोरोधन, अक्षत, घृत, तुलसी
मंत्रवती परम्परा वैसन्दर झुलसी
रात के अंधेरे में बाढ़ घिरे पुल–सी
मरी हुई नागिन की जीवित कैंचुल–सी
दादी के आँचर के दाख छुहारे/ दादा की पगड़ी के सैंद कहारे
सब कुछ है नाम तुम्हारे।

देवेन्द्र शर्मा इन्द्र

4. पारम्परिक गीत का कथ्य मुख्यतः विरह–मिलन अथवा एक कृत्रिम दार्शनिकता है। नवगीत जीवन की साधरणता में, सहजता में सम्बन्धों की ऊष्मा खोजता है। रीतिकाव्य में ही नहीं, इस शती के गीत में भी सम्बन्धों को प्रायः नायक–नायिका के घेरे में बांध दिया गया है। पर नवगीतकार ने रिश्तों की सहज बुनावट को केन्द्र में रखा है, उसमें संस्कारों में रचा बसा घर ही प्रमुखतः प्रतिबिम्बित है। इस चित्रण में सहज उल्लास भी है और अपरिहार्य उदासी भी। दिनेश सिंह के गीत का यह अंश इसका उल्लेख उदाहरण है :

दुःख मेरे मैके से आया/ सासू का बड़बोला जाया
सुख की खेती जोते बोये/ बसंती आठ पहर रोये
'भूखिया' ना अंगरेजी जाने/ चूल्हे की रोटी पहचाने
सेन्हुर के रंग सनी बड़की/ तानों की पिचकारी ताने
रंग धुले छिन–छिन पर काया/ जूठी थाली जैसी माया
माड की सुधि–हिया करोदे/ बसन्ती आठ पहर रोये

घर की एक तस्वीर ऊपर की पंक्तियों में है। इसकी एक दूसरी तस्वीर अवध बिहारी श्रीवास्तव के गीतें यों उभरी है :

वैसे तो माटी–माटी है/ मेरे वाला वह घर
लेकिन यादों का राजमहल/ उस घर का कोना–कोना है
भाभी की चपल ठिठोली/ मां के आँचल की छाया है
दादी की परीकथा का वह जादू है, वह रोना है।

ओम प्रभाकर और उमाकान्त मालवीय के गीतों में घर–परिवार के सहज चित्र अत्यधिक भावप्रवण रूप में उभरे हैं। उनके बाद की पीढ़ी में यह परम्परा सार्थक सर्जना के रूप में कुमार रवीन्द्र, कुंवर बेचैन और बाद में आये, यश मालवीय के गीत इसका प्रमाण है। उमाकांत मालवीय के गीत का यह अंश परिवार का और बिम्ब प्रस्तुत करता है :

टूटे आस्तीन के बटन/ या कुर्ते की खुले सियन
कदम–कदम पर मौके याद तुम्हें करने के
आठ पहर एक यही काम रहा ले–दे–के
फूल नहीं बदले गुलदस्तों के/ धूल मेजपोश पर जमी हुई
जहां–तहां पडी दस किताबों पर/ घनी–सी उदासियां धमी हुई
पोर–पोर टूटता बदन, कुछ कहने–सुनने का मन . . . .

5. **आंचलिकता एवं लोकसंवेदना** के चित्रण को कई आलोचक ग्राम–बोध के साथ रखते रहे हैं परन्तु नवगीत में ग्राम–संदर्भ अलग विवेचन की अपेक्षा रखते हैं। शिव बहादुर भदौरिया, नईम, गुलाब सिंह, अनूप-अशेष, श्याम सुन्दर दूबे, उर्मिलेश और प्रस्तुत लेखक के गीतों में गांवों का रोमानी चित्र नहीं है अपितु गत दशकों में पनपने वाले राजनैतिक आर्थिक शोषण–व्यवस्था के क्रूर उत्पीड़न का दंश गांवों को झेलना पड़ा है। नवगीत में इस अन्याय एवं उत्पीड़न का प्रभावपूर्ण चित्रण हुआ है। छठे दशक में 'निराला' अपने गीतों में प्रेमचंद का 'गोदान' इस प्रकार लिख रहे थे :

गहरी विभावरी शीत की/ कांपी वाले से अरहर की डाली
गुनागरी शीत की गहरी विभावरी
मटर–चने कुछ काम न आये/ जौ गेहूं लड़ते अरगाये
माचे पर किसान का कूकर/ मुंहकाया सिहरी शीत की गहरी विभावरी
सूख गया किसान एकाकी/ रोया, रहा न लेखा बाकी
दुहरी डगर भरी/ शीत की विभावरी।

इसी परम्परा में बाद में नवगीत ने किसान की व्यथा–कथा को विशेष रूप से अंकित किया है। 'जलती यहां वहां बुझ जाती आंच अलावों की/ गोरी कभी सांवली दिखती काया गांवों की', 'गांव मेरा लाठी और भैंस की कहावत है' (गुलाब सिंह), 'धान जब भी फूटता है गांव में/ एक बच्चा दुधमुंहा किलकारियां भरता हुआ/ आ लिपट जाता हमारे पांव में' (बुद्धिनाथ मिश्र), 'धारा ऊपर तैर रहे हैं सब खादर के गांव' (राजेन्द्र गौतम) जैसे वे अनेक संदर्भ नवगीत में उपलब्ध हैं, जिनमें गांव की दशा का प्रामाणिक चित्रण है। नईम के कई गीत गांवों की व्यथा–कथा को साकार करते हैं। यथा :

साहूकारों के सुराज में/ निया गये परदेश ब्याज में
सूफी प्रेम पीर ढोये हैं/ ज्ञानी इकटक घूरे
होरी गोबर से उकताये/ बलचनमा घर लौट न पाये
ठुमरी भूली ठसक तराने/ आधे और अधूरे।

गांव के ये अनुभव शहर में बस जाने वाले गीतकारों को 'हांट' भी करते हैं। तभी तो गाहेश्वर तिवारी लिखते हैं :

'चिट्ठियां भिजवा रहा है गांव/ अब घर लौट आओ।'

6. 'नवगीत में मध्यवर्गीय जीवन का संघर्ष भी प्रमुखता से व्यक्त हुआ है। वीरेन्द्र मिश्र का अधिकांश गीत–संसार इसी चेतना की बस्ती है। त्रिमुखी पीड़ा से आरंभ कर वे महानगरीय जीवन के अनेक अनुभवों को व्यक्त करते हैं। कुंवर बेचैन के दो संग्रहों – 'दिन बहुत सारे' और 'भीतर सांकल, बाहर सांकल' में अभिव्यक्त मध्यवर्गीय चेतना को हिन्दी पाठक भुला नहीं सकता। वीरेन्द्र मिश्र के निम्न गीतांश से इस प्रवृति को पहचाना जा सकता है :

रोटी की आयु बड़ी छंद की अवस्था में
इसी लिए शब्दों का युद्ध है व्यवस्था में
लाभ अंधेरे में नाप रहे व्यापारी
मृत्यु के महोत्सव में रस की ठेकेदारी
विष से है सराबोर अमृता सुराही।

योगेन्द्रदत्त शर्मा ने मध्यवर्गीय जीवन की टूटन को प्रतीकों के माध्यम से यों व्यक्त किया है :

चाँदनी ने गंध अपनी/ कौड़ियों में बेच दी है ! त्रासदी है
झुर्रियों, शिकनों लकीरों से ढका हर एक चेहरा
दृष्टियों का अजनबीपन हो रहा हर रोज गहरा

खोखलेपन के वजन से 'पीठ' आदमी की लदी है त्रासदी है

7. **नवगीत** काव्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा प्रकृतिमय है तथापि वह उस रूप में प्रकृति काव्य नहीं है। एक रूप में छायावाद को माना जाता है। **प्रकृति को** सूक्ष्म दर्शन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने की अपेक्षा नवगीतकार ने उसे **परिवेश के समानान्तर एक व्यक्तित्व प्रदान किया** है इसी रूप में वह कवि और समाज का समन्वित अनुभव बन जाता है।

कन्हैया लाल नंदन के इस गीतांश में बादल से किया गया आग्रह है इसी प्रवृति का संकेतक है :

बिन बरसे मत जाना रे बादल/ बिन बरसे मत जाना
मेरा सावन रूठ गया है/ मुझको उसे मनाना रे बादल
एक अपरिचित आंगन में तुलसी के दल बोये,
फंसे कुशंकाओं के जंगल में/ चुपचुप रोये,
चुप–चुप रोना भर असली है/ बाकी सिर्फ बहाना रे बादल।

मौसम की कहानी नवगीत ने प्रकृति की जुबानी कही है। इस कथा में प्यार के रंग हों या जन की भूख--प्यास यह बात दूसरी है पर प्रकृति का जितना विस्तृत फलक नवगीत में है, इतना किसी अन्य काव्य–धारा में नहीं। उल्लास और विषाद के अनेक मूड नवगीतकार ने प्रकृति के माध्यम से दर्शाये हैं। उत्फुल्लता का रंग निम्न पंक्तियों में निखरा है :

लौट आये 'गुलमुद्रा से दिन' . . लौट आये
नभ . . . यों ज्यों खुला हो/ . . . किसी का
गूंजता है स्वर प्रपातों का हंसी का
दूर तक जैसे कि कोई गुनगुनाये। – इसाक अश्क

8. **शिल्पपरक** प्रत्य. . . मनोहारी के साथ अपने युग के बोध के साथ स्वर मिलाने की सजगता नवगीत में निरंतर विद्यमान रही है। आधुनिकता के समस्त कोणों की

अभिव्यक्ति तो नवगीत में है ही, उत्तरशती में उभरने वाली उत्तरआधुनिकता की प्रवृतियां भी नवगीत में हैं। जटिल आधुनिकता के समानान्तर जीवन को रखने वाले 'तिवारी–त्रय' के गीतों के तीन अंश यहां विशेष रूप से दर्शनीय हैं :

(क) धूप थे, बादल हुये तिनके हुये/ सैंकड़ों हिस्से गये दिन के हुये
दफ्तरों से लौअ आया शहर/ हम कहीं उनके हुये, उनके हुये।

– माहेश्वर तिवारी

(ख) आ गये काली नदी के दायरों में लोग बाग
जिन्दगी की वापसी की बात क्या होगी
एक गहराते हुए आतंक की परछाइयां लावा उगलती हैं
कौन जाने इस तरह कैसे हवायें/ रोज़ अपने रूप बदलती हैं
हर तरफ मुखबिर अंधेरे चौकसी पर हैं
अब सुबह की रोशनी की बात क्या होगी।

– उमाशंकर तिवारी

(ग) झीलों ने बांट लिये वन/ राजा को खबर तक नहीं
पाप चढ़ा राजा के सिर/ दूध की नदी हुई जहर
गांव नगर धूप की तरह/ फैल गयी यह नयी खबर
रानी हो गयी बदचलन/ राजा को खबर तक नहीं।

– श्रीकृष्ण तिवारी

उदारीकरण, उपभोक्तावादी, भूमंडलीकरण और सूचना युग के आगमन के साथ विषय के अंत की घोषणा की जाने लगी। 'पाठ' की निजता पर बल दिया जाने लगा। तब . . . . ही चुनौती आ खड़ी हुई। नवगीत ने इस संदर्भ को निरंतर रेखांकित किया है। प्रस्तुत लेखक के गीत का अंश इसका उदाहरण है :

बहुत कठिन संवाद समय से/शब्द सभी पथराये
हमने शब्द लिखा था रिश्ते/ अर्थ हुआ बाज़ार
कविता के माने चाकू है/ संवेदन व्यापार
भटकन की उँगली थामे हम/ विश्वग्राम तक आये।

जीवन भयंकर रूप से यंत्रीकृत होता जा रहा है। सम्बन्ध तो छीने ही हैं, संवेदनाओं को भी नीलाम किया जा रहा है। इस दौर में मूल्य विपर्यास का नाम ही चतुर्दिक हो रहा है। नवगीतकार ने इस संदर्भ को यों व्यक्त किया है :

महानगर में अब के सावन/ मना इस तरह तीजा
एक किलो वीरन ले आई/ आधा किलो भतीजा
टका सेर थे बाबुल भी/ झोला भर कर ले आती
अधनंगी बस्ती में घर है/ उनको कहां बिठाती
कचरे में फिंकवा देता वो वर्दी वाला जीजा।

– महेश अनघ

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवगीत आज अपने समय की जिह्वा है। वह युगबोध को समग्रता से व्यक्त कर रहा है। काव्य–तत्व को अक्षुण्ण रखकर समय के सत्य का उद्घाटन करने का महत् कर्म नवगीत कर रहा है।

नवगीत–2

नवगीत समकालीन हिंदी कविता का विशेष काव्यांदोलन है। छायावादोत्तर काल की रचना प्रवृतियों से यह स्पष्ट होता है कि उसमें समूचे छायावाद के ही निषेध का प्रयास दिखाई पड़ता है। अज्ञेय द्वारा गीत को 'गतानुगतिक रचना' कह देने से गीतकारों ने गीत लिखना लगभग छोड़ दिया था। ऐतिहासिक विकास–क्रम की दृष्टि से देखा जाए तो छायावाद से प्रगतिवाद तक गीत लिखने की परंपरा चलती रही। प्रयोगवाद और नयी कविता के दौर में यह परंपरा अवरुद्ध हो गई थी, परन्तु नयी कविता के बाद गीत पुनः लिखे जाने लगे जिस पर छायावादी रोमानियत का प्रभाव नहीं था। इसे ही 'नवगीत' कहा गया है। सियाराम शरण ने इसे 'आज की गीत' तो बालस्वरूप राही, नगेन्द्र एवं शंभूनाथ सिंह ने 'नया गीत' कहा है। गीतांगनी के संपादकीय में राजेन्द्र सिंह द्वारा 1950 के बाद लिखे जाने वाले गीतों को 'नवगीत' की संज्ञा दी गई है। नवगीत के रचनाकारों में राजेन्द्र प्रसाद सिंह, केदारनाथ सिंह, बालस्वरूप राही, शंभूनाथ सिंह, डा0 रवीन्द्र भ्रमर, वीरेन्द्र मिश्र, शेरजंग गर्ग, मणि मधुकर, रमानाथ अवस्थी तथा नरेश सक्सेना अग्रगण्य हैं।

नयी कविता यह दावा करती है कि गीतों की रचना समकालीन युग बोध एवं युगाभिव्यक्ति के नितांत प्रतिकूल है। यह सत्य है कि आज के व्यक्ति के सुख–दुख, राग–विराग की संवेदना आदिकालीन मानव की तरह प्रत्यक्ष, सीधी और आवेगात्मक नहीं है – उसमें बौद्धिक युग की बहुत–सी जटिलताएं आ गई हैं। इसलिए आज की संवेदना आदिकालीन, मध्ययुगीन और आधुनिक काल के रूमानी गीतों की तरह एक वेग से न फूटकर आंतरिक अनुशासन से चलती है। इसी कारण अज्ञेय, नामवर एवं धर्मवीर जैसे चिंतक नवगीत को जहां नयी कविता से अलग अस्तित्व मानने के पक्षधर हैं वहीं भवानी प्रसाद मिश्र, रामदरश मिश्र, रवीन्द्र भ्रमर तथा माहेश्वर तिवारी जैसे विद्वान इसे नयी कविता का पूरक घोषित करते हैं। ठाकुर प्रसाद सिंह के अनुसार –"नयी कविता की बौद्धिकता तथा नए गीतों की हार्दिकता को परस्पर एक दूसरे का पूरक मानते हुए भी यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि ये दोनों दो परिस्थितियों और मनःस्थितियों के काव्य हैं।"

नवगीत में न तो छायावादी कल्पना–लोक एवं आध्यात्मिक भावबोध है न प्रगतिवाद के समान मार्क्सवाद का राजनैतिक आधार। यह जीवन के विसंगतिमय यथार्थ एवं व्यक्ति के आहत अनुभवों के वैसे ही चित्र उभारता है जैसे नयी कविता। नयी कविता जिस युग यथार्थ को मुक्त छंदों में देखती है नवगीत उसे लयात्मक बोध देता है तथा छायावादी किस्म के अति वैयक्तिक वायवीय रोमानी गीतों के स्थान पर लोक–चेतना एवं लोक धुनों को गीतों का आधार बनाता है। इसलिए नयी कविता को तीव्र काव्यात्मकता प्रदान करने का श्रेय नवगीत को है जिसकी निम्नलिखित विशेषताएं हैं :

1. **सौंदर्य के प्रति नया दृष्टिकोण** : नवगीत ने सौंदर्य को छायावाद की भांति वायवीय और काल्पनिक न मानकर उसकी भोगपरकता को अंगीकार किया है। उसने अपने गीतों का सौंदर्य ह्रासशील मूमल्यों में खोजकर, तराशकर उसे नवीनता के आवरण में प्रस्तुत किया है और इसी बहाने परपंरा सौंदर्य दृष्टि का तिरस्कार किया है। उदाहरण :

"हमको क्या लेना है परदेशी केशर से/ बूढ़े हिमपात
सड़ते तालाबों में खिले हुए बासी–जलजात से
हमको लिखने हैं गीत नए पिघले इस्पात से।।" – राही

गणतांत्रिक व्यवस्था ने वगीतकारों के मानस में न तो वैयक्तिक राग बोध उत्पन्न किया न ही रोमानियत या उल्लास का भाव। अस्सी का दशक आते आते तो इसने जनवादी परंपरा को अपनाया। उदाहरण :

"सौ में सत्तर आदमी फिलहाल जब नाशाद हैं
दिल पर हाथ रखकर कहिए देश क्या आजाद है।" – अदम गौडवी

2. **प्रणय–दृष्टि** : एण्टी रोमांटिक वृत्ति से साक्षात्कार करने के कारण इन्होंने 'प्रेम की ऊब' का चित्रण किया है।

"चीजों के कोने टूटे/ बातों के स्वर डूब गए
हम कुछ इतना अधिक मिले/ मिलते–मिलते ऊब गए।" – ओम प्रभाकर

एण्टी रोमांटिक एप्रोच ने भावुकता को रागात्मकता में पर्यवसित कर दिया –

"आओ उस मौन को दिशा दे दें
जो अपने होठों पर अलग अलग पिघलता है।" – चन्द्रदेव सिंह

3. **महानगरीय संत्रास** : औद्योगिक सभ्यता के विकास से ग्रामीण जीवन में विस्थापन की प्रक्रिया शुरू होती है जिससे नगरों, शहरों एवं महानगरों के समक्ष सांस्कृतिक संकट उत्पन्न होता है। यह सभ्यता मनुष्य की कौटुम्बी दुनिया का क्षरण कर उसमें ऊब, संशय, तनाव कुंठा को जन्म देती है। नवगीतकारों ने लिखा भी है कि –

"केवल औपचारिकता बांहों में कसते हैं
हंस–हंस कर रोते हैं, रो–रोक कर हंसते हैं।" – शेरजंग गर्ग

शहरी वातावरण के संत्रास से त्रस्त ने निषेधात्मक मूल्यों को उकेरा है –

"भागती हुई जिंदगी का/ हर भोगा हुआ क्षण
एक नया उपक्रम है/ स्वयं से टूटने की तरफ।।" – भूपेन्द्र स्नेही

4. **जनपक्षधरता** : 70 के आसपास उभरी नयी जनचेतना का असर कविता के साथ नवगीतों पर भी पड़ा। इससे इस दौर के गीतों के विषयवस्तु में परिवर्तन हुआ। अब किसान, मजदूर-और आम आदमी के दुख दर्द एवं संघर्ष के गीत गाए जाने लगे। गीतों को रोमानियत से मुक्त कर जीवन यथार्थ से जोड़ा गया। उदाहरण :

"भूमि पर मन पर बदन पर/ है अमावस का बसेरा
चंद लोहे की छड़ों में/ बंद है युग का सवेरा।" – रमेश रंजक

यांत्रिक विकास आज मानव जीवन की उपलब्धि है। हम सिर्फ आंकड़ों में सोचते हैं तथा अपने को छोड़ शेष दुनिया की घटनाओं को समाचार पत्रों के कॉलम का विषय स्वीकार कर लेते हैं। इस यांत्रिक प्रगति एवं मुनाफाखोर इशारों पर चलकर हम जीवन में सुख की वर्षा तो कर लेते हैं परंतु इसके समांतर जो दमघोटू वातावरण तैयार हो रहा है उसे नहीं समझ पाते हैं। नवगीत ने इसे यथार्थ रूप में अंकित किया है –

"सूखे में बाढ़ में फंसे है। दिन/ अजगर की पाढ़ में फंसे हैं दिन
हम हैं विकलांग नियति के दावेदार/ रद्दी में बिके हुए बासी अखबार।।"
– माहेश्वर तिवारी

5. **व्यवस्था के प्रति असंतोष** : नवगीतकारों में आधुनिकता बोध प्रखर होने के कारण तत्कालीन व्यवस्था के प्रति असंतोष का भाव भी परिलक्षित होता है।

"हर जुलूस कुछ नारों का अनुगामी है
भीड़ों का कोई व्यक्तित्व नहीं होता
सबसे अधिक सुनी जाती हैं अफवाहें
बहुमत में सच का अस्तित्व नहीं होता।"

6. **मोह भंग** : पूंजीवादी शोषण, आत्मपोषक राजनीति, भ्रष्ट शासन तंत्र और सुविधाभोगी बुद्धिजीवी के कारण स्वातंत्र्योत्तर भारत में जो छल–छद्म, शोषण, उत्पीड़न, अन्याय व स्वार्थ की स्थिति पैदा हुई उस कारूणिक स्थिति का चित्रण भी नवगीतकारों ने किया है। –

"भीतर भीतर जो टूटे हैं/ उनके नाम लिखो
जलते अंगारों पर जिसने उम्र लुटाई है/ धरती बनी बिछौना
उसकी यही कमाई है/ मुट्ठी भर आकाश नहीं है
उनके नाम लिखो। – जगदीश श्रीवास्तव

मोहभंग से उत्पन्न पराजय–बोध :
मेरे पंख कट गए हैं / वरना मैं गगन को गाता।" – रमानाथ अवस्थी

यांत्रिक सभ्यता से मोहभंग :

"घिस गए जिंदगी के सारे मनसूबे
दफ्तर की सीढ़ी चढ़ते और उतरते।" –' राही

7. आस्था का स्वर :

"दरपन दो जिससे मैं पर्तहीन दिख पाऊँ
साहस दो जैसा भी देखूं/ मैं वैसा ही लिख पाऊँ।" राही

8. **नारी** : आज मंडी हाउस संस्कृति में स्त्री–पुरुष समानता के नारे लगाए जाते हैं। नारी–अधिकारों की चर्चा अनधिकृत विद्वान खूब करते हैं पर आज भी नारी वर्ग को जो स्वतंत्रता प्राप्त हुई है वह कनाट प्लेस सभ्यता का ही अंग है। मजदूर वर्ग और गांव के नारी के बदतर जीवन की करुण गाथा आज भी अधिकारों की मांग में मुंह बाए खड़ी है। नवगीत इस नारी को गहरे स्तर पर अभिव्यक्त करती है। उदाहरण :

"नागिन सी उठती/ है पेट में लहर
आंतों में पलता है/ भूख का शहर
आगे से हटती है/ बेचन की माँ
ठेलों सेकटती है/ बेचन की माँ।" – सुधांशु उपाध्याय

9. **आयातित विचारों का विरोध** : नवगीत विभिन्न दर्शनों का आयात करने की अपेक्षा सीधे जीवन यथार्थ से जुड़ना उचित मानती है, इसी बहाने नयी कविता द्वारा ग्रहित विदेशी चिंतन पर भी करारा व्यंग्य करती है। यथा –

"यह कब हुआ कि हमने अनुभव से सीखा हो
कुछ उधार के लिए भाव
कुछ ओढ़ लिया चिंतन को।" – पुष्पा राही

10. **शिल्प** : नवगीत की भाषा छायावादोत्तर प्रगीत की निरर्थक, शिथिल एवं बासी हो गए शिल्पिक उपकरण का विकल्प प्रस्तुत करती है। यह बौखलाए बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों की भाषा न होकर सामाजिक संताप का स्वर प्रमुख है। लोकजीवन से जुड़ा होने के कारण लोकगीत, लोकधुन एवं लोक बिम्बों का बहुतायत प्रयोग हुआ है। उदाहरण :

"रंग के भाग ठिठोली लिखी है/ रूप के भाग में चीर
अपने तो भाग मजूर के भाग हैं/ भाल पै स्याम लकीर।।"

छंद मुक्ति का जो प्रयास निराला में है उसी का विकसित रूप नवगीत में मिलता है। गीत होने के नाते उसमें लय रहती है चाहे संगीत हो या न हो।

"गीत नया जन्मा है
रीत गए छंदों की रूढ़ियां तोड़ेगा।"
– राही

"छंद से स्वच्छंद होकर गा
मत कहीं भी बंद होकर गा।।"
– वीरेन्द्र मिश्र

प्रतीक में पूरे परिवेश को चित्रित करने का सामर्थ्य है –

"अंधी है/ जल की संज्ञाएं/बढ़ती ही जाती
तृष्णाएं/रेतीले टीलों की बस्ती/ शहर हुआ मीलों की बस्ती।।" – कु0 रवीन्द्र

नवगीतकारों की मान्यता है कि संगीतातिरेक कवित्व को क्षति पहुंचाता है। वह गीत को गाना बना देता है। इसी आधार पर इन्होंने गीतों की सार्थकता में संगीत का बहिष्कार किया लेकिन गज़ल जैसी विधा इनके हाथों में पड़कर अपनी व्यक्तिगत इश्कमिजाजी को छोड़कर सामाजिक यथार्थ से जुड़ने लगती है। उदाहरण :

"कहां तो तय था चिराग हर शहर के लिए
कहां चिराग मयस्सर नहीं घर के लिए।" – दुष्यंत

समग्रतः नवगीत विभिन्न दर्शनों का आयात करने की अपेक्षा सीधे जीवन यथार्थ से जुड़ना उचित मानती है तथा आत्माभिव्यक्ति की रूढ़ अवधारणा को बदलकर व्यष्टि एवं समष्टि के संश्लेषण का सार्थक प्रयास करती है। इसलिए रमेश कुंतल मेघ ने नवगीत को इतिहास बोध के परिवर्तन से संयुक्त कर उसमें आगत बदलाव को इतिहास का अनिवार्य संदर्भ सिद्ध किया है। अतः हम कह सकते हैं कि नवगीत समकालीन युग बोध के नितांत अनुकूल है जिसमें आत्मसत्य की अपेक्षा लोकसत्य की परिकल्पना है। नयी कविता जिस युग यथार्थ को मुक्त छंद में देखती है नवगीत उसे लयात्मक बोध देता है। इसलिए यह लोकजीवन आधारित साहित्यिक सौंदर्य को जहां नए धरातल पर प्रतिष्ठित करता है वहीं वर्तमान जीवन की चेतना एवं चुनौती से भी सार्थक रूप में रू–ब–रू करवाता है।

अद्यतन नाटक

हिन्दी के समकालीन नाटक–साहित्य में यथार्थ–अन्वेषी सृजनात्मकता के मोड़ों और प्रवृत्तियों के सार्थक संकेत साफ तौर पर उभर कर सामने आये हैं। हालांकि यह सच है कि इस दौर में बहुत सारा नाट्य–सृजन किसी बड़ी नाट्य–सम्भावना का बिम्ब प्रस्तुत नहीं कर पाया। उसमें स्तरीयता और गहन वैचारिक रचनात्मकता का अर्थवान स्तर अब तक नहीं आ सका है। इसका कारण यह रहा है कि काव्य–कहानी जैसी विधाओं की तुलना में नाटक पर अन्य कई तरह के दबाव–प्रभाव काम करते हैं। नाटक को अभिनय, संगीत, नृत्य तथा अन्य दृश्यकलाओं से समन्वित होना पड़ता है – इस अर्थ में नाटक एक जटिल रूप विधा है। साथ ही निरन्तर जटिल से जटिलतर होते युग के भाव–बोध को दर्शक के सामने नाट्य प्रस्तुतीकरण में सहज सम्प्रेषणीयता से पहुंचाने की समस्या भी विकराल रूप धारण कर उठी है। एक ओर हिन्दी का पिछड़ा रंगमंच और दूसरी ओर सहज जन–बोधगम्य–भाषा का सवाल हिन्दी के नाटककार को नाट्य–सृजन में लगातार ललकार कर तोड़ता रहा है। चूंकि ऊंचे दर्जे का रंगमंच और निरन्तर नाटक खेलने वाली मण्डलियां नहीं आ सकी हैं। नतीजा यह हुआ कि ऊंचे दर्जे का नाट्य सृजन भी अपनी जड़ों से हरा–भरा रूप लेकर नहीं आ सका। फिर भी पिछले दो दशकों में हिन्दी–नाटक में 'प्रयोग' की चर्चा सार्थक–रूप में सामने आयी है। नाटक में 'नयेपन' या 'प्रयोगशीलता' ने नयी नाट्य–भूमि को खोजने और रचने की ओर कदम उठाया है। इस प्रयत्न से इस दौर में हिन्दी नाटक का जैसे नया जन्म हुआहै। नाटक का नयी रंग–चेतना के बहुस्तरीय कार्यकलाप से एक जीवन्त सम्बन्ध तो बना ही है – वह रंगमंच की अपनी दुनिया को पूरी शक्ति से जीने और रचने की ओर भी प्रवृत्त हुआ है।

मोहन राकेश के बाद का हिन्दी–नाटक निराशा और पराजय बोध के संसार से निकलकर संघर्ष में टूटते पर हिम्मत बांधते–जीते आदमी की आस्था की ओर कदम उठाता है। यह नाट्य सृजन आज की जिन्दगी को पहचानने, समझने और उसे ज्ञानात्मक–संवेदना से रचना की दिशा अपनाता है। उसमें प्रयोगशीलता और नाटकपन दोनों की तलाश जारी है। दिलचस्प बात यह है कि विदेशी अन्धानुकरण की निस्सारता को पहचान कर यह नया नाटक अपनी जमीन में जड़ें जमाता है और लोक–संवेदना और लोक भाषा में अपनी लोक–नाट्य धर्मी परम्परा को फिर से दुहता है। नाटक के रचना तन्त्र की बहुत–सी रूढ़ियों से मुक्ति पा

लेता है और नये नाटक का रूप उसके कथ्य के भीतर से ही फूटता और बढ़ता है। कहना न होगा कि काव्य के क्षेत्र में 'प्रयोग' और 'प्रयोगवाद' कितना ही संदिग्ध रहा हो – पर नाटक के क्षेत्र में उसकी इज्जत बरकरार है बल्कि 'प्रयोग' में नयी सम्भावनाएं निष्पत्ति पा रही हैं।

प्रत्येक जीवित–जाति का यह स्वभाव रहा है कि वह अपनी सांस्कृतिक–अस्मिता को ऐतिहासिक–बोध से सम्पन्न बनाकर उसमें ही नये–नये जीवन–अर्थ खोजती है। इतिहास और पुराण का नये सिरे से अर्थान्वेषण और अर्थ–रचना जीवित–जाति को नयी शक्ति देती है। इस बात को इधर के नये नाटककारों ने पुराने नाटककारों की भांति ही ठीक से पहचाना है। यही कारण है कि इस काल में **ऐतिहासिक–पौराणिक नाटकों** की भरमार रही है और मिथकों में दृष्टि की आधुनिकता हीरे की भांति रगड़ खाकर चमक उठी है। एक प्रकार से इन नाटकों में हमारी पूरी परम्परा बोल उठती है। नाटककार और नाटक, परम्परा के भीतर ही बड़ा होता है या कहिए परम्परा में ही उसकी सार्थकता निहित रहती है। इस दौर में इस दृष्टि से शंकर शेष के 'खजुराहो की शिल्पी', दयाप्रकाश सिंहा का 'इतिहास–चक्र', लक्ष्मीनारायण भारद्वाज का 'अश्वत्थामा', जयशंकर त्रिपाठी का 'कुरुक्षेत्र का सवेरा', लक्ष्मीनारायणलाल का 'राम की लड़ाई', 'नरसिंह कथा', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', नरेन्द्र कोहली का 'शंबूक की हत्या', मणि मधुकर का 'इकतारे की आँख', ललित सहगल का 'हत्या एक आकार की', रेवतीशरण शर्मा का 'राजा–बलि की नयी कथा', सुरेन्द्र वर्मा का 'छोटे सैयद–बड़े सैयद', 'आठवां सर्ग' बृजमोहन शाह का 'त्रिशंकु', डा0 विजय का 'एक प्रश्न और' आदि का नाम स्मरणीय है। मिथकों के नये उपयोग ने आधुनिक जीवन की विसंगतियों–विद्रूपताओं–विडम्बनाओं को तीखे अर्थ–बोध से अभिव्यक्त किया है। व्यवस्था के भ्रष्ट और ढोंगी चरित्र पर इन नाटकों ने टिप्पणियां की हैं और नाटक का ध्वन्यर्थ दर्शक या पाठक को भीतर तक झकझोर देता है। 'आठवां सर्ग' सत्ता और साहित्यकार के बीच चलने वाले द्वन्द्व–तनाव को नया अर्थ–सन्दर्भ प्रदान कर देता है। सुरेन्द्र वर्मा 'छोटे सैयद–बड़े सैयद' में मुगलकालीन इतिहास के एक चरित्र से आधुनिक राजनीतिक त्रासदी सामने ला देते हैं। अतः अतीत की वर्तमानता को अर्थवत्ता देने वाले ये नाटक नाट्य–सृजन को नयी धार से पैनापन देते रहे हैं।

सातवें–आठवें दशक में देश की **विशिष्ट राजनीतिक स्थितियों का संघर्ष** काफी तीव्र हो गया। परिणामतः नाटककार परिवेश और अनुभव को नाट्य–सृजन में परिभाषित और

निर्धारित करने के लिए बाध्य होता गया। राजनीति की सिद्धान्तहीनता, अवसरवादिता, सरलीकरण और बौद्धिक दिवालियेपन ने आदमी के भीतर के आदमी को हड़बड़ा दिया। राजनीति जीवन में इतने रूपों में घुस पड़ी है कि किसी भी विचारवान व्यक्ति का उससे दूर रह पाना असम्भव हो गया। रचनाकार को राजनीति से दूर रहने का नारा काम नहीं आया और इधर रचना और राजनीति परस्पर एक–दूसरे में रचते–पचते गुंथ गये। सृजन–प्रेरणा में राजनीति का प्रभाव–दबाव बढ़ गया। साथ ही राजनीति इतनी मानवद्रोही और टुच्ची हो गयी कि व्यवस्था–तन्त्रों के बीच आदमी एकदम अकेला पड़ गया। फिर भी रचनाकार ने अनुभव किया कि आज की जिन्दगी का अर्थ खोजने वाला कोई भी व्यक्ति अन्ततः राजनीतिक प्रश्नों से बचकर जी नहीं सकता। इस गलतफहमी से इस दौर का रचनाकार मुक्त हो गया कि राजनीति के संसर्ग से कविता या नाटक भ्रष्ट हो जाता है। यथास्थिति बाकी राजनीतिक संस्थाओं, मठों पर नजर उठाते हुए डा0 लक्ष्मीनारायणलाल ने 'रक्तकमल', 'चतुर्भुज राक्षस', 'पंचपुरुष', 'गंगा माटी', सन्तोष कुमार नौटियाल ने 'चाय पार्टियां', कणाद ऋषि भटनागर ने 'जहर', 'जनता का सेवक', ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने 'शुतुरमुर्ग', शंकर शेष ने 'फंदी', 'बन्धन अपने–अपने', बृजमोहन शाह ने 'शह ये मात', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने 'बकरी', 'अब गरीबी हटाओ', हमीदुल्ला ने 'दरिन्दे', 'उत्तर उर्वशी', मणि मधुकर ने 'बुलबुल सराय', 'खेला पोलमपुर', सुदर्शन चोपड़ा ने 'काला पहाड़', कुसुम कुमार ने 'रावण', 'ओम क्रान्ति क्रान्ति', 'दिल्ली ऊंचा सुनती है', भीष्म साहनी ने 'कबिरा खड़ा बाजार में', रमेश उपाध्याय ने 'पेपरवेट' आदि नाटक लिखे हैं। इन नाटकों की रंगमंचीय सफलताओं ने हिन्दी–दर्शक की चेतना को काफी दूर तक बदलने का कार्य किया है। कथ्य की दृष्टि से हाल के इन नाटकों की गिनती से यह बात धूप की तरह साफ है कि इन नाटकों में राजनीतिक–सामाजिक और व्यक्तिगत अनुभव के कई स्तर तक साथ उभरे हैं। इनमें समकालीन यथार्थ में गहरे जाकर अपने समय के व्यापक प्रश्नों से जुड़ने–समझने की कोशिश है। अमृतराय ने 'चिंदियों की एक झालर' में भूतपूर्व क्रान्तिकारी के मोहभंग को युवा–पीढ़ी की टकराहट के साथ रखकर यह दर्शाया है कि मोहभंग कितनी दर्दनाक स्थिति से उपजा है।

पुरानी नाट्य–रूढ़ियों और घिसे–पिटे ढांचों–सांचों को तोड़ने में **विसंगतिवादी नाट्य–रूप** ने भी काफी महत्वपूर्ण पहल की है। मुद्राराक्षस ने 'तिलचट्टा', विपिन कुमार अग्रवाल ने 'लोटन', बृजमोहन शाह ने 'त्रिशंकु' आदि में इस दृष्टि से नया प्रयोग किया है।

आज के जीवन की सम्पूर्ण अराजकता का कोलाहल इन नाटकों की संरचना और भाषा में पाया जा सकता है।

समसामयिक नाटककारों में एक प्रवृत्ति इस रूप में भी विकसित हुई है कि वे **समकालीन विकृतियों–विद्रूपताओं का अंकन** करते हुए जीवन के नये मानवीय मूल्यों की महत्व–प्रतिष्ठा करते हैं। इस प्रवृत्ति के दर्शन विनोद रस्तोगी के 'नये हाथ', ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'माटी जागी रे', शंकर शेष के 'बिन बाती के दीप', लक्ष्मीनारायण लाल के 'सुन्दर रस', सत्यप्रकाश संगर के 'दीप से दीप जले' आदि नाटकों में दृष्टिगत होती है। मानववादी विचारधारा के बोध ने इन नाटकों में नया जीवन–बोध पैदा किया है।

प्रयोगधर्मी नाटककारों ने काव्य–नाटक या पद्य–नाटक की ओर अपना ध्यान बराबर केन्द्रित किया है। काव्य–नाटकों में वीरेन्द्रनारायण का 'सूरदास' अज्ञेय का 'उत्तर प्रियदर्शी', रामेश्वर सिंह कश्यप का 'अपराजेय निराला', समाधान, डा० विनय का 'रंग ब्रह्म', विनोद रस्तोगी का 'सूतपुत्र', भारतभूषण अग्रवाल का 'अग्निलीक', चन्द्रशेखर का 'शिवधनुष', कुंथा जैन का 'बाहुबली' आदि का नाम उल्लेखनीय है। इस दौर के अधिकांश काव्य–नाटकों में अतिशय काव्यात्मकता को स्थान न देकर नाटकीयता को कथ्य–भंगिमा से उत्पन्न किया गया है। साथ ही इनका मिजाज गैर–रोमाण्टिक कला का नमूना है। भाषा की प्रतीकात्मकता, बिम्बात्मकता ने सम्प्रेषणीयता की वृद्धि की है।

शिक्षित–अशिक्षित जनता को जगाने–झकझोरने और सोचने–समझने के लिए इधर **नुक्कड़ नाटकों** की भूमिका काफी सराहनीय रही है। जन–नाट्य–मंच दिल्ली ने 'हत्यारे', 'मशीन', 'गांव से शहर' जैसे नुक्कड़ नाटकों की सैकड़ों प्रस्तुतियां की हैं। इन नुक्कड़ नाटकों में जाति–पांति, ऊंच–नीच, साम्प्रदायिकता, दहेज, भ्रष्टाचार और हर तरह के शोषण के खिलाफ स्वर ऊंचा किया जाता है। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित और आन्दोलित नाटककार, अभिनेता और नाट्य–निर्देशक नुक्कड़ नाटकों की ओर काफी ध्यान दे रहे हैं। इन नाटकों को खेलने में सबसे बड़ी सुविधा यह है कि मंच की सज–धज का तामझाम नहीं जुटाना पड़ता। किसी भी खुले चौराहे, पार्क, गली के भीतर इसे किया जा सकता है। वस्त्र सज्जा लगभग नहीं के बराबर और न कोई मंच न दृश्य बन्धों की जरूरत। दर्शकों की सीधे–भागेदारी से इस तरह के नाटकों में जन–संवाद को सीधे कायम करने की शक्ति रहती है। बोलचाल की भाषा में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक किसी भी तरह की समस्या को बिना जनता का

ध्यान केन्द्रित करते हैं -- इसलिए इनकी प्रभावक्षमता अधिक बलवान होती है। ऐसी स्थिति में जनता तक नये विचारों की रोशनी ले जाने का नुक्कड़ नाटक सबसे कारगर अस्त्र सिद्ध हो सकता है।

अच्छे साहित्य को जनता तक पहुंचाने के लिए कल्पनाशील नाट्यकर्मियों और नाट्य–मण्डलियों ने कविता, कहानी, उपन्यास आदि के **नाट्य–रूपान्तरों** का सहारा लिया है। प्रेमचन्द्र, यशपाल, श्रीकान्त वर्मा की कहानियों, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, भवानीप्रसाद मिश्र आदि ख्यातिलब्ध कवियों की कविताओं के नाट्य–रूपान्तर और पाठ बड़ी सफलता से किये गये हैं। मन्नू भण्डारी के 'महाभोज' का नाट्य–रूपान्तर बेहद जनप्रिय हुआ। नाट्य–रूपान्तर की इस कला से देश–विदेश के किसी भी रचनाकार की कृतियों को दर्शकों तक पहुंचाया जा सकता है और इस टेकनीक से हम श्रेष्ठ साहित्य के प्रति संस्कारवान दर्शक भी तैयार कर सकते हैं। विष्णु प्रभाकर ने प्रभात कुमार मुखोपाध्याय की कहानी 'देवी' का 'बन्दिनी' नाम से नाट्य–रूपान्तर किया है। मुद्राराक्षस ने गोगोल के नाटक 'दि गवर्नमेण्ट अफसर' का नाट्य–रूपान्तर 'आला अफसर' शीर्षक से किया, जिसकी रंगमंचीय सफलता ने दर्शकों को मुग्ध किये रखा।

इसी काल में शेक्सपियर, वाइल्डर, ब्रेख्ट, सैमुअलबैकेट, कैरेल, चैपक आदि पश्चिमी नाटककारों के प्रसिद्ध नाटकों का भारतीय रंग–परम्परा के अनुसार **अनुवाद** किया गया है। इस क्षेत्र का सबसे समर्थ उदाहरण रघुवीर सहाय द्वारा शेक्सपियर के नाटक 'मेकबेथ' का 'बरनम वन' शीर्षक से अनुवाद है। अनुवादक ने इस महान त्रासदी के अनुवाद को मुख्यतया कविता छन्द में ढाला है। 'बरनम वन' यानी मानव की उद्दाम आकांक्षाओं का एक ऐसा जंगल जिसमें मानव को पीड़ा और अन्धकार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलता। शेक्सपियर के नाटक का यह इतना रचनात्मक अनुवाद है कि नाटक के अनुवाद–क्षेत्र में नया कीर्तिमान स्थापित करता है। अनुवाद के लिए यह बहुत जरूरी शर्त है कि वह अपनी भाषा में भी उस मूल संयोजन, अन्विति, संवाद शक्ति की गति आदि की तलाश करे जो मूल कृति के व्यंजना–लोक को प्रतिध्वनित कर सके। रघुवीर सहाय ने शब्दों, वाक्यों, बिम्बों, प्रतीकों और अन्य नाट्य–गतियों के कोणों को बहुमुखी व्यंजनाओं और भावनात्मक ध्वनियों–प्रतिध्वनियों के साथ लोक–संवेदना की भाव–भूमि पर पकड़कर अनुवाद किया है। विदेशी–भाषाओं के नाटकों के साथ भारतीय–भाषाओं के नाटकों के हिन्दी–अनुवाद भी बहुत लोकप्रिय हुए हैं। बादल

सरकार, उत्पलदत्त, गिरीश करनाड, विजय तेन्दुलकर, वसन्त कानेटकर, बी.पी. सूर्यरख, जयवन्त दलवी आदि के नाटकों के अनुवाद तो हिन्दी–रंगमंच पर छाए रहे हैं। इन सभी देशी–विदेशी नाटकों की प्रस्तुतियों ने हिन्दी–रंगमंच और हिन्दी–नाटक को नयी दिशा और दृष्टि दी है। संस्कृत के नाटकों में 'उरुभंग', 'मृच्छकटिक', 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', 'मुद्राराक्षस' आदि को कारन्त जैसे समर्थ नाट्य–निर्देशक ने हिन्दी–रंगमंच पर प्रस्तुत किया है। जयशंकर प्रसाद के नाटक 'चन्द्रगुप्त' और स्कन्दगुप्त की प्रस्तुतियों से यह मिथ खण्डित कर दिया है कि प्रसाद के नाटक पाठ्य–पुस्तकों में समाहित करने के लिए हैं। उनका अभिनय नहीं किया जा सकता है। कल्पनाशील प्रतीकात्मक रंगमंच पर प्रसाद के इन नाटकों की सफल प्रस्तुति दर्शकों का अविस्मरणीय अनुभव रहा है।

हिन्दी नाटक का सातवां–आठवां दशक प्रयोगधर्मी नाट्य–परम्परा की दृष्टि से पूरे हिन्दी–नाटक के विकास में एक नया अध्याय जोड़ता है। नये–पुराने हिन्दी नाटकों को जो महत्व मिला है उसके मूल में हिन्दी रंगमंच का सही दिशा में विकास है। अब हिन्दी रंगमंच विदेशी नाटकों, शैलियों का मुहताज नहीं है – उसकी एक अपनी रंग–परम्परा और रंग–दृष्टि विकसित हुई है। इन वर्षों में हिन्दी नाटक और रंगमंच को, ब.व. कारन्त, इब्राहिम अल्का जी, सत्यदेव दुबे, श्यामानन्द जालान, राजिन्दरनाथ, बंसी कौल, बृजमोहन शाह, एम.के. रैना, भानु भारती, देवेन्द्र अंकुर जैसे निर्देशकों की प्रतिभा का सुयोग प्राप्त हुआ है। इन सभी ने अपनी रंग–दृष्टि की सृजनात्मकता, कल्पनाशीलता और विचार–क्षमता से हिन्दी रंगमंच को सम्पन्न और समृद्ध बनाया है। आज के हिन्दी–नाटक में देश भर के नाटकों की सृजनात्मक–चेतना का स्पर्श समा रहा है। इस ढंग से हिन्दी नाटक का एक अखिल भारतीय–नाट्य–चक्र तैयार हुआ है और लक्ष्मीनारायणलाल, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, सुरेन्द्र वर्मा आदि के नाटक हिन्दी से दूसरी भाषाओं में भी अनूदित होकर खेले गये हैं। इस प्रकार हिन्दी नाटक अन्य भारतीय भाषाओं के नाटकों से लेन–देन बनाकर सम्पूर्ण भारतीय अस्मिता को नाटक में उजागर कर रहा है। अपनी भारतीय अस्मिता को रक्षित रखने के कारण हिन्दी नाटक सीमित परिधि से निकल रहा है और नाट्य–प्रयोग की दिशा में उसने नयी जमीन को तोड़ा है। नये नाटककार आज ऐसे नाटक लिख रहे हैं, जिनमें आज का समग्र जीवन धड़कता हुआ महसूस किया जा सकता है। अतः हिन्दी नाटक और रंगमंच से नवीन सम्भावनाओं के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है। सबसे बड़ी बात यह है कि वह भारतीय रंग–परम्परा को खोजकर उसमें ही नयी नाट्य–सृष्टि और रंग–दर्शन पा रहा है।

अद्यतन कहानी

सन् 70 तक पहुंचते–पहुंचते हिन्दी–कहानी ने साहित्य के अन्य रूपों की तुलना में केन्द्रीय स्थान बना लिया है। कहानी की आन्तरिक संरचना और बनावट में दस–पन्द्रह वर्षों के भीतर ही इतनी तेजी से परिवर्तन कि प्रक्रिया घटित हुई कि पिछली प्रवृत्तियों की रुझानें और अन्दरूनी मुहावरेबाजी बेअसर दृष्टिगत होने लगी। राजनीतिक, सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया ने भटकाव में एक नयी पीढ़ी को जवान किया। इसी जवान पीढ़ी ने सृजनात्मक क्षेत्र में उस मानसिकता को जन्म दिया, जो पिछली पीढ़ी की मानसिकता से मूल्यों और विचारों में एकदम भिन्न है। इन नये कहानीकारों की चेतना उन रचनाकारों–समूहों से एकदम भिन्न है जो अब तक लिखते आ रहे थे। यही कारण है कि आठवें दशक के कहानीकारों ने जीवन के विविध, अंतरंग और तनावपूर्ण छवियों के जो चित्र 'यथार्थ' रूप में अंकित किये हैं – वह पहले वाले 'यथार्थ' का पर्याय नहीं कहा जा सकता। इन नये कहानीकारों ने अनुभव किया कि जीवन से, परिवेश से अपनी निजता जोड़े रहना सरल नहीं है। इसलिए नयी पीढ़ी के कथाकारों ने परम्परा को नये बोध से समझा, ऊपर से छीला और साफ किया तथा उसे अपनी रचनात्मक जरूरतों के अनुकूल ढालकर ग्रहण किया। उसमें नये मानव–संघर्षों की नयी तड़प और सूझ पैदा की। परिणामतः इन कहानीकारों में कई तरह की स्थितियों के प्रति आक्रोश है, खीझ है, चीख है, प्रश्नाकुलता है, आत्ममन्थन है, आत्मालोचन है, आत्मसाक्षात्कार का निर्भय भाव है और जीवन की विद्रूपताओं, विसंगतियों, सन्त्रासों, यन्त्रणाओं में भी डटकर जी पाने की साहसिकता का भाव है। पिछली पीढ़ी की तरह यह तकलीफों से भागते नहीं हैं, उन्हें काबू में लाकर भोगते हैं। अब इस कहानी का स्वर अस्तित्ववादी न रहकर मानववादी हो गया है।

वह यहां शेखर जोशी, ज्ञानरंजन, भीष्म साहनी, विष्णु प्रभाकर, यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', राकेश वत्स, सुरेश सेठ, उदयप्रकाश, प्रयाग शुक्ल, राजी सेठ, मंजुल भगत, राजेश जोशी, दिनेश पालीवाल, मिथिलेश्वर, ब्रजेश्वर मदान, योगेश गुप्त आदि की कहानियों में एकदम गायब हो गया।

इन युवा कहानीकारों और इनका साथ देते विष्णु प्रभाकर जैसे कथाकारों को यह भ्रम नहीं रहा कि सामाजिक–शोषण, हिंसा, अन्याय, दहेज आदि पर कहानी लिखने मात्र से रचनाकार का सामाजिक दायित्व पूरा हो जाता है। उसने पहचान लिया कि यह एक घटिया

नुस्खा और टूटा घाट है। उसने ईमानदारी से यह सच भी महसूस किया है कि नागरिक–दायित्व, सामाजिक दायित्व और रचना के दायित्व में ऊपर से भिन्नता दृष्टिगत होने पर भी कोई बुनियादी फर्क नहीं है। रचनाकार ऊपर से नहीं उतरा है। वह अन्य नागरिकों की भांति ही पत्नी से गाली खाता, परिवार के लिए नमक–तेल जुटाता, बस के पीछे भागता, भीगी पलकों से व्यवस्था के नरक को हेरता–जीता, नौकरी के लिए दफ्तरों की सीढ़यां घिसता प्राणी है। वह न तो मानव आत्मा का डाक्टर है, न इंजीनियर है। हां, समाज को जगाने वाला, राह दिखाने वाला अवश्य है। आज के रचनाकार ने महसूस किया है कि पूरा विश्व एक वैचारिक–बौद्धिक संक्रान्ति से गुजर रहा है। सिद्धान्तों, मूल्यों, मान्यताओं की इतनी भारी टूट–फूट और सांस्कृतिक विघटन की हालत इतनी हाय–हत्या और हाहाकार के साथ शायद कभी नहीं आयी। पश्चिमी समाज की टेक्नालॉजी और विज्ञान ने अपने प्रभाव से विश्व भर की मूल मूल्य दृष्टि में शंका पैदा कर दी है। विज्ञान ने मानव को शक्ति दी पर विनाश का एक रास्ता भी खोल दिया। बुद्धिजीवी – असहाय, लाचार और बौना हो गया। तीसरी दुनिया के देश थरथराहट में हांफ उठे हैं। इस दृष्टि से ज्ञान का नया समाज शास्त्र विकसित हुआ है। जिसमें न अब फ्रायड महत्वपूर्ण है न किर्केगार्द। जीवन की भांति साहित्य निरन्तर बदलता विकसित होता है। जिसे चेतना नियंत्रित नहीं करती, परिस्थितियां निर्धारित करती हैं।

आठवें दशक की कहानियों का ढांचा पश्चिमी कहानियों की अनुकृति और प्रतिकृति नहीं है। कहानी का एक भारतीय सांचा उभरकर सामने आया है जिसमें तीनों काल एक साथ प्रवाहित रहते हैं। जिसमें न अतीत मरता है – न भविष्य फूटता है – केवल वर्तमान अपनी वर्तमानता, निरन्तरता, विकासमयता के साथ मानव को मथता–उद्वेलित करता चलता है। काल का जो कृत्रिम विभाजन पश्चिम में हुआ और जिस पर अस्तित्ववादी दर्शन ने अपनी जोरदार मुहर लगायी। उसका आदर भारतीय–जीवन में कभी नहीं रहा। यही कारण है कि अनास्था–सन्त्रास, यंत्रणा, अकेलेपन, विवशता की बात करने पर भी सातवें–आठवें दशक की कहानियां आस्था बटोरते आदमी की कहानियां हैं। इस काल–धारा में कहानी ने फैलाव में नहीं, जमीन में धंसकर गहरायी पैदा की है। नया कहानीकार भारतीय अस्मिता को तलाशने और रचने में संकल्पबद्ध होकर निकल पड़ा है। उसके लिए अपने समय और समाज की स्थितियों के यथार्थ की पहचान विशेष महत्व रखती है। और यह पहचान उसे स्थिति के मूल–स्रोत तक पहुंचाने में मदद करती है।

'नयी कहानी' से आगे के समसामयिक कहानीकार जीवन के नये सन्दर्भों–सम्बन्धों के बदलाव को वर्णनात्मकता के झाड़ू से बटोरकर नहीं दिखलाता, बल्कि सम्बन्धों को प्रतीकों–बिम्बों में सतर्कता से परिभाषित करता है। गोविन्द मिश्र 'गिद्ध' कहानी में दफ्तरों के भ्रष्ट अधिकारियों की देहगाथा एक बिम्ब में कह देते हैं। इसराइल 'अर्थहीन' शीर्षक कहानी में शिक्षित युवक की शिक्षा और योग्यता का एक दारुण बिम्ब पैदा करते हैं – जो पढ़ लिखकर किसी मतलब का नहीं रहा। उसे हमेशा लगता रहा है कि 'एक भयावह डरावना खालीपन उसको निगल जायेगा।' पूरी व्यवस्था की विसंगतियों पर कहानी घूंसा मारकर जगा देती है। महानगरों ने इच्छा जगाकर आदमी को कैसे तोड़ा है, यह इधर की तमाम कहानियों में एक–साथ दिखाई देता है। योगेश गुप्त की कहानी 'एन्क्लोजर' यन्त्र दानव की व्यथा का दारुण इतिहास है। मशीनमैन घनश्याम 'उसका दम घुटने लगा। सामने आसमानों को छूती एक कतार। पीछे आसमान को छूती हुई इमारतों की कतार।' बाहर निकलने का रास्ता नहीं है। ऐसे ही वेद राही कहानी 'हररोज' महानगर के अभिशाप का नमूना है। असगत वजाहत 'केक', अमितेश्वर 'हुक्कापानी', उदयप्रकाश 'टेपचू', बलराम 'पालन हारे', धीरेन्द्र अस्थाना 'अपनी दुनिया', राजकुमार गौतम 'रिश्ते', नरेन्द्र मौर्य 'बिखरते–बिखरते सन्दर्भ', रमेश उपाध्याय 'आत्मसमर्पण', श्रीकान्त वर्मा 'टुकड़ों में बंटी जिन्दगी', 'ठेंड', दिनेश पालीवाल 'तोता चश्म', 'स्वीकारोक्ति', अमितेश्वर 'तीलियां' आदि कहानियों में समकालीन यथार्थ के विभिन्न रूपों को उघाड़ा गया है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यथार्थ यहां रचना का फार्मूला नहीं है – वह एक जटिल और संश्लिष्ट प्रक्रिया का अंग है। ये कहानियां यथार्थ का अतिक्रमण करती हैं और विसंगति–विद्रूपता को फैलाकर रचती हैं। समाज की संघर्षशील और विद्रोही मानसिकता के विविध प्रतीक पत्तों में नसों की तरह नत्थी हैं। इसका कारण है कि इनमें उन ऐतिहासिक परिस्थितियों का दबाव है – जिन्हें रचे बिना कहानीकार भरोसे का नहीं बन पाता। फिर यहां पिछली कहानियों की 'काव्यात्मकता' को ठेलकर वैचारिक गद्यात्मकता ने केन्द्रीय स्थिति बना ली है। अब कहानीकार भाषा में 'लिखता' नहीं है – भाषा में बोलता है। हर हरकत भाषा की सतह नहीं होती, भाषा के भीतर से फूटती है। ऐसी स्थिति में अद्यतन कहानी–कथ्य और रूप की अन्विति में बौद्धिक और भावनात्मक शोषण के खिलाफ सृजनात्मक गद्य में सबसे तेज कार्रवाई है। 'परिन्दे' की काव्यात्मकता जहां संश्लेषणात्मक–चरमता में वैचारिकता को घुलाकर भावुकता में बदल देती थी – वहां 'टेपचू' कहानी ठोस गद्य की संगठित अनुशासन–क्षमता–शक्ति से संश्लेषणात्मक चरमता में वैचारिकता को ठोस हीरे के क्रिस्टल में बदल देती है।

विचार–आलोचनात्मक–विवेक–चेतना से आगे बढ़कर उसे उसकी मूल जड़ से ही गह लेता है। पाठक को स्थिति की बोधमयता के साथ विचार के वेग को संभालकर चलना पड़ता है। सम्पूर्ण मोहभंग के बीच यह मानवीय अनुभव की ऐसी पकड़ है। जहां कोरी वैयक्तिकत भावना और आदर्शीकरण की कोई गुंजाइश नहीं बच पाती। कहानी के कथ्य का पूरा 'परिवेश' नाटकीयता में सक्रिय रहता है और अनेक दृश्य मिलकर एक मुकम्मल दृश्य–बोध देते हैं। आज की कहानी का पूरा अर्थशास्त्र–समाजशास्त्र और मनोविश्लेषण शास्त्र मानव–मुक्ति के रास्ते खोज रहा है। कहानी आभिजात्य को तोड़कर लोक–तत्व को स्थापित कर रही है। इसीलिए इसमें लोक–तत्व और लोक–माध्यम खास ढंग से सर्जनात्मक उत्साह का रक्षक बना है।

आठवें दशक की कहानियों ने संवाद–तत्व में **नाटकीयता, प्रतीकात्मकता** और रूप की स्वच्छता उत्पन्न की, जिससे इनका 'कथ्य' काफी दिलचस्प हो उठा। संवादों में परिवेश की व्यंजकता ने ध्वनि और भंगिमाओं का खुला विकास किया। मंजुल भगत ने 'सफेद कौआ' में एक ढंग से प्रतीक साधकर व्यंग्य किया तो 'मृत्यु की ओर' में मरणासन्न व्यक्ति में मां और पत्नी के अवचेतन का खुलासा किया। रमेश बत्तरा ने 'थप्पड़' कहानी में शिक्षित मध्यवर्ग के आदमी की कायरता और रिक्शा वाले व्यक्ति की निर्भयता और तड़प को व्यक्त किया तो 'लड़ाई' कहानी में प्राचीन कारेस के शिल्प का अच्छा उपयोग किया। मृदुला गर्ग ने 'दुनिया का कायदा' में पैसे के सामने मानवीयता की हत्या दिखायी तो सुरेन्द्रतिवारी ने 'वार्ड नम्बर टू' में सरकारी अस्पतालों का कच्चा चिट्ठा खोल दिया। इस ढंग से कहानियों की संरचना अपनी बुनावट में काफी नयी है। कहानीकार मार्क्सवादी रुझान के हों या गैर मार्क्सवादी प्रतिबद्धता के हों – सभी में किसान–कारीगर के साथ एकाकार करने वाली संवेदना मौजूद है। यह संवेदना मधुकर सिंह की कहानी 'लहू पुकारे आदमी' धीरेन्द्र अस्थाना की 'सूरज लापता है' जैसी कहानियों में बड़ी शक्ति से उभरती है। इस संवेदना को गहरे यथार्थ की पकड़ देने के लिए रमेश उपाध्याय जैसे लम्बी कहानियों के कहानीकार ने 'नदी के साथ एक रात' में प्रतीकात्मकता को फन्तासी में उतार दिया है। यह बात साफ है कि दस–पन्द्रह वर्षों से हिन्दी के कहानीकार ने रूपवाद, संरचनावाद, भाववाद, कलावाद, अध्यात्मवाद जैसे वाहियात तत्वों से जमकर संघर्ष किया है और इन बुराइयों से कहानी को बचाने में उसकी अन्तर्दृष्टि अधिक प्रदीप्त रही है।

ठीक से देखा जाये तो आठवें दशक की कहानियों ने यह मिथ खण्डित कर दिया है कि सार्थक और प्रयोगधर्मी नवीनता की कलात्मक उपलब्धि के लिए इस या उस विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता अनिवार्य होती है। क्योंकि विचारधारा का उलथा सृजनात्मकता नहीं है। सृजनात्मकता को विचारधारा दृष्टि दे सकती है – पर सभी लेखकों को दिशा–दृष्टि दे सके– यह आवश्यक नहीं है। फिर समय से घिसकर हर विचारधारा सृजनात्मकता में अपने खाने स्वयं बना लेती है और उसका जरूरत से ज्यादा कसाव–बढ़ाव रचनात्मकता की शक्ति को वैसे ही नष्ट कर देता है जैसे जरूरत से ज्यादा खाद–पानी पौधे को जला–सड़ा देता है। रचनात्मकता विचार और संवेदना के सन्तुलन से निखरती है। दरअसल, सम–सामयिक कहानीकार के पास बड़ा 'विजन' नहीं है – वह अपने सीमित परिवेश के भीतर ही रचनाको घुमाता–फिराता रहता है। यथार्थ शिल्प के चक्कर में 'कला की तमीज' सीखना नहीं चाहता। परिणामतः उसकी रचनाएं प्रभान्विति के स्तर पर निराश कर देती हैं।

आज का कहानीकार कहानी में अपने परिवेश को ही रचकर खुश है – वह उन मिथकों को छूता तक नहीं है, जिनसे जिन्दगी के बृहत्तर अर्थ–सन्दर्भों को उजागर किया जा सकता है। श्रम का परायापन, अमानवीकरण, आत्मनिर्वासन उसे अभी भी कसे हैं। इसलिए इन कहानियों का प्रमुख कमजोर पहलू यह है कि ये सतह पर बड़बड़ाते आदमी की नियति भर हैं।

अक्सर ध्यान इस बात पर भी जाता है कि इस पूरे दौर में एक भी ऐसा कहानीकार क्यों नहीं उभरा, जो परिवर्तनशील सामाजिक–सांस्कृतिक, राजनीतिक–आर्थिक, नैतिक–धार्मिक शक्तियों की समझ का गहरा प्रमाण देता। ज्यादातर कहानियों में व्यवस्था–विरोध का गुस्सा भर है। पर गुस्से का सृजनात्मक उपयोग किसी बड़ी तैयार का प्रमाण नहीं देता। आज की उपभोक्तावादी–संस्कृति किस तरह और किस बेरहमी से मानवतावादी मूल्यों और भारतीय–संस्कारों का सिलसिलेवार ढंग से संहार कर रही है – इसकी चिन्ता बहुत कम कहानीकारों को है। सामाजिक–सांस्कृतिक वेदन–तन्त्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध की जो अवधारणा प्रेमचन्द, यशपाल और विष्णु प्रभाकर ने विकसित की है उसकी डोर ही हमारे हाथ से खिसकती जा रही है। इन सब कमियों के बावजूद अच्छी बात यह है कि प्रेमचन्द से अज्ञेय और अज्ञेय से ब्रजेश्वर मदान तक की कहानियों में सामाजिक सजगता, शिल्पगत परिष्कार और रूपान्वेष में अन्विति और अन्तर्योजना स्थापित करने वाली जो प्रक्रिया शुरू हुई थी वह आज भी

लोक–भाषा और लोक–चेतना की संवेदनात्मक गतियों में विकसित होती देखी जा सकती है। पिछले दौर की कहानी में बोध संवेदन और अभिव्यक्ति के स्तर पर जो ठहराव आ गया था, उसे इस दौर के कहानीकारों ने निर्ममता और निर्भयता से तोड़कर नयी गति दी है। नये लोगों में आदमी की बुनियादी हालत को बयान करने की तड़प का अहसास तो बढ़ा है, पर अप्रासंगिक सवालों में उलझे रहने का खतरा भी कम दृष्टिगत नहीं होता। बहुत से कहानीकार आज भी पुराने मुद्दों को ढोये जा रहे हैं और इधर बहुत–सा लिखने पर भी प्रासंगिक लिख नहीं पा रहे हैं। इस स्थिति के कारण युवा कहानीकारों की सृजन–सम्भावनाएं ही भरोसा बंधाती हैं।

अद्यतन उपन्यास

सातवें–आठवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में कथ्यगत संवेदना, रूपबन्ध और दृष्टि को लेकर गुणात्मक परिवर्तन परिलक्षित होता है। आज का उपन्यास समग्र परिवेश में फैलकर देश और काल की प्रामाणिक–चेतना से पाठकीय संवेदना को झकझोर देता है। समय और समाज की समस्याओं, प्रश्नाकुलताओं, चुनौतियों, अन्तर्विरोधों, विसंगतियों, विद्रूपताओं और आधुनिक समाज की जटिलताओं–यन्त्रणाओं को व्यक्त करने के लिए उपन्यास से उपयुक्त और समर्थ माध्यम आज दूसरा नहीं है। एक लम्बे समय तक सभी विधाओं पर कविता अपना चक्रवर्तित्व स्थापित किये रही। लेकिन आजादी के बाद कविता धीरे–धीरे अपनी केन्द्रीय स्थिति खोती गयी और अन्य सभी विधाओं को दायें–बायें कोने में खिसकाकर कथा–साहित्य केन्द्र में आ गया। जीवन के मोहभंग और जटिलता को व्यापक सन्दर्भों में प्रतिबिम्बित करने का बड़ा हौसला आज उपन्यास में ही ठीक से दृष्टिगत होता है।

सातवें–आठवें दशक की चेतना का प्रतिनिधित्व लक्ष्मीकान्त वर्मा के 'एक कटी हुई जिन्दगी : एक कटा हुआ कागज' (1965), 'टेराकोटा' (1971), लक्ष्मीनारायण लाल 'प्रेम अपवित्र नदी', कृष्णा सोबती के 'सूरजमुखी अंधेरे के' (1972), 'मित्रो मरजानी' (1967), उपेन्द्रनाथ अश्क का 'शहर में घूमता आईना' (1963), भारतभूषण अग्रवाल का 'लौटती लहरों की बांसुरी' (1964), राजेन्द्र यादव 'अनदेखे अनजान पुल' (1963), मन्मथगुप्त 'शहीद और शोहदे' (1970), फणीश्वरनाथ रेणु 'जुलूस' (1965), 'कितने चौराहे' (1966), 'कलंक मुक्ति' (1976), हिमांशु

श्रीवास्तव 'कथा सूर्य की नयी यात्रा', शैलेश मटियानी 'किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई', रमेशचन्द्र शाह 'गोबर गणेश', 'किस्सा गुलाम' (1986), रमाकान्त 'प्यारा फर्जी अर्दब', डा0 देवराज 'न भेजे गए पत्र', शिवप्रसाद सिंह 'अलग–अलग वैतरणी' (1967), रामदरश मिश्र 'जल टूटता हुआ' (1969), 'सूखता हुआ तालाब' (1972), जगदीशचन्द्र 'धरती धन न अपना' (1972), मणि मधुकर 'सफेद मेमने' (1971), रामकुमार भ्रमर 'कांच घर' (1971), भीष्म साहनी 'कड़ियां' (1970), 'तमस' (1973), शमशेर सिंह नरूला 'एक पंखड़ी की तेज धार' (1965), राजकमल चौधरी 'मछली मरी हुई' (1966), रमेश बक्षी 'वैसाखियों वाली इमारतें' (1966), 'एक घिसा हुआ चेहरा' (1964), 'अठारह सूरज के पौधे' (1965), 'चलता हुआ लावा', उषा प्रियवंदा 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' (1961), 'रुकी भी नहीं राधिका' (1967), 'मन्नू भण्डारी 'आपका बन्टी' (1971), 'महाभोज' कमलेश्वर 'डाक बंगला' (1962), 'तीसरा आदमी' (1964), 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' (1965), 'आगामी अतीत' (1976), 'काली आंधी', प्रयाग शुक्ल 'गठरी' (1986), मोहन राकेश 'अंधेरे बन्द कमरे' (1961), 'अन्तराल' (1972), निर्मल वर्मा 'वे दिन' (1964), 'लाल टीन की छत', गिरिराज किशोर 'यात्राएं' (1971), 'जुगुलबन्दी', 'चिड़ियाघर', हृदयेश 'गांठ' (1970), 'हत्या' (1971), गंगा प्रसाद विमल 'अपने से अलग', मुदुला गर्ग 'चित्तकोबरा', मंजुल भगत 'लेडी क्लब', 'अनारो', श्याम व्यास 'एक प्यासा तालब', ओमप्रकाश दीपक 'कुछ जिन्दगियां बेमतलब', गोविन्द मिश्र 'वह अपना चेहरा' (1971), 'लाल पीली जमीन', 'उतरती हुई धूप', शिवानी 'कृष्णाकली' (1969), मृणाल पाण्डे 'पण्ढरपुर पुराण', 'बदी उज्जमा', 'एक चूहे की मौत', 'छठा ब्राह्मण', जगदम्बा प्रसाद दीक्षित 'मुरदाघर' (1974), राही मासूम रजा 'आधा गांव' (1966), गोपी शुक्ला 'हिम्मत जौनपुरी', 'दिल एक सादा कागज', श्रीलाल शुक्ल 'रागदरबारी' (1968), 'अज्ञातवास', 'आदमी का जहर', कृष्णा अग्निहोत्री 'टपरेवाले', निरुपमा सेवती 'बंटता हुआ आदमी', मालती लफकर 'इन्नी', रजनी पनीकर 'महानगर की गीता', 'दूरियां', मेहरुन्निसा परवेज 'आंखों की देहलीज', 'उसका घर', मालती जोशी 'पाषाण युग', ममता कालिया 'बेघर', शशिप्रभा शास्त्री 'सीढ़ियां', नरेन्द्र कोहली 'दीक्षा', 'अवसर', हरिशंकर परसाई 'रानी नामगती की कहानी', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना 'पागल कुत्तों का मसीहा' (1977), 'सोया हुआ जल' (1977), 'कच्ची सड़क' (1987), 'उड़ते हुए रंग' (1974), 'अंधेरे पर अंधेरा' (1970), मीनाक्षी पुरी 'जाने पहचाने अजनबी', हरिप्रकाश त्यागी 'दूसरा आदमी लाओ, श्रीकान्त वर्मा 'दूसरी बार', सुरेन्द्र तिवारी 'फिर भी कुछ', प्रभाकर माचवे 'तीस–चालीस–पचास', 'दर्द के पैबन्द', 'किसलिए', 'द्यूत', विष्णु प्रभाकर 'स्वप्नमयी', रवीन्द्र कालिया 'खुदासही सलामत है', नरेन्द्र कोहली 'युद्ध'

(दो भाग), 'जंगल की कहानी', 'अवसर', 'साथ सहा गया दुःख', 'अभिज्ञान', नासिरा शर्मा 'सात नदियां एक समुन्दर', यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', 'हजार घोड़ों का सवार', राजी सेठ 'तत्सत', सुदर्शन चोपड़ा 'सम्मोहन', विवेकी राय 'सोना माटी', शिवसागर मिश्र 'अजन्मा वह', 'अक्षत', द्रोणवीर 'टूटे हुए सूर्य' आदि उपन्यासों की एक लम्बी सूची पर ध्यान जाता है। कोहली 'टप्पर गाड़ी' पानू खोलिया बिम्ब ? अनिरुद्ध पाण्डेय 'पन्ना पुखराज', 'मुद्राराक्षस', 'हम सब मसाराम'।

हिन्दी के समकालीन उपन्यास–साहित्य ने पिछले दिनों अपरिचित और अमूर्त्त व्यापक से बचकर भोगे हुए जीवन–यथार्थ की निजी दुनिया के सीमित संसार को तात्कालिकता और आधुनिकता के मुहावरे में सृजित किया है। इस दौर का अधिकांश लेखन व्यक्ति–केन्द्रित रहा और रचनाकार व्यक्ति के माध्यम से समय और समाज की हालत को सामने लाया। इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक मुखर विस्फोट 'गोबर गणेश', 'किस्सा गुलाम', 'आपका बन्टी' जैसे उपन्यासों में हुआ है। व्यक्ति के माध्यम से कथाकार 'स्व' और उसके आसपास के परिवेश से उलझता है– उसका ध्यान राजनीतिक–आर्थिक स्थितियों पर जाता है – जिसने आज के ईमानदार व्यक्ति को भीतर से अकेला करके छील दिया है। उपन्यासों में सोचने–समझने–बहस करने वाले नर–नारियों की बौद्धिक–विवेक–वयस्कता इधर काफी बढ़ी–चढ़ी दृष्टिगत होती है। ये पात्र अपनी नियति भी पहचानते हैं और राजनीति के तोताचश्म की उधेड़बुन में भी प्रवृत्त रहते हैं। उनकी इच्छा–आकांक्षा, विचारधारा–राजनीति, मित्रता–शत्रुता, धर्म, साहित्य आदि सभी के प्रति निश्चित राय रहती है।

'स्व' के सम्बन्धों की प्रासंगिकता–अप्रासंगिकता दिखाने के लिए इन स्व–केन्द्रित उपन्यासों में नर–नारी सम्बन्धों की दैहिक–भौतिक संबंधों की छानबीन बहुत बारीकी से की जाती है। बदलते हुए सामाजिक–आर्थिक–नैतिक संबंधों ने स्त्री–पुरुष की आदिम–राग–शक्ति, काम और प्रेम को भी दूषित कर दिया है। निर्मल वर्मा के 'वे दिन' में काम के आवेग की धारा का सूक्ष्म अंकन है। सम्भोग तक पहुंचने से पहले दो व्यक्तियों की मानसिकता का पूरा सूक्ष्म ब्यौरा दिया गया है। श्रीकान्त वर्मा ने 'दूसरी बार' स्त्री के सामने पुरुष की हीनभावना और नफरत को प्रतीकों की नयी गतियों–छवियों से उभारा है। ऐसे भी उपन्यास हैं जो पति–पत्नी के बीच के दैहिक संबंधों पर आंख गड़ाते हैं -- जैसे गिरिराज किशोर का 'यात्राएं'। 'यात्राएं' नवविवाहित पति का पत्नी से सम्भोग न कर पाने की व्यथा–कथा है। पर इस विषय–वस्तु का सबसे जीवंत उपन्यास कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अंधेरे के' है।

इस काल–खण्ड में हिन्दी–उपन्यास में एक नयी प्रवृत्ति यह भी उभरी है – **नौकरीपेशा मध्यवर्ग के लोगों की शहरी जिन्दगी का केन्द्र में आ जाना।** सन् 70 के बाद आंचलिकता से मुक्ति पाकर कथाकार शहरी मध्यवर्ग की समस्याओं चुनौतियों–स्थितियों की ओर मुड़े और उनके चित्रण में प्रवृत्त होते गये हैं। शहरी–जीवन के चित्रण में सर्वाधिक चर्चा का केन्द्र दफ्तर की भ्रष्ट स्थितियों को उभारता है जिसमें एक अफसर अपने से बड़ी अफसर स्त्री के राग–रंग संबंधों को उभारा है। गोविन्द मिश्र ने 'वह अपना चेहरा' में स्त्री क्लर्क और पुरुष अफसर की कथा को रोचक दास्तानों से उठाया है। भीष्म साहनी के उपन्यास 'कड़ियां' में दफ्तर के नर–नारी की ही कथा है। बदी उज्जमा के उपन्यास 'एक चूहे की मौत' में दफ्तरी–जीवन की झल्लाहट–यन्त्रणा, ऊब आदि का वर्णन है। यहां चूहे और काम लेने वाले आदमी में फर्क कर पाना कठिन है।

महानगरीय जीवन की यन्त्रणा और खोखलेपन को उभारने वाला प्रमुख उपन्यास लक्ष्मीकान्त वर्मा रचित 'टैरीकोटा' है। इसमें दिल्ली के जीवन को सच्चे प्रतीकों से उजागर किया गया है। इस उपन्यास की कथा का आरम्भ हस्तिनापुर की खुदाई में प्राप्त कुछ मूर्त्तियों के संकेत और रोहित–मिति के संवादों से होता है। अपाहिज–सेनापति कम्बोज, उनकी अन्धी पत्नी, तीन पुत्रियां, पाण्डव सेनापति कैशिकेय, सामन्त रोहिताश्व की मूत्तियां अपने संकेतों, प्रतीकों में आधुनिक व्यथा बोझिल आदमी की प्रतिकृतियां हैं। इस प्रकार यह कथा प्राचीन होकर भी एकदम आधुनिक बोध से जुड़ी है। महाभारत युद्धोत्तर काल के पात्रों से महानगरीय जीवन की विडम्बनाओं तथा विसंगतियों को नयी प्रयोग–कला से उभारा गया है।

इधर के उपन्यासों में एक नवीन प्रवृत्ति और उभरी है – **विदेशों में रहने वाले भारतीय परिवारों, व्यक्तियों के अकेलेपन, ऊब आदि का चित्रण।** अक्सर वहां बसे भारतीय परिवार विदेशी–परम्पराओं में ढल नहीं पाते। विदेशी जीवन में घुल–मिल न पाने की स्थितियों से उत्पन्न व्यथा का चित्रण रंग–भेद, जाति–भेद के तनावों की तस्वीर इन उपन्यासों में उभारी जाती है। मगर अभी इस तरह के उपन्यासों में विदेशों शहरों की भीड़–भाड़, रीति–रिवाजों की फैशन, भ्रष्टाचार की बारीक दृश्यावलियां नहीं मिल पाती हैं। हिन्दी में इस ढंग के उपन्यास निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद, रामकुमार, उषा प्रियंवदा आदि ने पिछले दशकों में लिखे हैं।

समग्रतः में, इधर के कुछ वर्षों में हिन्दी–उपन्यास साहित्य में देश और काल की चेतना प्रखरता से अभिव्यक्त हुई है। उपन्यास के भाषा शिल्प में भी एक खुलापन आया है। नये–नये औपन्यासिक प्रयोगों ने जीवन की विविधता को कलात्मक सजगता से वैचारिक स्तरों पर अभिव्यक्ति दी है।

अद्यतन निबन्ध

समसामयिक हिन्दी–निबन्ध में वैचारिक खुलापन आने के साथ–साथ युग की समस्याओं–जटिलताओं–चुनौतियों पर तार्किक बहस केन्द्रित विवेक–वयस्कता में पर्याप्त वृद्धि हुई है। अनेक प्रकार की गद्य–विधाओं के विकास ने हिन्दी–गद्य को जो प्रौढ़ता प्रदान की है– उसका पूरा लाभ इधर के वर्षों में समीक्षात्मक तथा ललित व्यक्तित्व व्यंजक निबन्धों ने उठाया है। आज निबन्ध अधिक एकाग्र आत्मदान प्रेरित विधा के रूप में गतिशील है और निबन्धकारों की वृत्तियां गहरी एकाग्रता से केन्द्रित जान पड़ती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की निबन्ध परम्परा का विकास यहां अवरुद्ध न होकर नयी चिन्तन पद्धतियों और अभिव्यक्ति की भंगिमाओं में प्रस्फुटित होता है। अज्ञेय, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, निर्मल वर्मा, रमेशचन्द्र शाह, शरद जोशी, जानकीवल्लभ शास्त्री, रामेश्वर शुक्ल अंचल, नेमिचन्द्र जैन, विष्णु प्रभाकर, जगदीश चतुर्वेदी, डा0 देवराज, डा0 नामवर सिंह, विवेकीराय आदि ने हिन्दी–गद्य की निबन्ध परम्परा को न केवल आगे बढ़ाया है, बल्कि उसमें कुछ ऐसे विशिष्ट प्रयोग किये हैं जो हिन्दी–निबन्ध की शक्ति एवं सम्भावनाओं के प्रति आश्वस्त करते हैं। निबन्ध की रचनावृत्ति रोमाण्टिक भावावेग के बोध से बाहर निकल कर गैर–रोमाण्टिक बौद्धिक रुझानों की ओर झुकती प्रतीत होती है। ललित–निबन्धों ने सर्जनात्मकता के लुभावने स्पर्श से नया आलोक पाया है। निबन्धकार अपने युग और अपने निजी व्यक्तित्व का यहां प्रत्यक्ष रूप से सामना करता है और व्यक्तित्व की यह समृद्धि और शक्ति निबन्धों की रचनात्मकता में उपयुक्त तत्व सिद्ध हुई है। रेखाचित्र, संस्मरण, आत्मकथा आदि सभी निबन्ध की नयी शैली में मथकर नये रूपों–छवियों में आ रहे हैं। स्थिति यहां तक आ गयी है कि अब निन्धों को भावनात्मक–वैचारिक निबन्धों में वर्गीकृत करने वाला पुराना सांचा अपर्याप्त हो गया है। आज जटिल राजनीतिक परिस्थिति पर भी व्यंग्य–शैली में वैचारिक गहनता से निबन्ध लिखा जा रहा है और सांस्कृतिक विषयों पर निहायत अगम्भीर ढंग से

ललित–निबन्ध भी। आज ऐसा कोई विषय नहीं जो निबन्ध की व्यापक परिधि के अन्तर्गत समाहित न हो पाता हो।

इस कालखण्ड में अज्ञेय जी के निबन्धों ने पाठकों का ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट किया है। अज्ञेय जी के समीक्षात्मक–निबन्ध साहित्य के सवालों को साहित्य में उगाकर ही नहीं काट देते। उनके लिए ये सवाल मानव–संस्कृति से जुड़े महत्वपूर्ण सवाल हैं और इन सवालों के लिए रचनाकार अज्ञेय की साहित्य–दृष्टि बहुत गहरे तक जाती है। उनका साहित्य–चिन्तन इतिहास, संस्कृति और परम्परा का एक भरा वाद्य यन्त्र है। इसमें सिर्फ कला या साहित्य की एकल तान नहीं है – साहित्य–विवेक और संस्कृति–मन्थन इसकी एक गहन जटिल किन्तु अनिवार्य प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया अभी समाप्त नहीं हुई है। इसलिए इसमें से विचार संवेदना की नयी ऐतिहासिक दृष्टि, मूल्य–दृष्टि का विकास आधुनिक दृष्टि के भीतर से पककर होता है। नये–पुराने साहित्य, संस्कृति या किसी अन्य विषय को निबन्धों में तथ्य से तत्व में बदल डालने की सृजनात्मक–वैचारिकता ने केन्द्रीय स्थान बनाया है। इस चिन्तन में आत्मान्वेषण और आत्मालोचन का आत्म–संघर्ष अपनी प्रबलता से झकझोरता है। अज्ञेय की चिन्ता जीवन के कुण्ठित और भ्रष्ट हो गये अर्थ को, खोये हुए अर्थ को फिर से रचने और परोसने की चिन्ता है। सामूहिक चेतना की मूलभूत वास्तविकताओं के साथ साझेदारी युग–यथार्थ के साथ बौद्धिक टकराहट, प्रयोग परम्परा और सम्प्रेषणता के रिश्तों को फिर से कायम करने की बेचैनी इन निबन्धों में निरन्तर कौंधती रहती है। 'आत्मपरक' (1983 ई0) के निबन्ध 'आत्मनेपद' और 'लिखी कागद कोरे' निबन्ध–संग्रहों के निबन्धों को एक साथ लाते हैं।

दूसरे अज्ञेय जी के निबन्ध जयशंकर प्रसाद के निबन्ध संग्रह 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' की याद दिलाते हैं। प्रसाद की भांति अज्ञेय के निबन्धों की मूल चिन्ता भारतीय सांस्कृतिक बोध से निष्पन्न मूल्य–दृष्टि से जुड़ी रही है। प्रसाद जी संस्कृति बोध को निबन्धों में चिन्तन से हिला–डुलाकर पहचान करते हैं और अज्ञेय संस्कृति बोध, साहित्य बोध को चिन्तन से कूट–फटक कर साफ करने बाद परोसते हैं।

इधर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक सांस्कृतिक बोधपरक सृजनात्मक ललित विचार चेतना को पं0 **विद्यानिवास मिश्र** के निबन्धों ने आधुनिक विस्तार दिया है। आचार्य द्विवेदी के निबन्धों की ललित–शैली का विद्यानिवास के निबन्ध सच्चे अर्थों में लालित्य बोधीय आलोक फैलाते हैं। इनमें लोक–संवेदना और लोक हृदय की पकड़ बड़ी मर्मस्पर्शी है।

मिश्र जी के निबन्धों से एक ऐसे व्यक्ति का चित्र सामने आता है जो भारतीय सारस्वत परम्परा को, उनके मूल्य बोध को बेहतरीन ढंग से व्यक्त करने में सर्वथा सक्षम है। इन ललित निबन्धों के संवेगों की गन्ध प्राणों को जातीय स्मृति, देशाभिमान, संस्कृति का उज्ज्वल राग–रंग और ऐतिहासिक विवेक से तादात्म्य कराती हुई चेतना में रच–पच जाती है। पश्चिमी संस्कृति का नकली अनुकरण और आज के मानव का खोखलापन मिश्र जी के निबन्धों में दर्द बनकर उभरता है। शिक्षा, संस्कृति और साहित्य इन ललित–निबन्धों के तीन नेत्र हैं – इन्हीं से हेरते हुए वे 'नया अर्थ' पाते हैं। मिश्र जी ने साफ कहा है – 'वैदिक सूत्रों के गरिमामय उद्‌गम से लेकर लोक–गीतों के महासागर तक जिस अविच्छिन्न प्रवाह की उपलब्धि होती है उस भारतीय परम्परा का मैं स्नातक हूं।' इसी चिन्तन धारा के प्रवाह से 'परम्परा बन्धन नहीं', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है', 'वसन्त आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं', 'कंटीले तारों के आर–पार', 'संचारिणी', 'कौन तू फुलवा बीनन हारी', 'अस्मिता के लिए', 'भ्रमरानन्द के पत्र', 'अंगद की नियति', 'चितवन की छांव', 'कदम की फूली डोल', 'तुम चन्दन हम पानी', 'आंगन का पंछी और बंजारा मन', 'मैंने सिल पहुचाई', 'साहित्य की चेतना', 'महाभारत का काव्यार्थ', 'लागौ रंग हरी' तथा 'अग्निरथ' जैसे निबन्ध–संग्रहों की एक लम्बी परम्परा है। 'अग्निरथ' के व्यक्तिव्यंजक निबन्ध पूर्व निबन्ध–संग्रहों से अलग है।

समीक्षात्मक निबन्धों में अपनी प्रखर बौद्धिकता और विवेक वयस्क वैचारिकता के क्षेत्र के सबसे प्रबल निबन्धकार हैं – **गजानन माधव मुक्तिबोध**। मुक्तिबोध ने 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध', 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र', 'समीक्षा की समस्याएं' तथा 'एक साहित्यिक की डायरी' नामक निबन्ध–संग्रहों से आधुनिक–सृजन–समीक्षा को नयी दृष्टि से प्रतिमान दिये हैं। इधर 'मुक्तिबोध रचनावली' (सं. नेमिचन्द्र जैन) के प्रकाशन से उनके सभी विचार पाठकों को उपलब्ध हो गये हैं।

नये साहित्य के सिद्धान्तकारों–चिन्तकों में विजयदेव नारायण साही की भूमिका उल्लेखनीय है। सन् 1960–61 के संयुक्तांक पांच–छह में प्रकाशित उनका प्रथम निबन्ध 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' ने सभी प्रबुद्ध रचनाकारों–पाठकों–आलोचकों–मठाधीशों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया। साही जी ने परम्परा की नयी व्याख्या करते हुए, अज्ञेय का सम्बन्ध–सूत्र प्रसाद से स्थापित किया। उनका कहना है कि "यदि परम्परा हमेशा परिवर्तन और वैपरीत्य की दिशाओं में फूटती हुई चलती है, तो अज्ञेय

आगे के इतिहासकार को प्रसाद की 'परम्परा' में ही दिखलाई पड़ेंगे।" उनका चर्चा के केन्द्र में रहने वाला दूसरा निबन्ध है 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट।' वैसे साही ने 'राजनीति और साहित्य', साहित्य में गतिरोध', 'साहित्यकार और उसका परिवेश', 'आजीविका और आश्रय', 'निन्तान समसामयिकता का नैतिक दायित्व' (1, 2) 'हिन्दी के सृजनात्मक लेखन में 'अंग्रेजी शब्दा का प्रयोग', 'हिन्दी गीत–परम्परा का नया उत्थान', 'पाश्चात्य प्रभावों के सन्दर्भ में वर्तमान काव्यभाषा की समस्याएं', 'साहित्यिक अश्लीलता का प्रश्न', 'विदेशी सहायता और देश पर उसका प्रभाव', 'साहित्य क्यों', 'गोदान', 'इतिहास और परम्परा', 'पुनर्मूल्यांकन किस आधार पर', 'धर्म सापेक्ष्य और धर्म निरपेक्ष तत्वों की तलाश', 'हिन्दी–साहित्य और उसके आसपास', 'राजनीति में साहित्यकार', 'सांस्कृतिक परिवर्तन में पश्चिमवाद की कसौटी', 'जायसी' और 'भाषा का अवमूल्यन' आदि वैचारिक आधुनिक और प्रखर विश्लेषण क्षमता से हिन्दी–निबन्ध को नयी विचार–भूमि पर ला खड़ा कर देते हैं।

इधर के वर्षो में कथाकार **निर्मल वर्मा** ने हिन्दी–निबन्ध को नया रूप–रंग दिया है। इन निबन्धों में उनकी सृजनात्मक बौद्धिक यात्राओं का एक दिलचस्प संसार है। इस संसार से निर्मल वर्मा समकालीन कला–संस्कृति–साहित्य, भाषा, दर्शन आदि के प्रश्न उठाकर पूरी शक्ति से जूझते हैं। चीजों के आरपार झांकने वाली पारदर्शित निर्मल के निबन्धकार का सबसे बड़ा गुण है। उनके दो विशिष्ट निबन्ध–संग्रह हैं – 'शब्द और स्मृति' तथा 'कला का जोखिम'। सभी निबन्धों में निर्मल वर्मा की बुनियादी चिन्ता यही है कि "एक सम्पूर्ण समाज में सृजनात्मक कल्पना की भूमिका का पुनराविष्कार कैसे किया जाये।" ऐसे ही विचार अज्ञेय जी अपने निबन्धों में उठाते हैं। अतः निर्मल और अज्ञेय के चिन्तन में निकटता के अन्तःसूत्र काफी मिलते हैं। निर्मल के मन में जहां तक 'स्मृति' का प्रश्न है वहां 'जिसकी सामूहिकता के घेरे में हर कलाकार दूसरों से जुड़ा है।' निर्मल मानते हैं कि भारतीय चरित्र का निर्माण दो पाटों के मध्य हुआ – व्यावहारिक स्तर पर इतिहास का स्वीकार और चिन्तन स्तर पर उसके दबाव की उपेक्षा से। 'संस्कृति, समय और भारतीय उपन्यास' निबन्ध में एक नयी बहस उठी है – "उपन्यास की अर्थवत्ता यथार्थ में नहीं, उसे समेटने की प्रक्रिया में, उसके संघटन की अन्दरूनी चालक शक्ति में निहित है।" निर्मल के 'कला का जोखिम' निबन्ध–संग्रह में दिनोदिन पराधीन होती सभ्यता में कला की स्वायत्तता का प्रश्न ही कला का जोखिम है एवं यही मूल प्रश्न 'रचनात्मक क्रान्ति की मूल चिन्ता का विषय' है। निर्मल वर्मा 'कला, मिथक और यथार्थ', 'परम्परा और इतिहास बोध', 'रचना की जरूरत', 'साहित्य में प्रासंगिकता का प्रश्न', 'रेणू :

समग्र मानवीय दृष्टि', 'अज्ञेय : आधुनिक बोध की पीड़ा', 'हमारे समय का नायक', 'सुलगती टहनी' आदि यही प्रश्न बार–बार उठाते हैं – "हमारे युग का विशिष्ट अभिशाप यह है कि जहां कला एक तरफ मनुष्य के कार्य–कलाप से विगलित हो गयी है वहां दूसरी तरफ वह स्वायत्त सत्ता भी नहीं बन सकी है, जो स्वयं मनुष्य की खण्डित अवस्था को अपनी स्वतंत्र गरिमा से अनुप्राणित कर सके।"

निर्मल वर्मा से अलग विचार–दृष्टि अपनाते हुए इस काल–खण्ड में नेमिचन्द्र जैन की निबन्ध–यात्रा का विकास हुआ है। उनके 'अधूरे साक्षात्कार', 'रंगदर्शन', 'बदलते परिप्रेक्ष्य' तथा 'जनान्तिक' के समीक्षात्मक निबन्धों ने एक अलग पहचान बनायी है। डा0 नामवर सिंह के वैचारिक सैद्धांतिक निबन्ध 'कविता के नये प्रतिमान' इधर काफी चर्चा का केन्द्र रहे हैं। इन निबन्धों ने बड़ी जोर का धमाका किया है जिनसे पुराने प्रतिमानों की चूलें हिल गयी हैं। सृजनात्मक गद्य का मोहक नमूना इनकी पुस्तक 'दूसरी परम्परा की खोज' में मिलता है। वैचारिक गद्य कितना सृजनात्मक और ललित हो सकता है – यह प्रमाण नामवर सिंह ने इन निबन्धों में कलात्मक ढंग से दिया है। मार्क्सवादी निबन्धकार रमेश कुन्तल मेघ ने 'क्योंकि समय एक शब्द है', 'अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा', 'साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक' जैसी पुस्तकों में समीक्षात्मक निबन्ध की स्तरीयता को ज्ञान–संग्रह से बढ़ाया है।

डा0 रामविलास शर्मा की निबन्ध–शैली हिन्दी गद्य में स्वच्छता, प्रखरता और वैचारिक सम्पन्नता के लिए वरदान सिद्ध हुई है। उनके सभी महत्वपूर्ण निबन्धों को एक साथ सामने लाने वाले 'विराम चिह्न', 'मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य', 'परम्परा का मूल्यांकन', 'मानव सभ्यता का विकास', 'भाषा युगबोध और कविता', 'कथा–विवेचना और गद्य–शिल्प', 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' (भाग 1–2) 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' जैसे संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'विराम–चिह्न' की भूमिका में उन्होंने लिखा है, "आपसदारी में कह दूं कि मेरे निबन्धों का यह सबसे अच्छा संग्रह है। यह बात दूसरी है कि मेरा कोई भी निबन्ध–संग्रह अच्छा न बन पड़ा हो किन्तु उनमें – अन्धों में काने राजा के समान ही सही – यह 'विराम–चिह्न' सर्वोपरिक है।"

हिन्दी–निबन्ध में व्यंग्य का विकास जोरों से प्रगति कर रहा है। इस क्षेत्र में **कुबेरनाथ राय, विवेकीराय, शरद जोशी, रवीन्द्र कालिया** आदि ने हिन्दी–निबन्ध की एक समर्थ व्यंग्य–शैली विकसित की है। सामाजिक–राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, साहित्यिक–सांस्कृतिक

सभी क्षेत्रों पर इन व्यंग्यकारों का ध्यान है, हालांकि ज्यादातर व्यंग्य राजनीतिक व्यंग्य के रूप में ही उभरे हैं। कुबेरनाथ राय 'निषाद बांसुरी' का संसार हटाकर यहां रवीन्द्र कालिया, रवीन्द्र त्यागी, ठाकुर प्रसाद सिंह तथा शरद जोशी आ जाते हैं। विवेकीराय ने 'बबूल', 'फिर वैतलवा डाल पर', 'जलूस रुका है', 'गंवई गांव की गन्ध में' ललित निबंधों के भीतर से व्यंग्य उत्पन्न किया है। कुबेरनाथ राय 'दृष्टि अभिसार' में तीखा व्यंग्य करते हैं – पर वह उतना पेना और अर्थगर्भित नहीं है, जितना शरद जोशी का व्यंग्य। रवीन्द्र त्यागी के निबन्ध–संग्रह 'शोकसभा', 'देवदार के पेड़', 'अतिथि कक्ष' में आज की जिन्दगी की विडम्बनाओं को व्यंजना धर्मी कला से उजागर किया है। शरद जोशी ने 'तिलस्म', 'जीप पर सवार हल्लियां' तथा 'यथासम्भव' (1985)में हिन्दी–गद्य की सृजनात्मक से व्यंग्य का रंग बरसाया है।

नये निबन्धकारों में विशिष्ट नाम उभरा है – रमेशचन्द्र शाह। शाह के निबन्ध–संग्रहों में 'समानान्तर', 'वागर्थ', 'शैतान के बहाने' आदि का नाम उल्लेखनीय है। निबन्धों में इतिहास परम्परा और संस्कृति की चिन्ता अज्ञेय जी की भांति शाह को मथती रहती है। 'साहित्य में आज का गतिरोध', 'समकालीन रचना में स्वतंत्रता का अर्थ' आदि उनके ऐसे निबन्ध हैं जो अपनी वैचारिक गहनता और ऐतिहासिक–बोध की स्पष्टता के लिए याद किये जायेंगे।

हिन्दी साहित्य के प्रतिष्ठित निबन्धकारों में डा0 नगेन्द्र, डा0 देवराज, महादेवी वर्मा, विजयेन्द्र स्नातक, केशव वर्मा, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर, रामेश्वर शुक्ल, 'अंचल' बराबर सक्रिय रहे हैं। इन निबन्धकारों की चिन्तनात्मक प्रौढ़ता ने हिन्दी–निबन्ध की दिशा को भटकने से बचाया है। प्रसिद्ध कथाकार और आत्मकथा लेखक विष्णु प्रभाकर ने 'हम जिनके ऋणी हैं' नामक निबन्ध–संग्रह में हमारे राष्ट्रीय नेताओं पर ललित निबन्ध लिखे हैं। जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'मन की बात' तथा 'जो न बिक सकी' निबन्ध–संग्रहों में क्लासिकल संवेदना का उदात्त–रूप सामने रखा है। इधर 'माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली', 'रांगेय राघव ग्रंथावली', 'राहुल सांकृत्यायन के श्रेष्ठ निबन्ध' तथा गुलेरी और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के श्रेष्ठ निबन्धों ने भी हिन्दी–निबन्ध की समृद्धि में योगदान किया है।

युवा निबन्धकारों में प्रभाकर श्रोत्रिय, चन्द्रकान्त वांदिवडेकर, नन्दकिशोर आचार्य, बनवारी, कृष्णदत्त पालीवाल, प्रदीप मांडव, कर्ण सिंह चौहान, चंचल चौहान, विजयमोहन सिंह, ज्ञानरंजन जैसे बहुत से महत्वपूर्ण निबन्धकार इस दौर में उभरे हैं। कृष्णदत्त पालीवाल ने 'नया सृजन नयाबोध' के समीक्षात्मक निबन्धों से अलग इधर ललित–निबन्धों की एक ताजी शैली

विकसित की है। इस तरह से ललित निबन्धों में 'देसी ताले विदेशी कुंजी', 'धर्म, संस्कृति और नवजागरण', 'हमारी मान्यताओं के सांस्कृतिक उत्स', 'परम्परा में ही हैं नवजागरण की जड़ें', नये चिन्तन को अंकुरित करते हैं। इस दौर के नये निबन्धकार सांस्कृतिक–सामाजिक विषयों पर निबन्ध ज्यादा लिखते हैं और इन निबन्धों में भारतीय लोक–परम्पराओं और मान्यताओं पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है।

समग्रतः राजनीतिक–सांस्कृतिक विषयों पर चिन्तन की ताजगी से निबन्ध लिखना इन नये निबन्धों की विशिष्ट प्रवृत्ति है। हास्य, व्यंग्य, विनोद की दिशा में भी शरद जोशी, रवीन्द्र कालिया जैसे निबन्धकार विशेष योगदान दे रहे हैं। हिन्दी काव्य–भाषा के रूप में तथा राष्ट्रभाषा के रूप में – जैसे विषयों पर भी अनगिनत निबन्ध लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं। हिन्दी में 'आलोचना', 'जनसत्ता', 'नवभारत टाइम्स', 'भाषा', 'साक्षात्कार', 'पूर्वग्रह', 'दस्तावेज' आदि पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से नया निबन्ध लगातार समृद्ध हो रहा है। सबसे बड़ी बात यह है कि समीक्षात्मक निबन्धों के साथ–साथ इधर के दशकों में व्यक्तित्व–रंजक, व्यक्ति–व्यंजक ललित निबन्धों का बड़ा प्रीतिकर विस्तार हुआ है। अतः हिन्दी–गद्य की सृजनात्मक सम्भावनाओं की दिशा में इन ललित निबन्धों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

अद्यतन आलोचना

साठोत्तरी हिन्दी–आलोचना का जन्म रचना–कर्म की भांति ही मोहभंग की स्थितियों से हुआ। साथ ही आधुनिक विचारधाराओं, साहित्य और कला के आन्दोलनों, घटनाओं, सिद्धान्तों, संघातों, समस्याओं ने बुनियादी तौर पर रचना और आलोचना दोनों में परिवर्तन किये। फ्रायड, युंग, एडलर, एजरा पाउण्ड, टी.एस. इलियट, एफ. और लीविस, सार्त्र आदि विचारकों से हिन्दी के लेखक का सम्पर्क बढ़ा। मार्क्स और लूकाच उसकी चेतना में नये बोध से जागृत हुए। अस्तित्ववाद, मानववाद, क्युब्जिम, प्रभाववाद, यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, न्यू क्रिटिसिज्म नव्यअरस्तूवादी – सिद्धान्तों और आलोचना–पद्धतियों के परिचय ने हिन्दी आलोचना में एक नया बौद्धिक परिवेश तैयार किया। परिणामतः पुराने आलोचकों की तुलना में नया आलोचक और अधिक जागृत, चौकन्ना और चतुर दृष्टिगत हुआ। पुरानी सैद्धान्तिक मान्यताओं को – विशेषकर संस्कृत–हिन्दी काव्य–शास्त्र – नवीन सैद्धान्तिकता और व्यावहारिकता ने पछाड़कर

नवीन मूल्य एवं मानदण्डों को ग्रहण किया। प्रयोगवादी तथा नयी कविता की अभ्यस्त लीकें भी नवीन सृजनात्मक और आलोचना में चुभने लगी।

अज्ञेय जी ने साहसिक तार्किकता के साथ युग–बोध में परिवर्तन की प्रक्रिया को रेखांकित करते हुए बदलते हुए रागात्मक सम्बन्धों की बात उठायी। यह बात स्वीकार कर ली गयी कि बदलती चेतना ने पुराने संस्कारगत राग–सम्बन्धों को भीतर से बदल दिया है। परिणामतः वस्तुओं को देखने की दृष्टि बदली है और नयी वास्तविकता से साक्षात्कार नये राग–बोध से ही सम्भव है। जटिल होते हुए युग की जटिल संवेदनाओं ने सृजन कर्म को जटिल बना दिया। परिणामतः रचना की भावनात्मक–ज्ञानात्मक वैचारिक संश्लिष्टता, बौद्धिकता, आधुनिकता, ऐतिहासिकता का अनुभव ही अर्थ रचना को पकड़ना–समझना आलोचना में कठिन हो गया। पिछड़ती समझ के पाठक और आलोचक नये सृजन की नासमझ व्याख्याओं से ही चौपट हो गये। सृजन की मौलिकता को समझाने के लिए नये रचनाकारों ने सैद्धान्तिक मान्यताओं और व्यावहारिक समीक्षाओं से नयी आलोचना–भूमि तैयार की। इनमें अज्ञेय, मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, नेमिचन्द्र जैन, धर्मवीर भारती, नलिन विलोचन शर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, रघुवीर सहाय, विजयदेव नारायण साही, केदारनाथ सिंह, मलयज, जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकांत वर्मा, श्रीकान्त वर्मा, कुंवरनारायण आदि रचनाकारों का चिन्तन काफी उपयोगी सिद्ध हुआ। सच्चे अर्थों में इन्हीं रचनाकारों के नये चिन्तन ने **सृजनात्मक–आलोचना** की शुरूआत की है। मूल्यवादी समीक्षा तथा नयी समीक्षा के टकराहट का यह दौर नवीन समीक्षा–कर्म की सम्भावनाओं का दौर भी बनता गया।

मुक्तिबोध के क्रान्तिकारी आलोचना–कर्म का विस्फोट सन् 1961 ई0 में 'कामायनी : एक पुनर्विचार' के प्रकाशन से हुआ। मुक्तिबोध ने 'कामायनी' को इसलिए चुना क्योंकि 'कामायनी' साहित्य के रसवादी–छायावादी–पुराणपन्थियों के हाथ में, नवीन प्रगति शक्तियों के विरुद्ध एक शस्त्र बन गयी।'' साथ ही 'भाववादी आलोचकों ने प्रसाद जी से भी आगे बढ़कर 'कामायनी' का रहस्यवादी मनोवैज्ञानिक अर्थ लगाया और उसके उपयोगी तत्वों को प्रच्छन्न कर दिया।'' मुक्तिबोध ने 'कामायनी : एक पुनर्विचार' के द्वारा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना–धारा का नवसंस्कार–नवनिर्माण किया। शुक्ल जी की भांति ही मुक्तिबोध ने आलोचना के रहस्यवादी–सौन्दर्यवादी, भाववादी, कलावादी, रूपवादी, अध्यात्मवादी प्रतीकवादी–बिम्बवादी,- अस्तित्ववादी खतरों से जमकर लड़ाई लड़ी और इन घातक बीमारियों

से हिन्दी–समीक्षा को बचाने का भरपूर प्रयास किया। कला की व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के खिलाफ संघर्ष ने 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबन्ध' तथा 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' जैसे तगड़े चिन्तन की समीक्षात्मक पुस्तकों को जन्म दिया। मुक्तिबोध ने सामन्तवादी–साम्राज्यवादी–उपनविवेशवादी ताकतों के चरित्र को समझने के लिए 'कामयनी' पर मार्क्सवादी–मनोविश्लेषणवादी–समीक्षा के मिले–जुले प्रतिमान लागू किये। 'एक साहित्यिक की डायरी' (1964) में अपने चिन्तन की भिन्नता को पुराने प्रगतिवादी आलोचकों की दृष्टि से अलगाया और पुराने प्रगतिवादी आलोचकों की संकीर्णतावादी–अलगाववादी दृष्टि की कमजोरियों पर प्रहार करते हुए उन्हें सलाह भी दी। नयी कविता की शक्ति सम्भावनाओं की महत्व–प्रतिष्ठा करते हुए मुक्तिबोध ने कला और साहित्य की 'जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचियों' का डटकर विरोध किया।

हिन्दी–आलोचना के इस दौर में सर्वाधिक चर्चा का केन्द्र नामवर सिंह की पुस्तक 'कविता के नये प्रतिमान' रही है। कई दृष्टियों से यह पिछले दो दशकों की हिन्दी में कविता सम्बन्धी आलोचना की बहुत विचारोत्तेजक पुस्तक है। इसमें बदले हुए काव्य–बोध और मूल्य–बोध को भारी बहसों–तर्कों से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। कविता की नयी कसौटियों को पाने के लिए पूरी पुस्तक विवाद–शैली में लिखी गयी है, हालांकि इस पुस्तक के विचारों पर मुक्तिबोध तथा विजयदेव नारायण सही के विचारों की भारी धमक है। नयी कविता की प्रकृति और सम्भावनाओं को नये प्रतिमानों के साथ समझाने का यह एक अच्छा प्रयास है। नामवर सिंह की 'दूसरी परम्परा की खोज' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्य–दृष्टि को समझाने का गम्भीर चिन्तन है। हिन्दी गद्य की सृजनात्मकता और आलोचना के लालित्य में यह अपने ही ढंग की सृजनात्मक आलोचना का नमूना है।

शुद्ध आलोचक न होते हुए भी इन दशकों में अज्ञेय जी ने हिन्दी आलोचना को काफी समृद्ध किया है। इस दृष्टि से 'आत्मने पद', 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य', 'आलवाल', 'लिखि कागद कोरे', 'जोग लिखी', 'संवत्सर', 'अद्यतन', 'आत्मपरक', 'सर्जना और सन्दर्भ', 'स्मृति लेखा', 'केन्द्र और परिधि' आदि पुस्तकों का योगदान स्मरणी है। 'चौथा सप्तक' की भूमिका 'पुष्करिणी' की भूमिका का आलोचनात्मक योगदान भी महत्वपूर्ण है। कहना न होगा कि अज्ञेय जी ने नयी कविता को प्रतिष्ठित करने के साथ ही उसके मूल्यांकन के प्रतिमानों का

निरूपण किया है। ये नये प्रतिमान पुराने कवियों का पुनर्मूल्यांकन करने में भी काफी मदद करते हैं।

नयी कविता और नयी सर्जना के सबसे प्रबल सिद्धान्तकार हैं – विजयदेवनारायण साही। साही ने 'लघुमानव के बहाने हिन्दी–कविता पर एक बहस' तथा ' शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' शीर्षक दो निबन्धों से ही हिन्दी आलोचना में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। शमशेर की 'काव्यानुभूति की बनावट' में उन्होंने नयी सर्जना के बदलाव को तत्व–दृष्टि से पकड़ते हुए कहा, "नयी कविता की बहसों में यह मान्यता अन्तर्भूत रही है कि न सिर्फ कविता का ऊपरी कलेवर बदला है या नये बिब्बों या प्रतीकों या शब्दावली की तलाश हुई है, बल्कि गहरे स्तर पर काव्यानुभूति की बनावट में ही परिवर्तन आ गया है। चेतना के जो तत्व काव्यानुभूति के आवश्यक अंग दिखते थे, उनमें से कुछ अनुपयोगी या असार्थक दिखने लगे कुछ अन्य जो पहले आवश्यक या विरोधी लगते थे, काव्यानुभूति के केन्द्र में आ गये और कुल मिलाकर काव्यानुभूति और जीवन की काव्येतर अनुभूतियों में जो रिश्ता दिखता था, वह रिश्ता भी बदल गया।" नये साहित्य के साथ साही का ध्यान मध्यकाल की हिन्दी–कविता और जायसी पर गया। जायसी पर अनुसंधान करते हुए उन्होंने इतने नये निर्णय दिये कि आचार्य शुक्ल के बाद फिर से जायसी का पुनराविष्कार ही कर डाला। आचार्य शुक्ल की अनेक मान्यताओं का खण्डन करते हुए उनकी पुस्तक 'जायसी' (1983) सामने आयी। यह पुस्तक आचार्य शुक्ल के जायसी सम्बन्धी मूल्यांकन को आगे बढ़ाने वाली है। सूफी–साम्प्रदायिक–ढांचे में जायसी का मूल्यांकन हो रहा था पर शुक्ल जी ने उसे तोड़ने की जरूरत नहीं समझी। साथ ही जायसी के 'पद्मावत' को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में बांटकर शुक्ल जी ने समग्रता में कृति के अर्थ का अन्वेषण नहीं किया। वे उसके रूपक–तत्व में ही लिपटकर रह गये। साही ने कहा कि जायसी सूफी साम्प्रदायवाद के कवि नहीं हैं – वे मूलतः कवि हैं और एक विशिष्ट अर्थ में हिन्दी के पहले विधिवत कवि हैं। साही की दृष्टि में जायसी का व्यक्तित्व और कवि–स्वभाव एक बौद्धिक कवि का है – सूफी सन्त या बैरागी बाबा का नहीं। कारण, जायसी भौतिकवादियों में अध्यात्मवादी दिखते हैं और अध्यात्मवादियों में भौतिकवादी। "जायसी अपने समाज और उसमें प्रचलित सत्ता–संघर्ष को देख रहे थे। उनकी विशेषता यह थी कि, उन्होंने इस समूचे परिदृश्य को नयी पूर्वग्रह हीन आंखों से देखा और उन्होंने इस विराट ट्रेजेडी और साथ ही इस अभिमान की व्यर्थता को देखा जो उनके समाज को मथ रही थी।" नयी समीक्षा (न्यू क्रिटिसिज्म) के सिद्धान्त सूत्रों में किया गया यह वैचारिक मन्थन समसामयिक हिन्दी

आलोचना में बेजोड़ है। साही ने 'इतिहास और परम्परा', 'गोदान', 'राजनीति और साहित्य', 'जनवादी साहित्य', 'साहित्य क्यों', 'धर्म सापेक्ष और धर्म निरपेक्ष तत्वों की तलाश हिन्दी–साहित्य और उसके आसपास' आदि समीक्षात्मक निबन्धों से भी इस काल की हिन्दी–आलोचना को नयी दृष्टि दी है।

नवलेखन, नयी कविता और समसामयिक कविता के विशिष्ट आलोचकों में रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकान्त वर्मा, शमशेर बहादुर सिंह, जगदीश गुप्त, मलयज, धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर आदि का नाम उभरकर सामने आया है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'मध्ययुगीन हिन्दी काव्य–भाषा' पर भाषावादी आलोचना की दृष्टि से गहन–गम्भीर कार्य किया है। किन्तु वे 'नवलेखन' (1960), 'भाषा और संवेदना' (1964), अज्ञेय : आधुनिक रचना की समस्या', 'कामायनी : पुनर्मूल्यांकन' आदि आलोचनात्मक पुस्तकों से नये साहित्य में अपनी अलग पहचान बनाते हैं। उन्होंने काव्य–भाषा की सृजनशीलता को अपनी आलोचना का केन्द्रीय विषय बनाते हुए लिखा, "आज की कविता को जांचने के लिए, जो अब सचमुच 'प्रास के रजत पाश' से मुक्त हो चुकी है, अलंकारों की उपयोगिता अस्वीकार कर चुकी है और छन्दों की पायलें उतार चुकी है, काव्य–भाषा का प्रतिमान ही शेष रह गया है क्योंकि कविता के संघटन में भाषा–प्रयोग की मूल और केन्द्रीय स्थिति है।" लक्ष्मीकान्त वर्मा ने आलोचना कर्म में नयी कविता की ऊर्जा को पहचान दी। इस दृष्टि से 'नयी कविता के प्रतिमान' और 'नये प्रतिमान पुराने निकष।' (1966) की खूब चर्चा रही है। धर्मवीर भारती ने 'साहित्य और मानव मूल्य' तथा 'पश्यन्ती' में नयी कविता की मूल्य–दृष्टि पर विचार किया है। गिरिजाकुमार माथुर ने 'नयी कविता सीमाएं और सम्भावनाएं' डा0 जगदीश गुप्त ने 'नयी कविता : शक्ति और सीमा', डा0 रघुवंश ने 'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य', डा0 जगदीश कुमार ने 'नयी कविता की चेतना', 'नयी कविता विलायती सन्दर्भ', 'शमशेर का काव्यालोक', कृष्णदत्त पालीवाल ने 'भवानी प्रसाद मिश्र का काव्य–संसार', 'सर्वेश्वर और उनकी कविता', डा0 प्रभाकर श्रोत्रिय ने 'संवाद', 'रचना एक यातना है', नन्दकिशोर आचार्य ने 'अज्ञेय की काव्य–तितीर्षा', डा0 हरदयाल ने 'आधुनिक कविता का शिल्प', डा0 नरेन्द्र मोहन ने 'लम्बी कविताओं का रचना–विधान' आदि आलोचनात्मक पुस्तकों से नयी कविता का मूल्यांकन विवेचन किया है। इस दौर में डा0 केदारनाथ सिंह ने 'आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब–विधान', मलयज ने 'कविता से साक्षात्कार', दूधनाथ सिंह ने 'निराला : आत्महत्या आस्था' जैसी आलोचनात्मक पुस्तकों से नयी समीक्षा को प्रतिष्ठा दी है। विश्वनाथप्रसाद तिवारी ने 'समकालीन हिन्दी कविता' परमानन्द

श्रीवास्तव ने 'समकालीन कविता का व्याकरण' और अशोक वाजपेयी ने 'फिलहाल' के द्वारा कवियों और कृतियों की संवेदना, काव्य–भाषा तथा अभिव्यंजना के अन्य उपकरणों को विश्लेषित करने में 'क्लोज रीडिंग' पद्धति को ग्रहण किया है। कुल मिलाकर नयी कविता के इन आलोचकों ने हिन्दी आलोचना को नयी चिन्तनात्मक अवधारणाओं से आगे बढ़ाया है।

रमेशचन्द्र शाह का आलोचना–कर्म इतिहास–चिन्तन, परम्परा और संस्कृति का भरा पूरा संसार है। शाह ने संस्कृति मन्थन की जटिल प्रक्रिया में से गुजर कर अपना साहित्य–विवेक अर्जित किया है। 'छायावाद की प्रासंगिकता' से स्पष्ट है कि शाह की समीक्षा–दृष्टि सृजनात्मक आलोचना की ओर प्रवृत्त है। भूल से इसे प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा नहीं मान लेना चाहिए क्योंकि शाह के पास अपने ढंग का मूल्य–विवेक है जो अज्ञेय और देवराज के संस्कृति–चिन्तन से समानता रखता है।

मार्क्सवादी–समीक्षा के प्रतिनिधि आलोचकों में आजदो नाम हैं – रमेश कुन्तल मेघ और नेमिचन्द्र जैन। आरम्भ में रमेश कुन्तल की जटिल शब्दावली में उलझाव रहा, किन्तु यह अब धीरे–धीरे–समाप्त हो गया है और उनमें एक नयी चमक पैदाहुई है। उनकी प्रतिनिधि आलोचनात्मक कृतियों में 'आधुनिकता–बोध और आधुनिकीकरण', 'मध्ययुगीन रस–दर्शन', 'अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा', 'क्योंकि समय एक शब्द है' और 'साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक'। संस्कृत–हिन्दी काव्यशास्त्र के सैद्धान्तिक–चिन्तन को डा0 मेघ ने मार्क्सवादी विचारधारा की धार से चमकाया है।

नेमिचन्द्र जैन ने वैचारिक दृढ़ता से नवीन कृतियों पर विचार किया है। उन्होंने 'अधूरे साक्षात्कार', 'रंगदर्शन', 'बदलते परिप्रेक्ष्य' तथा 'जनान्तिक' में कविता–कहानी–नाटक–उपन्यास–आलोचना सभी पर समग्रता से विचार किया है। उन्होंने सर्जनात्मक–राजनीति का उपयोग मुक्तिबोध में पाकर जहां प्रसन्नता जाहिर की है, वहां अज्ञेय के सृजन की आलोचना कड़े शब्दों में की। कहना न होगा कि समकालीन सर्जना के पूरे दौर को नेमिचन्द्र जैन ने अपने चिन्तन से समझा–समझाया है।

इधर हिन्दी में **शैली–वैज्ञानिक आलोचना** का तेजी से विकास–प्रसार हुआ। हालांकि यह आलोचना मूल्य–दृष्टि के अभाव में समुचित रूप से समाहत नहीं है। क्योंकि मूल्यांकन आलोचना का अनिवार्य कर्त्तव्य–कर्म है और इसके अभाव में वह ठौर–ठिकाने की नहीं रह जाती। वस्तुतः शैली विज्ञान भाषा विज्ञान की ही एक शाखा है जिसके माध्यम से

साहित्य की सृजनात्मक कृतियों का भाषावादी वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया जाता है। ठीक से देखा जाये तो शैलीविज्ञान की अधिकांश प्रविधियों का समावेश भारतीय काव्यशास्त्र में शुरू से ही रहा है। पर अपनी विशिष्ट भाषा वैज्ञानिकता के कारण शैलीविज्ञान इधर एक आलोचना की वैज्ञानिक प्रणाली के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है। कथा–साहित्य के लिए इसके सिद्धान्त अपर्याप्त पड़ जाते हैं। फिर काव्य–भाषा के विश्लेषण की प्रविधि–प्रक्रिया इतनी पेचीदा है कि हर कोई इसे नहीं सराह पाता। ऐसी स्थिति में यह थोड़े से विद्वानों की बौद्धिक जुगाली रह जाती है। हिन्दी में शैली विज्ञान पर सबसे अच्छा कार्य डा0 रवीन्द्र नाथ श्रीवास्तव ने किया है। उनकी दो पुस्तकें काफी चर्चित है – 'शैलीविज्ञान की भूमिका' तथा 'सुरचनात्मक शैलीविज्ञान'। शैलीविज्ञान को पं0 विद्यानिवास मिश्र ने 'रीतिविज्ञान' नाम दिया है। उनकी पुस्तक का ही नाम है – रीतिविज्ञान। डा0 नगेन्द्र ने 'शैलीविज्ञान', सुरेश कुमार ने 'शैलीविज्ञान', डा0 सत्यदेव चौधरी ने 'शैलीविज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र' नामक पुस्तकों में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है।

समसामयिक हिन्दी आलोचना का एक महत्वपूर्ण पहलू नाटक की समीक्षा के विकास से जुड़ा है। छठे दशक के अन्त में संगीत–नाटक अकादमी के अन्तर्गत नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा एण्ड एशियन थियेटर की स्थापना से रंगकर्मियों को नया क्षेत्र मिला। इब्राहिम अल्काजी के आने से हिन्दी रंगमंच को नया जीवन मिला और इन्हीं के प्रयासों से हिन्दी में एक नया रंगमंच–युग आरम्भ हुआ। रंगमंच की तकनीकों का विकास और अच्छे नाटककारों का उदय, नये अभिनेताओं का रंगमंच की और आकृष्ट होना जैसे महत्वपूर्ण कार्य चल पड़े। इसी स्थिति के बीच से मोहनराकेश जैसे कुशल रंगकर्मी और नाटककार का उदय हुआ।

सन् 1950 ई0 के बाद नाट्य–रचना की दृष्टि में मूलभूत परिवर्तन आ गया। अब इस बात की प्रबल प्रवृत्ति का जन्म हुआ कि नाटक रंगमंच के लिए ही लिखे जाने चाहिए एवं रंगमंच की प्रयोगधर्मी कसौटी से ही उन्हें परखा जाना चाहिए। परिणामतः अब नाट्य–रचना लोकनाट्य परम्पराओं, स्कूल–कॉलेजों के शौकिया मंचों से निकलकर हिन्दी के नये रंगमंच पर आ गयी। आज के समर्थ नाट्य समीक्षक नेमिचन्द्र जैन ने 'कृति' में 'पार्श्व और प्रेक्ष्य' शीर्षक स्तम्भ के अन्तर्गत नाट्य–समीक्षाएं करना शुरू किया था और बाद में 'नटरंग' जैसी नाट्य केन्द्रित समीक्षा का आरम्भ ही कर दिया। वे 'दिनमान' में अब नियमित नाट्य समीक्षा करते हैं। अतः हिन्दी नाट्य समीक्षा को विकसित करने वालों में नेमिचन्द्र जैन का नाम अग्रणी है।

उन्होंने 'रंगदर्शन' नामक पुस्तक में नाट्य समीक्षा का सैद्धान्तिक व्यावहारिक रूप स्पष्ट किया। साथ ही 'हिन्दी नाटक और रंगमंच' पुस्तक का सम्पादन दायित्व भी उठाया है। इधर 'जनान्तिक' में प्रकाशित उनके कुछ नाट्य लेख समसामयिक रंग–चेतना के सार्थक संकेत देते हैं।

डा0 लाल ने 'पारसी थियेटर' तथा 'नाटक और रंगमंच' नामक पुस्तकों से समालोचन की नयी भूमि तैयार कर दी। दिन–प्रतिदिन खेले जाने वाले नाटकों की नाट्य–समीक्षाएं नियमित ढंग से निकलने लगीं और हिन्दी की सभी प्रतिष्ठित लघु पत्र–पत्रिकाओं ने नाट्य–समीक्षा देना अपना गौरव समझा। जाहिर है कि अब हिन्दी समीक्षा ने नाटक के 'दृश्य काव्य' पक्ष को कलात्मकता से विकसित किया है और नाटक से रंगमंच का सही रिश्ता कायम हो गया है। भारतीय तथा विदेशी भाषाओं के सैकड़ों अनूदित नाटक हिन्दी रंगमंच पर सफलता से प्रस्तुत किए जाने लगे हैं। इस प्रकार नाट्य समीक्षा का हिन्दी में स्वतंत्र विकास हो रहा है।

समग्रतः में, समसामयिक हिन्दी–आलोचना का विकास तेजी से हो रहा है। नये और पुराने आलोचक इस क्षेत्र में बड़े उत्साह से सक्रिय दृष्टिगत हो रहे हैं। हालांकि बहुत से नये समीक्षक समसामयिक सृजन पर ही लेखनी उठाते हैं। अपने साहित्य की समृद्ध परम्परा का ज्ञान उनमें नहीं खनकता। इसलिए अपने पुराने साहित्य के पुनर्मूल्यांकन से वे बचते–से दृष्टिगत होते हैं। परम्परा की गहरी और सार्थक पकड़ की कमी ने इधर की समीक्षा को धक्का दिया है। फिर भी स्थिति बहुत निराशाजनक नहीं है। कुल मिलाकर देखा जाये तो आज हिन्दी–आलोचना सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टि से काफी समृद्ध है तथा नये चिनतन को आत्मसात करते हुए हिन्दी–समीक्षा प्रगति पथ पर निरन्तर अग्रसर है।

—000—